प्रकाशक
दिलीपकुमार
श्री पूर्वोदय प्रका
दरियागंज, दिल्ली

प्रथम संस्करण : १९५०
मूल्य : चार रुपये

मुद्रक
रामाधार
नया हिन्दुस्तान प्रेस
चाँदनी चौक, दिल्ली

प्रस्तावना

अपने इन कतिपय लेखों के संग्रह को मैंने 'पूर्वोदय' नाम दिया है। यही नाम पुस्तक के प्रकाशकों ने अपने लिए स्वीकार किया है। पूर्वोदय को चाहे तो एशिया का जागरण समझ लिया जाय। पर सही आशय वह नहीं है। एशिया के जागरण में ध्वनि राजनीतिक और ऐहिक है। पुस्तक का पूर्वोदय सर्वथा आत्मिक है। उसका आशय है उस जीवन-नीति और जीवन-मूल्यों का उदय जिनका निषेध पश्चिम के देशों की आधुनिक सशस्त्र उन्नति है। उन मूल्यों के उदय के साथ उस उन्नति की चमक खो जायगी और पूरब के लोग, जो पिछड़े समझे जाते हैं, उठते दिखाई देंगे। गांधी वही दृष्टि और वही क्रांति हमें दे गए हैं। उस क्रांति में पश्चिम का भी पतन नहीं है, केवल ठोकर खाकर उसके लिए आत्माविष्कार का अवसर है। दूसरे शब्दों में यह पूर्वोदय सर्वोदय का प्रथम चरण है। मानव-परिवार का बड़ा भाग पूरब में बसता है। मानव-व्यक्ति की अवज्ञा का विज्ञान कहीं फला-फूला हो, मानव-सम्मान की संस्कृति को इधर से उठना है। सन्देह को अवकाश नहीं कि व्यक्तित्व की सम्भावनाओं का सम्मान करने वाली नीति के हाथ ही मानव जाति का भविष्य हो सकता है। जो एक-पर-एक युद्ध उपजाती गई और मनुष्य को ईंधन मानकर उसमें झोंकती गई है—उस विकृति के चंगुल में अब अधिक काल मानव फँसा नहीं रह पायगा। वह प्रतिनिधि मानव अब इस घड़ी भी आंख खोल रहा और अपने प्रकृत स्वास्थ्य में लौट आना चाह रहा है। निश्चय ही इसके लिये वह पूरब की ओर देख रहा है।

७, दरियागंज
दिल्ली
२१-१०-५०

—जैनेन्द्रकुमार

प्रकाशकीय सूचना

श्री जैनेन्द्रकुमार के विचारों की मौलिकता, मार्मिकता और वेगशीलता के विषय में कुछ कहना हमारे लिए अनावश्यक है। इधर के उनके लेखों, भाषणों और प्रश्नोत्तरों के संकलन क्रमशः प्रकाशित करने की हमने योजना की है। सामग्री का निर्वाचन एवं वर्गीकरण सांस्कृतिक साहित्यिक, दार्शनिक और सामयिक, इस प्रकार चार खण्डों के अन्तर्गत किया जा रहा है। प्रश्नोत्तरों को अलग से छापा जायगा। यह 'पूर्वोदय' पुस्तक उस विचार-वीथि का प्रथम सांस्कृतिक संकलन है। शेष संग्रह भी प्रेस में दिये जा रहे हैं और वे जल्दी प्रकाश में आयेंगे।

—व्यवस्थापक

★

विषयानुक्रम

★

: १ :

सर्वोदय

: १ :

गांधी-नीति : सर्वोदय

गाँधी जी के जाने के सिलसिले में मेरा ध्यान नीचे लिखी बातों पर जाता है :—

(१) इधर उन्होंने मृत्यु को मित्र-रूप में याद किया था।

(२) प्रार्थना के समय अपने और अन्य के बीच किसी अधिकारी के अधिकार को आने की इजाजत नहीं दी थी। कहा था, वहाँ कोई चाहे तो मुझे खुले मार सकता है।

(३) कहा था, ईश्वर उठाना चाहेगा तब कोई इन्तजाम मुझे यहाँ रख नहीं सकेगा। और

(४) गोली लगने पर उनके मुँह से 'हे राम' निकला था, हाथ सबके प्रति प्रणाम में जुड़े थे, और जैसे किंचित मुस्कराहट से प्रयाण-वेला पर उन्होंने अपनी कृतार्थता व्यक्त की थी।

इन बातों से लगता है कि गांधी जी नहीं पसन्द करते कि लोग हत्या पर और हत्याकारी पर रुकें और राम के नाम को और उसके ध्यान को हत्या-जैसी तुच्छ घटना पर कुर्बान कर दें। सदा उन्होंने कहा कि ईश्वर की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। गांधी जी को मानना है तो हम यह भी मान लें कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा रही होगी।

गांधी जी के शब्दों को हम याद करें। उन्होंने कहा था, बुराई की हस्ती नहीं है। बुराई अपने आप में टिक नहीं सकती। टिकने को उसे सहारा चाहिये। वह हत्या निश्चय बुराई है। हत्यारे का नाम गोडसे कहते हैं।

उस गोडसे को जरूर कुछ सहारा था, नहीं तो वह काम उससे नहीं बनता। जरूर उसने माना कि वह कुछ बढ़िया काम कर रहा है, और उसे बड़ाई मिलेगी। उसे बहादुर समझा और कहा जायेगा। इस सहारे पर ही उस पाप को बढ़ने और चढ़ने की हिम्मत हुई। नहीं तो पाप कातर और स्वयं में मुर्दा होता है।

सवाल है कि क्या हम और आप उस गोडसे के काम के लिए सहारा रहे? यानी गाँधीजी के जाने पर जो तनिक भी चिन्तित और विह्वल हैं, उन्हें गोडसे नामधारी की तरफ नहीं, अपने दिल के अन्दर देखना है कि उसके काम को क्या उनका भी सहारा नहीं रहा? गोडसे हम-आप से अलग नहीं है। हम आप उसके इस काम से, या वैसे दूसरे कामों से अपने को अलग कर लेते हैं, अपना सहारा वहाँ से खींच लेते हैं, तो निश्चय है कि वैसे काम और उन कामों के करनेवाले नहीं रहनेवाले हैं।

सरकार धर-पकड़ कर रही है। भरोसा है, वह अपने भरसक करने में कसर न उठा रखेगी। पर बेचारी सरकार क्या चीज है? आगाखाँ ने सच तो लिखा कि गाँधी जी उस दिन, उस हालत, के लिए जीते थे जब सरकार रहेगी ही नहीं, इतनी फालतू वह चीज हो जायेगी। यानी सरकार बेचारी का बस थोड़ा है। वह तो बेजान मशीन है। पुलिस, अदालत और जेल से आगे उसकी पहुँच नहीं है। तभी तो गाँधी जी सरकार न थे, न कभी होनेवाले थे। यानी कांग्रेस और कांग्रेसी हकूमत राष्ट्रीय स्वयं-सेवक संघ को एक झपाटे में नाबूद करदे, तो भी चलने वाला नहीं है। वह तो सरकारी काम है, असल काम दूसरा है, और वह फिर भी बाकी रहता है।

एक मत या दल दूसरे दल को दबादे या मिटा दे, यह बन सकता है; लेकिन सिर्फ ऊपरी आँखों के लिए। ऊपरी ये आँखें सदा धोखा देती और धोखा खाती रही हैं। ऐसे हिंसा को हिंसा से काटने की कोशिश रुकी नहीं है। लेकिन उससे गाँठ भी नहीं कटी है, झमेला और उलझता ही गया है।

यह झमेला हिन्दुस्तान का ही एक खास मसला नहीं है। दुनिया में भी वही है। इससे गांधी का प्रयोग हिन्दुस्तान में, और उसके द्वारा, हुआ सही, पर वह सारी दुनिया के लिए था। असल में तो सत्य और अहिंसा का प्रयोग गांधी ने अपने प्रति निर्मम होकर और अपने को भगवान का बंदी बनाकर किया। जागते-सोते, उठते-बैठते, हर घड़ी अपना पहरा वह दिये रहे। जरा भी अपने को खिसकने नहीं दिया और उनके अन्दर और बाहर के शैतान को हर पल उनसे ललकार और चुनौती मिलती रही। भारत का राष्टपट उनके सत्य और अहिंसा के प्रयोग का माध्यम मात्र बना। गाँधी राष्ट्र या राष्ट्रीयता के नहीं थे, राष्ट्र और राष्ट्रीयता उनसे थी। वह तो राम के थे और राजनीति में भी 'राम-राज्य' के लिए ही उनका प्रयत्न रहा। राम-राज्य, यानी इस दल और उस दल का नहीं; इस मत या दूसरे मत का नहीं; यह तंत्र या वह तंत्र नहीं; बल्कि प्रेम का राज्य, सबका, पंचायत का राज्य। किसी राजा का नहीं, हर श्रमिक का राज्य। वह राम-राज्य जो जरूरत पड़ने पर बेहद केन्द्रित भी हो सके, और यों एकदम विकेन्द्रित हो।

ये प्रयोग संख्या और भूगोल की दृष्टि से कितने भी सीमित हों, हेतु में सीमित नहीं थे। यानी सारा संसार और आगामी सारा इतिहास अपने लिए उनमें सामग्री और प्रकाश खोजता और पाता रहेगा।

हमें, हममें से प्रत्येक को, अपने तईं शुद्ध होना है। दुष्ट साधु से अलग कब है? इसलिए जो जितना साधु होगा, वह उतना ही दुष्ट को और दुष्टता को अपने न्दर देखेगा। इसी अभ्यास का नाम है अहिंसा। यही है यज्ञ, यही क्रांति यानी निरंतर आत्मशोध, आत्मजागरण और आत्माहुति। कारण, दुष्टता यदि कहीं है, और दुष्ट कोई है, तो वह तभी है जबकि हमारा उसे सहारा है। चुप रहकर, डरकर, किनारा लेकर हम बुराई से बचते नहीं, उसे निमंत्रण देते हैं। इसलिये स्पष्ट और नम्र असहयोग या सत्याग्रह उद्धत बुराई को सहज में परास्त और धराशायी कर देता है। तब देखने में आता है कि जिसे बुरा माना वही अच्छा बन जाता है। इससे कुछ या कोई नहीं होता। विकृति ही विलीन होती है और ंर

सहज सम्भावनाएँ तब सब किसी में से खिलती और जीवन को परिपूर्ण बनाती हैं।

कौन कह सकता है कि दुनिया में कुछ भी या कोई भी एकदम व्यर्थ है? फिर भी एक-दूसरे को व्यर्थ करने की जो चेष्टाएँ दुनिया में चल रही हैं, और सम्भावि स्वर्ग को यथार्थ नरक बनाये हुए हैं, सो क्यों? निश्चय ही किसी अमुक को व्यर्थ करने की कोई नई चेष्टा अनेकानेक सदियों में से चले आते हुए मानव-विकास को आगे बढ़ानेवाली नहीं हो सकती। उस विकास की साधक नीति तो एक वही हो सकती है जो प्रत्येक को सफल हुआ देखना चाहती है; जो एक की सफलता दूसरे की विफलता में किसी तरह भी देखने को तैयार नहीं है। जो इस तरह सर्वोदय में योग देती है। उस नीति का नाम है 'गाँधी नीति'। उस नीति की व्याख्या, व्यवस्था, प्रयोग, उदाहरण और चित्र का नाम है 'गाँधी-जीवन' और उस चित्र के सार-भाव को समझने के लिए दो शब्द का सूत्र है, सत्य और अहिंसा।

गाँधी की महिमा तो रूप में अनन्त है। उसको देखे जाइये, गाये जाइये—भला कहीं उसकी थाह है, कहीं अन्त है? इसलिए इस विभूतिमय जीवन के ऐश्वर्य में नहीं जाना है। उसकी निपटता को ही जान और पहचान लेना है। वह है, हर क्षेत्र और हर समय की हर समस्या के लिए सत्य और अहिंसा में से सामाधान प्राप्त करने की प्रतिज्ञा और तत्परता।

कौन नहीं जानता कि दुनिया आज ज्वालामुखी के मुँह पर खड़ी है। क्या चिनगारी प्रलय भड़का उठेगी, कोई कह नहीं सकता। ऐसे में गाँधी ने उठ जाने की और ईश्वर ने उन्हें उठा लेने की जो ठहरायी, आस्तिक मानेंगे कि उसमें भी कुछ शुभ ही है। अगर सचमुच शुभ है, तो सिवा इसके वह क्या हो सकता है कि इस गहरे शोक के समय भारत, और उसके द्वारा जगत, उस नीति में श्रद्धा प्राप्त करे कि जिसकी ओर विधाता ने एक अथाह अभाव हमारे बीच पैदा करके हमारा ध्यान खींचा है।

★

: २ :

सर्वोदय की नीति

नये समाज के निर्माण की आज चाह है। इस चाह में यह तो आ ही जाता है कि वह समाज बेहतर होगा। नया हो, इतना भर काफी नहीं है। यों तो कभी पुराने से ऐसा जी ऊब जाता है कि कुछ भी नये पर वह ललच उठता है, फिर चाहे पहले से वह बदतर ही साबित हो। आंदोलनों में पड़नेवालों में ऐसे लोग हो सकते हैं, जिनके पास मौजूदा समाज से असन्तोष ज्यादा है, भावी समाज की कल्पना उतनी नहीं है। केवल असन्तोष की यह प्रेरणा विधायक नहीं होती। वह बनाती कम है, बिगाड़ती है अधिक। 'नया समाज' कहकर आज की हालत से असन्तोष तो हम जतलाते ही हैं; लेकिन उस असन्तोष के साथ आगामी समाज जो हम लाना चाहते हैं, उसका विचार भी होना जरूरी है। नहीं तो खाली असन्तोष में हम बने को ही गिरायेंगे, उसकी जगह कुछ नया बना नहीं पायेंगे। पुराना ढा देने से नहीं, अभी से नया निर्माण करने लगने से नया समाज बनेगा।

समाज पदार्थ की तरह की चीज नहीं है। वह बेजान नहीं, जानदार है। इसलिए पदार्थ को जिस गणित के विज्ञान के उसूलों से हम तोड़ते-जोड़ते हैं, वे ज्यों-के-त्यों समाज की रचना में काम नहीं देते। समाज की इकाई आदमी है और आदमी में मन है। इसलिए समाज की रचना का विज्ञान कुछ दूसरे तरीके का होगा। वह मानसिकता से जुड़ा होगा और उसकी नव-रचना बाहर के प्रहार से नहीं हो पायेगी। जैसे लकड़ी

को लोहे के औज़ारों से नाप-काटकर हम चीज़ तैयार करते हैं, वैसे समाज के मामले में हमारे पास लकड़ी अलग और उसको छीलने-काटने-वाले औजार अलग नहीं हैं। हम ही औजार हैं और हम ही वह हैं जिनको गढ़ा जाना है। इस तरह समाज का निर्माण आत्म-निर्माण हो जाता है। समाज से हम अलग नहीं और समाज हमसे अलग नहीं है। तब कोई भी उसूल, जो हमारा तो नहीं बल्कि समाज का लेखा-जोखा देते हैं, केवल उसका सुधार और निर्माण करते हैं, इष्ट परिणाम कैसे ला सकेंगे?

चुनाँचे काम करनेवालों में दो पाँतें देखने में आती हैं। एक, जो मानते हैं कि सारे साधनों और सारे आदमियों को 'स्टेट' के अधीन में पहले एकत्र कर लिया जाय, फिर सब में सम-व्यवस्था और समान वितरण सहज हो जायगा। बाधा बनने को तब कोई चीज बीच में नहीं रह जायगी। ऐसे लोग संगठन बनाते और राजनीति चलाते और उपजाते हैं। वे दलों की सृष्टि करते और उसी भाषा में उन्नति देखते हैं।

दूसरे, जो मानते हैं कि बात ऐसी नहीं है कि सुधारा जानेवाला एक हो और सुधारने वाला दूसरा हो। समस्या को यह रूप मिलता है कि बखेड़ा बढ़ जाता है। यानी एक विषम चक्र पैदा होता है जो कटता नहीं। समस्या चेतन की है, जड़ की नहीं। सो चेतना का संस्कार करना होगा। वह काम सदा अपने से शुरू हो सकता है। वह संगठना का नहीं, साधना का है। वह कल पर भी मौकूफ़ नहीं, इस घड़ी से ही शुरू हो जाता है। वे कहते हैं कि खुदी से हम न चलें, बल्कि सेवा की, यानी दूसरे में अपनी-सी, भावना रक्खें; काम वैसे ही और उसी भावना से करें; ज्यादा हथियाना और बटोरना न चाहें, जरूरी जितना ले लें और शक्य जितना उपजाते और बनाते चले जायँ। ऐसे एक चले, थोड़े चलें, अधिक चलें तो आपही-आप नया समाज उग चलेगा। उसमें विषमता न होगी; स्पर्धा की जगह वहाँ स्नेह होगा,

शोषण की जगह सहयोग लेगा और आदमी की शक्ति जो एक दूसरे को पीछे और नीचे रखने में लगती है, एक-दूसरे को बढ़ाने और उठाने में काम आयगी। तब हम देखेंगे कि आदमी की समस्याएँ खुद उन्नति करती जाती हैं। समस्याओं को मिटना तो नहीं है। तब तो ज़िन्दगी ही मिट जायगी और पुरुष का अर्थ पुरुषार्थ ही ख़त्म हो जायगा। नहीं, बल्कि समस्याओं का धरातल उठेगा और नोंन-तेल-लकड़ी की वे न रह जायँगी। वे सांस्कृतिक और नैतिक होंगी। तब आदमियों की होड़ आर्थिक न होकर पारमार्थिक होगी।

भारत की राजनीति को मौका नहीं है कि वह माने कि बिना नीति के राज-काज चल सकता है। नीति यानी धर्म-नीति, डिप्लोमेसी नहीं। नैतिकता को बाद देकर स्वयं विग्रह का राजकारण आगे नहीं बढ़ता। साथ ही गांधीजी से यह भी प्रत्यक्ष हो गया है कि अध्यात्म न सिर्फ संसार से विमुख नहीं है; बल्कि संसार के अभाव में वह अधूरा और पीला हो रहता है।

इस तरह यद्यपि ऊपर के दो, भौतिक और नैतिक, दृष्टिकोणों का अन्तर गहरा और मौलिक है, फिर भी विवाद की गुंजाइश नहीं रहती। जो चेतना को छोड़कर बाहरी परिस्थिति से जूझ रहे हैं, ऐसे सांसारिकों से अटके और हिलगे बिना सांस्कारिकों का काम चलते रहना चाहिए। चुनाव का और दलबंदी का काम उस प्रकार का ईमान और स्वभाव रखने वाले लोग क्यों न करें? ज्यादे-से-ज्यादा यही हो सकता है कि कुछ उसको रचनात्मक न मानें। तो ऐसे रचनात्मक विचार के लोग उस दलगत काम से अलग रहकर अपना काम किये जावें तो स्वयं उन दलों का सहयोग उनको मिल सकता है। बल्कि रचनात्मक काम एक ही साथ सब दलों को ताक़त पहुँचानेवाला है। वह तो ज़मीन है जिस पर हर बीज को पड़ना और वहां से रस लेना है, नहीं तो वह जड़ न पकड़ पायगा।

'रचनात्मक' शब्द इधर बहुत चलता है। जिसको जो करना होता

है, उसी को रचनात्मक कह कर वह पेश करता है। गांधीजी ने जो एक नई भाषा हमें दी, उससे कठिनाई भी कुछ बढ़ी है। व्यवहार नैतिक शब्दों के सहारे चलने लगा है। इस वजह से यहाँ तक कहा जाता है कि जहाँ अन्दर पाप हो, वहाँ मुँह पर धर्म पाओगे; जहाँ भीतर घात हो, वहाँ ऊपर मिठास होगी। यानी आदर्शवाद और नीतिवाद जहाँ है ढकोसला है, ऐसा प्रवाद हो गया है। यह कठिनाई बढ़ तो गई है। कारण, संशय और अविश्वास बढ़ गया है। फिर भी उसे पार करना है, इतने मात्रसे रच-नात्मक शब्द और काम से पिंड छुड़ाना नहीं लेना है। रचनात्मक वहजो—

(१) श्रम से पदार्थ की उत्पत्ति या निर्माण करे, और (२) आपस में सहयोग साधे और उसकी बाधा को हटाये।

दूसरी कोटि का काम भावना और प्रचार का है। जात-पाँत और रंग-रीत का भेद, ऊँच-नीच का विचार, अपने-अपने धर्म का अभिमान, ये और ऐसी बातें सहयोग के फैलाव में रुकावट होती हैं। इसी से ये फिर स्वार्थों के पोषण में सहायक होती हैं। इन्हें गिराना और जीतना होगा।

पर मूल रचनात्मक है वह जहाँ श्रम में से पदार्थ फलता है। इसके बिना भावना-प्रचार का काम भी बेजान रहता है, ठोस नहीं हो पाता। प्रेम का प्रचार किसने नहीं किया? साहित्य ने किया, धर्म ने किया, सब समझदारों ने किया। पर उस प्रेम के नीचे स्वार्थ भी मजे में पलता गया। जिस प्रेम में अपनी और अपने की कुरबानी हो, वह प्रेम तो विरलों के हाथ आया। अधिकतर वह भावना में समाकर और सूखकर रह गया, और व्यवहार को अछूता छोड़ गया। नतीजा यहाँ तक कि धर्म ही धर्म दीखने को शेष रहा। यानी, भावना को श्रम में उतारे बिना बात पूरी बनती नहीं। भावना तक बात व्यक्तिगत रहती है, कर्म में उतरकर ही वह सामाजिक रूप लेती है। भावना एकाकी है, कर्म सहयोगी। भक्त श्रमिक न हो तो हो सकता है कि उसकी भक्ति उत्कट दीखे, पर वह भव-बन्ध न काटे। वह असामाजिक भी हो सकती है; कारण, वह

अनुत्पादक ही रहती है। अब व्यक्ति पदार्थ को उपयोग में लाये बिना, और इस तरह उसे चुकाये बिना, तो रह नहीं सकता। वह खाता है और कुछ-न-कुछ रखता और पहनता है। तो पदार्थ उपजाने में भी उसका भाग होना चाहिए। श्रम से छूटकर भक्ति मानो इस कर्त्तव्य से भी छूट जाती है। तब वह नैतिक की जगह शायद कुछ भावुक भी हो जाती होगी। भावुकता अनजाने अपने नीचे एक विशेष प्रकार की निर्ममता की धरती बना या बचा छोड़ती है। यहाँ असामाजिकता की जड़ शेष रहती है और वह कटती नहीं, बल्कि अन्दर-ही-अन्दर फैलती रहती है। ऐसे व्यक्ति में और समाज में घोर द्वन्द्व पैदा हो जाता है। तपस्वी स्खलित होता है और भक्त मालदार बनता है।

इस प्रकार 'रचनात्मक' में मुख्य सार है यज्ञार्थ किया गया उत्पादक श्रम। उत्पादक का मतलब है वैज्ञानिक। केवल श्रम से नहीं चलेगा। न इतना काफी है कि वह श्रम कुछ तो भी उपजा दे। नहीं, उसमें वैज्ञानिक व्यवसाय-बुद्धि को भी लगाना होगा। तब वह सही मानों में रचनात्मक हो सकेगा।

शौक की तरह आध घण्टा चर्खा चला लिया और वह रोज़ भी चलाया, पर सूत का हिसाब नहीं रक्खा, आगे उसके बुनवाने आदि में लापरवाही की तो वह काम भावनात्मक तो हुआ, रचनात्मक पूरा नहीं हुआ। उससे मानसिक सन्तोष कुछ हमको अवश्य होगा; पर नये समाज की रचना की नींव नहीं पड़ेगी।

समाज आदमियों की बहुतायत का नाम नहीं है। उस बहुतायत से तो भीड़ होती है। समाज आपसी सम्बन्धों से बनता है। संख्या और भूगोल में सामाजिकता नहीं है। इसलिए आपसी सम्बन्धों में जितनी गहराई, ऊँचाई और घनता होगी, उनमें मर्यादा और व्यवस्था होगी, उतना ही समाज विकसित समझा जायगा। यों माता और पुत्र में अन्तर होता है, दोनों किसी लिहाज से बराबर नहीं हो सकते और नहीं

है, उसी को रचनात्मक कह कर वह पेश करता है। गांधीजी ने जो एक नई भाषा हमें दी, उससे कठिनाई भी कुछ बढ़ी है। व्यवहार नैतिक शब्दों के सहारे चलने लगा है। इस वजह से यहाँ तक कहा जाता है कि जहाँ अन्दर पाप हो, वहाँ मुँह पर धर्म पाओगे; जहाँ भीतर घात हो, वहाँ ऊपर मिठास होगी। यानी आदर्शवाद और नीतिवाद जहाँ है ढकोसला है, ऐसा प्रवाद हो गया है। यह कठिनाई बढ़ तो गई है। कारण, संशय और अविश्वास बढ़ गया है। फिर भी उसे पार करना है, इतने मात्रसे रचनात्मक शब्द और काम से पिंड छुड़ाना नहीं लेना है। रचनात्मक वह जो—

(१) श्रम से पदार्थ की उत्पत्ति या निर्माण करे, और (२) आपस में सहयोग साधे और उसकी बाधा को हटाये।

दूसरी कोटि का काम भावना और प्रचार का है। जात-पाँत और रंग-रीत का भेद, ऊँच-नीच का विचार, अपने-अपने धर्म का अभिमान, ये और ऐसी बातें सहयोग के फैलाव में रुकावट होती है। इसी से ये फिर स्वार्थों के पोषण में सहायक होती हैं। इन्हें गिराना और जीतना होगा।

पर मूल रचनात्मक है वह जहाँ श्रम में से पदार्थ फलता है। इसके बिना भावना-प्रचार का काम भी बेजान रहता है, ठोस नहीं हो पाता। प्रेम का प्रचार किसने नहीं किया ? साहित्य ने किया, धर्म ने किया, सब समझदारों ने किया। पर उस प्रेम के नीचे स्वार्थ भी मजे में पलता गया। जिस प्रेम में अपनी और अपने की कुरबानी हो, वह प्रेम तो विरलों के हाथ आया। अधिकतर वह भावना में समाकर और सूखकर रह गया, और व्यवहार को अछूता छोड़ गया। नतीजा यहाँ तक कि धनी ही धर्मी दीखने को शेष रहा। यानी, भावना को श्रम में उतारे बिना बात पूरी बनती नहीं। भावना तक बात व्यक्तिगत रहती है, कर्म में उतरकर ही वह सामाजिक रूप लेती है। भावना एकाकी है, कर्म सहयोगी। भक्त श्रमिक न हो तो हो सकता है कि उसकी भक्ति उत्कट दीखे, पर वह भव-बन्ध न काटे। वह असामाजिक भी हो सकती है; कारण, वह

अनुत्पादक ही रहती है। अब व्यक्ति पदार्थ को उपयोग में लाये बिना, और इस तरह उसे चुकाये बिना, तो रह नहीं सकता। वह खाता है और कुछ-न-कुछ रखता और पहनता है। तो पदार्थ उपजाने में भी उसका भाग होना चाहिए। श्रम से छूटकर भक्ति मानो इस कर्त्तव्य से भी छूट जाती है। तब वह नैतिक की जगह शायद कुछ भावुक भी हो जाती होगी। भावुकता अनजाने अपने नीचे एक विशेष प्रकार की निर्ममता की धरती बना या बचा छोड़ती है। यहाँ असामाजिकता की जड़ शेष रहती है और वह कटती नहीं, बल्कि अन्दर-ही-अन्दर फैलती रहती है। ऐसे व्यक्ति में और समाज में घोर द्वन्द्व पैदा हो जाता है। तपस्वी स्खलित होता है और भक्त मालदार बनता है।

इस प्रकार 'रचनात्मक' में मुख्य सार है यज्ञार्थ किया गया उत्पादक श्रम। उत्पादक का मतलब है वैज्ञानिक। केवल श्रम से नहीं चलेगा। न इतना काफी है कि वह श्रम कुछ तो भी उपजा दे। नहीं, उसमें वैज्ञानिक व्यवसाय-बुद्धि को भी लगाना होगा। तब वह सही मानों में रचनात्मक हो सकेगा।

शौक की तरह आध घण्टा चर्खा चला लिया और वह रोज़ भी चलाया, पर सूत का हिसाब नहीं रक्खा, आगे उसके बुनवाने आदि में लापरवाही की तो वह काम भावनात्मक तो हुआ, रचनात्मक पूरा नहीं हुआ। उससे मानसिक सन्तोष कुछ हमको अवश्य होगा; पर नये समाज की रचना की नींव नहीं पड़ेगी।

समाज आदमियों की बहुतायत का नाम नहीं है। उस बहुतायत से तो भीड़ होती है। समाज आपसी सम्बन्धों से बनता है। संख्या और भूगोल में सामाजिकता नहीं है। इसलिए आपसी सम्बन्धों में जितनी गहराई, ऊँचाई और घनता होगी, उनमें मर्यादा और व्यवस्था होगी, उतना ही समाज विकसित समझा जायगा। यों माता और पुत्र में अन्तर होता है, दोनों किसी लिहाज से बराबर नहीं हो सकते और नहीं

किये जा सकते। आंकिक बुद्धि चाह सकती है कि दोनों अपने अधिकार में बराबर हों; पर माता तब तक तृप्त नहीं हो सकती जबतक पुत्र को उससे अधिक न मिले, न पुत्र तब तक शान्ति पा सकता है, जब तक किमाँ से माँगने और पाने का, अर्थात् छोटे बनने का, अधिकार उसके पास सुरक्षित न हो। परिवार की शक्ति इसमें नहीं है कि सब में समानता हो। वह तो इसमें है कि उनमें सहज स्नेह हो।

परिवार की यह उपमा भावुकता की लग सकती है। पर इसी को वैज्ञानिक समझकर न चला जायगा तो हो सकता है कि हमारी सब कोशिशें एक नयापन तो हमें दे दें, पर ऐसा फलित न दीखे कि वह समाज पहले से बेहतर है। बेहतर वह समाज हो ही नहीं सकता जहाँ पर हरेक की आँख अपने और इसलिए दूसरे के धन पर है। ऐसे समाज में तो विकार सुलगे ही रहेंगे। ऊपर क़ानून के जोर से कितनी भी शान्ति और सुरक्षा हो, भीतर तो लपलपाती जीभें होंगी, जो सदा ही खतरा रहेंगी।

समाज में जो असामाजिक और विकारी तत्त्व हैं उनको जड़-मूल से नष्ट कर दिया जाय तो शेष में आसानी के साथ सुव्यवस्था लाई जा सकेगी—प्रचलित मतवाद कुछ इसी लकीर पर सोचते हैं। उनके दल फिर उसी नीति पर चलते भी हैं। फासिस्ट मानवता का दुश्मन है, एक हाथ से उसका सफाया किया कि बाधा ही सब मिट जायगी। इसी तरह इम्पीरियलिस्ट, कम्यूनिस्ट, केपीटलिस्ट आदि आदि शब्द ऊंचे उठाकर एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति और राज्यनीति चल रही है जो सारे इतिहास में चलती आई है। वह इस तरह अपनी प्रभुता साधने के लिए शत्रुता उभारती और शान्ति के नाम पर युद्ध मचवाती है। इसको विज्ञान की भाषा ने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद विशेषण दिया है, जो बहुत उपयुक्त है। उस वृत्ति के लिए वही यथार्थ तत्त्व-दर्शन है और विग्रह ही मार्ग है। अमुक की पराजय की भाषा में वह अपनी (जिसको वह मानवता की कहती है) विजय मानती है।

व्यावहारिक, सांसारिक, आंकिक और बौद्धिक-वैज्ञानिक नीति इसके पार जा भी नहीं सकती। प्रत्यक्ष द्वैत उसका चरम सत्य है और अद्वैत यदि उसके लिए है तो केवल माया के रूप में है।

किन्तु एक दूसरी भी नीति है। उसको कहें 'सर्वोदय'। यानी एक के उदय के लिए दूसरे का अस्त चाहना भूल है। सर्वोदय अध्यात्म की नीति के तौर पर तो मान्य रहे, कर्म की नीति के तौर पर वह असफल हो जायगा—ऐसा अनेक कर्मियों का आग्रह है। फिर भी कुछ की निष्ठा है कि कर्म की भी सच्ची नीति वही है। वे उस सब कर्म का इन्कार करने को तैयार हैं, जो सर्वोदय के काँटे पर सही नहीं तुलता। उनका मानना है कि ऐसा कर्म प्रपंच रचता है, बन्धन बढ़ाता है, आजादी नहीं लाता।

गाँधीजी के बाद अभी जमाव हुआ था, जहाँ कुछ लोगों ने घोषणा की कि वे कर्मी हैं, कर्म में रहेंगे; लेकिन उस समस्त कर्म में और उसके जरिये उन्हें सर्वोदय को ही साबित करना और साधना है। सर्वोदय-समाज के इस ऐलान में वे सब लोग शामिल थे जो गाँधीजी के चलाए चौदह सूत्रवाले रचनात्मक कार्यक्रम में लगे रहे हैं। उनका मानना है कि वह काम हिन्द में होता रहा है सही, लेकिन उसमें तो दुनिया के सवाल का भी हल है और दुनिया उसको मानकर और उस पर चलकर ही लड़ाई से छुटकारा पा सकती और शान्ति और उन्नति के लिए खुल सकती है।

स्पर्द्धा पर चलनेवाले समाज में सर्वोदय की और अहिंसा की नीति से राज कैसे चलेगा और समाज कैसे बनेगा या बदलेगा, यह संकल्प से जिसे समझ नहीं आता, उसे समझाना संभव नहीं है। तर्क से श्रद्धा आ भी कैसे सकती है? वह बुद्धि की नहीं, हृदय की चीज है। अल्लाह भी एक है और ईश्वर भी दूसरा नहीं है। फिर भी मतवादी बुद्धि दोनों में एक को नहीं देखती, उनमें भेद देख चलती है और अनबन ठान बैठती है। इसलिए वह जो भाव पर टिककर नाम और नारों के पीछे नहीं चलता,

जो सीधा जानता और सीधा देखता ह, ऐसा हृदय ही उसको पा सकता और धार सकता है ।

गाँधीजी के बाद यह अब खयाली चीज नहीं रह गई ह कि अहिंसा से राजकाज और कामकाज भी चल सकता है । हिन्दुस्तान की आजादी खुद सबूत है कि अहिंसा में बड़ी ताकत है, जो आत्मिक होने की वजह से भौतिक तोर पर कम नही, ज्यादा ही कारगर है ।

वह दर्शन, जो विग्रह की भाषा से सचाई को खोलता और लेता है, झमेले को निबटा पाया है, ऐसा कहीं दीखता नहीं है । बल्कि उसे जब मौका मिला तो लड़ाइयाँ ही उससे पैदा हुई है ।

दूसरा आस्तिक दर्शन है । वह अद्वैत में निष्ठा रखता है और उससे कभी डिगने को तैयार नहीं । उसका सत्य अहिंसा है: यानी, यज्ञ, कुरबानी, क्रॉस ।

पहले में से मारना निकलता है । मारने के अन्दर खुद मरने से बचने की चाह छिपी रहती है । दूसरा मारे बिना मरने की राह चलता है । यह दुनिया को कुछ उन आँखों से देखता है जहाँ दूसरे का फलना-फूलना अपना ही मालूम होता है और अच्छा लगता है । दूसरे की तकलीफ अपनी मालूम होती है और तकलीफ देती है । यह दर्शन दिखाता है कि बालक को पालकर माँ छीजती जाती है और बूढ़ी होती जाती है सही; लेकिन बालक के बढ़ने के साथ उसकी खुशी भी बढ़ती जाती है । वह मरती है तो यह भी देखती है कि बालक में वही जी रही है । यह प्रेम की राह है और दुनिया देखे या न देखे, यह प्रेम ही इस दुनिया को जिलाये रख रहा है । यों बेटों-बेटों में या माँ-बेटों में भी क्या कलह नहीं होती ? वह कलह होती ही तब है,जब दोनों के पैरों तले मुहब्बत की जमीन है जिसे वही टुक भूल गये होते हैं ।

मुश्किल यह है, और यह बहुत बड़ा खतरा भी है, कि प्रेम जब हृदय की और भावना की सचाई है, तब कर्मेन्द्रियाँ अहंकार-जन्य बुद्धि से अनुमति लेकर चल पड़ती हैं । कर्म ऐसे धर्म से छूट जाता है ।

इसलिए सारे रचनात्मक कार्य को बराबर कसते रहना ज़रूरी है कि वह अहिंसा की कसौटी पर सही तो उतर रहा है न। बड़ा फल देनेवाला काम भी जड़ में गलत हो तो फेंक देने लायक है। चर्खा असली अहिंसा है। अहिंसा ही चर्खे में अमल न पा रही हो तो क्या वह सिर्फ लकड़ी ही नहीं रह जाता जो चूल्हे के काम की है ?

देश अभी बँट कर चुका है। हिन्दुस्तान वह रह गया है जो पाकिस्तान से अलग है। गाँधीजी के नीचे हम क्या सपना लेते आये, क्या क्या सीखते और करते आये थे ? क्या हम न सोचते थे कि हिन्दुस्तान में सब कौमें एक होंगी और दुनिया के एके की ही उससे, यानी हमसे, शुरूआत होगी ? पर मुल्की और कौमी एकता तो नहीं हुई, ऊपर से बँटवारा आ गया। लेकिन सचमुच क्या दिल भी बँट गया है? तब तो गाँधी सचमुच ही मर गया और यह झूठ है कि वह अमर है। लेकिन अमर अगर एकता ही नहीं है, एकता की बानी और एकता के काम ही अमर नहीं हैं, तो अमर फिर इस संसार में है क्या ?

गाँधीजी कहते रहे कि हकूमतें दो बनी हैं सही; हिन्दुस्तान का दिल एक है। वह दो नहीं हो सकता। कारण, हिन्दुस्तान का दिल वहाँ है, जहाँ इन्सानियत का दिल है। हमेशा से यहाँ अनेक धर्म, जाति और रंग के लोग आते रहे हैं और एक-दूसरे को पहचाना और जानना सीखते रहे हैं। गैर मानकर आये, पर अपने बनकर रह गये हैं। आखिर आपस की दुश्मनी और गैरियत कभी तो मिटनी है, नहीं तो दुनिया को वीरान और खतम हो रहना है। सब भेद रहते हुए यह हिलमिल कर एक बन जाने की कला का उदय भारत में होता आया है। मनुष्य-जाति के निमित्त जैसे भारत अपने समूचे इतिहास में से इसी प्रयोग को साधता आया है। भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, अगर कुछ है तो वह इसी महाप्रयोग का परिपाक फल है। मानो यह भूमि जगत के लिए प्रयोगशाला थी, जहाँ से समन्वय के सूत्र को फलित होना

था। ताकि जब मानवता घोर आवश्यकता में हो तब भारत उस परीक्षित प्रयोग को पूरे वैज्ञानिक और सचित्र रूप में दुनिया को देकर सार्थक हो सके।

सर्वोदय नीति की तरफ़ सबकी आशा की निगाहें हैं। उन आशाओं को उठाने और पूरा करने के लिये विश्वासियों को अपने कंधे तैयार कर लेने हैं।

★

: ३ :

सर्वोदय: वर्तमान और भविष्य

प्रश्न—राऊ के सर्वोदय-समाज-सम्मेलन के बारे में आपकी क्या राय है ?

उत्तर—मैं उसे सफल हुआ समझता हूँ। प्रस्ताव एक आया और विनोबा के सुझाव पर प्रस्तावक ने सद्भावना के साथ उसे वापस खींच लिया। यह सफलता का ही प्रमाण है।

प्रश्न—आपका निर्देश शायद श्री गुलजारीलाल नंदा के प्रस्ताव की ओर है। उसके बारे में आपको क्या कहना है ?

उत्तर—प्रस्ताव अपने में क्या बुरा था, पर बात की गहराई तक शायद वह नहीं जाता था। भूमिका में एकाध वाक्य सरकार के लिए आलोचनात्मक थे जो गैरजरूरी माने जा सकते थे। काला-बाजार की बुराई पर उसमें जोर था। जिसे उजला माना जाय, उस बाजार में और कालेबाजार में विभाजक-रेखा सरकारी कानून की ही है न ? नैतिक कानून से देखें तो खुला बाजार भी कोई खास उजला नहीं रहता। वह भी खासा काला समझा जा सकता है। असल में आज की अर्थनीति ही औंधी है। वह नफे के लिहाज से चलती है और सरकार खुद एक व्यापारिक संस्था बन जाती है। सर्वोदय माननेवाले कालेबाजार की बात कहकर उजले बाजार को अछूता छोड़े और उसको एक तरह अपनी सही

मुहर दे दें, इसे मैं तो अपनी तरफ से ठीक नहीं मानूँगा। हुकूमत का काम शायद अपने कानून की रक्षा पर रुक जाता है। सेवक का काम उससे आगे जाता है। तीन हजार या अधिक तनख्वाह पानेवाले की पीठ ठोक कर, वाजिब से ज्यादा दाम देकर घासलेट की बत्ती घर में जलाकर काम करनेवाले दीन को लताड़ने में कानून की सेवा हो जाती हो, इन्सान की तो सेवा विशेष नहीं होती। इस दृष्टि से प्रस्ताव कुछ गहरा जाता था, ऐसा मेरे मन को आश्वासन नहीं है। इससे मेरे मन में उसका समर्थन भी न था। यों अपने में प्रस्ताव निर्दोष था। लेकिन अन्त में तो वह वापस खिंच ही गया। इसलिए उसकी चर्चा क्या? ध्यान में यह रखना है कि कर्म की दृष्टि एक है, धर्म की दृष्टि कुछ दूसरी है। सर्वोदय-समाज में दोनों तरह के लोग हैं। विनोबा की दृष्टि कार्मिक से अधिक धार्मिक है और यह सर्वोदय-समाज के भविष्य के लिए अच्छा ही है।

प्रश्न—उक्त प्रस्ताव से सम्मेलन में काफी गर्मी पैदा हो गई थी। उसे वापस लेने पर सबको लगा कि सम्मेलन ने कोई विधायक कार्यक्रम उन्हें नहीं दिया। है न?

उत्तर—हाँ, लगा तो। आखिर लगभग दो दिन जिस बात को बीच में लेकर बीते, उसको कुछ मूर्त करनेवाला प्रस्ताव ही बीच से खिंच गया, तो लोगों को अवश्य लगा होगा कि जैसे वे अधर में रह गए। बात वह दुखती रग की थी, जैसे उस रग को खुला और दुखता ही छोड़ दिया गया। कोई-कोई यह भाव लेकर गये हों कि यहाँ बातें बड़ी हैं, लेकिन काम सिफर है, तो मुझे बहुत विस्मय न होगा। जानता हूँ कि वस्तुस्थिति यह नहीं है। प्रस्ताव पास न करने की दृष्टि के पीछे जबरदस्त वेग पड़ा हुआ है। भीतर का वह वेग (डाइनेमिज्म) ऊपर उभरा नहीं दीख पड़ा, इससे हम भ्रम में न पड़ें। असल में सर्वोदय का काम सबको अपनी-अपनी आत्मा, इस तरह सर्वात्मा, की तरफ अभिमुख कर देना है। किसी अमुक प्रस्ताव की तरफ सबको खींचने की कोशिश से वह नहीं होगा। इस

आत्मालोचन की तीव्रता में से प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो आनेवाली है। आत्मशोध की यह प्रक्रिया ऊपर से गूँगी हो, वाचा में से जब उसके फूटने का समय आयगा और कर्म में जब वह जगेगी, तब जान पड़ेगा कि वह अमोघ है। फिर भी अधिवेशन के व्यवस्थापकों की कर्म-कुशलता की त्रुटि ही मैं मानता हूँ कि लोगों को एक अनिश्चय के भाव में विदा होने दिया गया। उसी संध्या-प्रार्थना के समय विनोबा ने जो प्रवचन किया वही यदि अधिवेशन में हुआ होता, तो लोग अभाव नहीं, एक बिजली लेकर जाते। शून्यता की जगह आगे के लिए उत्साह और स्फूर्ति उनमें भर गई होती। पर हम मानें कि सेवक उतना शब्द की अपेक्षा में नहीं है, वह आत्मोन्मुख है और बाहर के अभाव को अपनी श्रद्धा से भर देने के लिए कटिबद्ध है।

प्रश्न—आत्मशोध की आपकी बात सही है, पर अधिकांश लोग ऐसा कार्यक्रम चाहते हैं जिसको वे करें और जिसका परिणाम आँखों से दीखे। सर्वोदय-समाज के सेवकों को क्या आप ऐसी कोई चीज सुझायेंगे?

उत्तर—आँखों से दीखने के लालच को बढ़ावा देना अच्छा नहीं है। कर्म की कमी कहाँ है? अनेक सूत्री कार्यक्रम तो समाज की रचना के प्रस्ताव में ही पड़ा है। प्रश्न कर्म के अभाव या चुनाव का नहीं है। प्रश्न है कि उस हाथ के काम का और हृदय की श्रद्धा का सूत एक है न? काम में से यह श्रद्धा प्रकट होती है तब काम बहुत छोटा होकर भी बहुत फल देने वाला है। अन्यथा वह मात्र जड़ता का सूचक हो सकता है। काम में से अहिंसा नहीं निकलती है, अहिंसा में से काम निकालना चाहिये। यानी प्रार्थना ही बाहर रूप लेकर कर्म बने तब वह कर्म अकर्म होता और बन्धन काटता है। वह दृष्टि जो काम पर अटकती है, परिमाण की भाषा में सोचने लग जा सकती है। यही राजनैतिक दृष्टि है। यह आंकिक दृष्टि है और व्यक्ति की गणना इसमें अंक में होती है। इसमें फल की तरफ निगाह है। यह दृष्टि मिल और कारखाने खड़ी करती है जिनमें आदमी

सिर्फ हाथ हो जाता है। यानी वह आत्मा या विवेक नहीं रहता। लेबर की भाषा में इतने आदमी का मतलब है—'सो मेनी हैंड्स।' आदमी की संख्या × काम करने के घंटे = फल का परिमाण। यह उसका दर्शन-सूत्र है। यह फार्मूला हम जानते हैं, गलत है। आदमी सचेतन है और या तो वह अपना समझकर मन से काम करता है या पराया समझकर खाली मजदूरी के खातिर बेमन से काम करता है। हम जानते हैं कि दोनों हालतों में फल एकसा नहीं आ सकता। ऊपर परिमाण में एकसा दीखे भी, पर एक में अहिंसा है, दूसरे में हिंसा है। सामाजिक दृष्टि से एक धर्म है, दूसरा पाप। एक से प्रसन्नता का और सामाजिकता का विस्तार होगा, दूसरे से विकार और वैर फैलेगा। इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि काम यह हो कि वह हो, प्रश्न तो मुख्य यह है कि उसमें वृत्ति स्वेच्छित सेवा की हो। मूल में यह वृत्ति अनिवार्य मानकर चलने से बड़े नफे के लिए किये गये भारी आयोजन हमें अनिष्ट ठहरते हैं। वहीं से विकेन्द्रित अर्थनीति अर्थात् व्यक्ति-केन्द्रित श्रम-नीति का सिद्धान्त प्राप्त होता है। इसी से आप पायेंगे कि सर्वोदय-समाज का वजन वहाँ नहीं है जहाँ पर कि वजन रखने और देने के हम आदी बनते आये हैं। राजनैतिक कर्म की धूमधाम में हमारी दृष्टि बहुमुखी जो हो गई, उसका अनिष्ट चारों तरफ देखने में आता है। सर्वोदय-समाज को उस अनिष्ट से लड़ना है। इससे बृहत् कर्म की भाषा में उसे सोचना भी क्यों चाहिए?

प्रश्न—सर्वोदय-नीति पर बोलते हुए आपने अपने भाषण में कहा था कि रचनात्मक कार्य करनेवाले अनुभवी लोगों को सरकार में जाना चाहिए और अपने अनुभव का लाभ शासन को देना चाहिए। इससे आपका क्या तात्पर्य है और इसके लिए आपके निश्चयात्मक सुझाव क्या हैं?

उत्तर—हाँ, राजा और प्रजा के बीच इस वक्त भारी नासमझी है। आपसी खाई बढ़ रही है और वहाँ दुर्भाव पैदा होता जा रहा है। राजा

इस समय कौन है और प्रजा-सेवक कौन ? दोनों ही अपने को गांधी-भक्त मानते हैं। यानी एक ही गांधी-कुटुम्ब के वे आदमी हैं। तब दोनों में अनबन और दुर्भावना कैसी ? यह स्थिति बहुत चिंतनीय है। लेकिन अकारण भी इसे नहीं कह सकते। गाँधी की टेक थी—अहिंसा। जिसने उन्हें गोली से मारा, क्या उसके प्रति भी उनके हाथ नहीं जुड़े ? और उस समय उनके मुँह से निकला—'हे राम'। उन गाँधी को पिता माननेवाले राष्ट्र की हुकूमत का फौजी खर्च घट नहीं रहा है, बढ़ रहा है। ऐसी हालत में प्रजा-सेवक क्षुब्ध हों तो उसे भी क्या कहा जाय ? पर क्या सेवक यह मानेंगे कि राजा और प्रजा के बीच तो अहिंसा नहीं हिंसा चाहिए ? दूसरी हिंसाओं को तो लोग अनुचित मानने लगे हैं। जैसे हिन्दू-मुसलमान के बीच, अन्त्यज और कुलीन के बीच, श्रमिक और धनिक के बीच विरोध और हिंसा अनिवार्य और इष्ट नहीं है, ऐसा लोगों को दीखने लगा है। लेकिन राजा के प्रति प्रजा में वैर और विद्रोह जगाया जाय तो जैसे वह अभी भी उचित मालूम होता है। यह हिंसा मानो हिंसा ही न हो, ऐसा कुछ वातावरण बना हुआ है। अर्थ-तर्क पर सहारा रखनेवाला जो पश्चिम का राजनैतिक विचार हमारे बीच आया तो इसने कुछ ऐसी हवा पैदा कर दी कि जैसे विद्रोह सनातन और परम धर्म है। उसी परिपाटी में हमारा पिछला जीवन चला है और चल रहा है। मेरा मानना है कि सर्वोदय-भावना के लिए इस जगह सब से भारी चुनौती है। कुछ मित्रगण जैसे सरकार के प्रति सहानुभूति की कोई जगह रहने देना जरूरी नहीं मानते। गाँधी-परिवार में इस तरह का मनमुटाव अच्छा नहीं है। गाँधी-नीति क्या जीवन की समग्र-नीति नहीं है ? उसमें आदर्श भी है और व्यवहार भी। दोनों वहाँ एकमएक हैं। व्यवहार से अलग आदर्श की चिंतना वहाँ नहीं है और आदर्श में जितना हल हो, उससे ज्यादा व्यवहार का रखना जैसे वहाँ परिग्रह का रखना हो आता है। उस गाँधी-नीति को दुनिया कैसे मानेगी अगर उसके वारिस,राज-क्षेत्र और प्रजा-क्षेत्र में काम करनेवाले हम लोग, समग्र भाव से नहीं चलकर दिखा सकेंगे ? यानी, जब

शासन को शासन के रूप में भी अहिंसा की तरफ, चाहे फिर कितनी ही धीमी गति से हो, नहीं बढ़ाते ले जा सकेंगे ? सर्वोदय-समाज के सामने इस समय इससे बड़ा सवाल दूसरा है, ऐसा मैं नहीं मानता। तब क्या हो ? इस बारे में मैंने माना है कि मेरी मर्यादा सीमित है। मैं तो समाज का सेवक भी नहीं बना हूँ। अपनी तरफ देखता हूँ तो मन हार जाता है और सदस्य बनने की हिम्मत नहीं होती है। अपने मन की चिन्ता सेवकों के सामने रख देने से आगे मुझे क्या करना चाहिए, सूझ नहीं पड़ता। राऊ में उतना ही मैं कर सका था। आगे विनोबा जानें और राजेन्द्रबाबू जानें।

सरकारी नौकर इधर युद्ध-पूर्व से पचगुने हो गये हैं। ऐसे हम क्या टोटेलीटेरियनिज्म की ओर जा रहे हैं ? नहीं जा रहे हैं, सो तसल्ली मन को नहीं मिलती। मेरे मन तो कसौटी वही सनातन सिद्धान्त है कि 'हकूमत वह उतनी ही अच्छी जितनी कम हकूमत हो।' पर हुकूमत के पास अपना तर्क है, क्योंकि उसकी अपनी खास कठिनाइयाँ और खास जिम्मेदारियाँ हैं। इस बीच घूसखोरी और भ्रष्टाचार की उसको शिकायत है और सबको शिकायत है। खाद्य के और कपड़े के और रोजमर्रा के काम की दूसरी चीजों के भाव कोई खास कम नहीं हो रहे हैं। देहात के आदमी की मुसीबत वही जानता है। उसके और खाने के बीच जाने कितनी ड्योढ़ियाँ हैं। इस हालत में कुछ नहीं किया जा सका, शासित को असहाय और शासक को स्वच्छन्द ही अनुभव करने दिया गया तो दोनों के बीच का बैर और बिचौली खाई में जीनेवालों का भोगाचार बढ़ने ही वाला है। राज्य के शीर्ष पर हैं गांधी के लोग और प्रजा के पद-तल में भी हैं कुछ गाँधी के ही जन। उन दोनों के ऊपर दायित्व जाता है कि शासक और शासित और राजा और प्रजा के बीच सामंजस्य बना रहे और जो थोड़ा-बहुत स्थानिक भेद बीच में रहे भी तो उसमें सुवास और सद्भाव उपजे। यह नहीं हुआ तो भेद हमको खा जायगा। भेद यानी विग्रह और युद्ध का

दर्शन। कम्युनिज्म और क्या है? अर्थ की भाषा में वह स्टेट केपिटलिज्म (पूँजीवाद) है। नीति की भाषा में वह वैज्ञानिक हिंसावाद है। हम निश्चित और सक्रिय अहिंसा से, और उसकी तरफ, नहीं बढ़ सकेंगे तो हिंसा को हमारे बीच फलते और फूलते ही जाना है। दमन और इन्फ्लेशन (नोटों के फैलाव) से न कुछ दबता है, न बनता है। इनके सहारे चलकर सरकार नाश की तरफ बढ़ती है। मन की यही सब दुश्चिन्ता थी जिसको लेकर मुझसे राऊ में बोलने की धृष्टता बन पड़ी। इधर विनोबा और राजेन्द्रबाबू और उधर नेहरू और सरदार, इन चारों को मिलकर कोई तरकीब निकालनी होगी। दुनिया की आँखों में हिन्दुस्तान को कुल मिलाकर एक तरफ चलना होगा। वह तरफ अहिंसा की होगी तभी दुनिया अपने अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गांधी की अहिंसा को मानेगी। यह हिन्दुस्तान के हाथ में है कि गांधी को या तो दुनिया के लिए निरे सिद्धान्त का आदमी बना दे या उसे सच्चे लोकनायक और लोकत्राता का रूप मिलने दे। मेरा सचमुच मानना है कि इस संकट के अवसर पर हमारा अकिंचन मूक लोकसेवक गांधी के नाम पर चलनेवाली सरकार की सहायता को नहीं आया, या सरकार उस सहायता से लाभ नहीं उठा पाई तो दोनों डूबेंगे। अहिंसा का नाम भी डूबेगा, उसका काम भी डूब जायगा। रचनात्मक और पार्लामेंटेरियन या एडमिनिस्ट्रेटिव काम में भेद हो, लेकिन संकट के समय उनमें हमें अभेद भी देख लेने की हिम्मत करनी होगी। सरकारी अमला वही है, जो था। वह अफसरी भावना में पला-पुसा है। काम सेवकाई की भावना से ही सधनेवाला है। उस अमले का दिल एक दिन में कैसे बदल जायगा? ऐसी हालत में प्रजा के प्रतिनिधि होकर जो अमलदारों के शास्ता बने हैं, उन्हें अपने उदाहरण से सच्ची सेवकाई दरसाना और सिखाना होगा। इसी से राऊ में मुझे कहना हुआ था कि रचनात्मक कार्य में तपे हुए सेवकों को लाना और इस नये काम में परखना होगा। निश्चय ही वह विचार सबके सामने है और विनोबा और नेहरू के हाथ उसे अमल देने का काम पड़ा हुआ है।

प्रश्न—सर्वोदय की कल्पना में तो विश्व-बंधुत्व निहित है, तब राष्ट्रों की राष्ट्रीयता को उसमें क्या स्थान होगा ?

उत्तर—विश्व-बंधुत्व मनोरम शब्द है। वह सुनते तो सदा से हैं। लेकिन जैसे व्यवहार की धरती का न हो, कुछ आसमानी हवा का ही वह हो। इस तरह के विश्व-बंधुत्व से सर्वोदय का काम नहीं चलेगा। उसमें यथार्थता डालनी होगी। आज विश्व राष्ट्रों में बँटा है। राष्ट्रीय सरकारें उसकी इकाई हैं। उन सरकारों का तंत्र अलग-अलग तरह का हो सकता है, पर उन्हें एकत्रित करके रखनेवाली और दूसरों के साथ उनके व्यवहार-वर्तन को नियमित करनेवाली चीज राष्ट्र-भावना ही है। आगे साम्राज्य फैले हैं, कामनवेल्थ हैं, राष्ट्र-समूहों की संघटना है, अभी हाल का एटलांटिक पैक्ट है, कम्युनिस्ट 'कामिनफार्म' है और इन सबके बाद यू० एन० ओ० है; लेकिन इनमें से कहीं भी राष्ट्र-चेतना अनुपस्थित या असंगत नहीं है। तिस पर यह सब एक या अधिक सरकारों के सम्मिलन से बने हैं। सरकारों के मिलने से लोग मिलते हैं, यह समझना सही नहीं होगा। नीचे प्रजाओं में पृथक् चेतना बनी चली ही जाती है। हमारा कारोबार आज के दिन नेशनेलिटी (राष्ट्रीयता) के आधार पर चलता है। जरूर हमें इस सुविधा का उपयोग करते हुए धीरे-धीरे इससे उत्तीर्ण हो रहना होगा। यह काम तब तक नहीं होगा, जब तक हर दो राष्ट्र अपने सीमान्त पर फौजी छावनी डालकर अपने को सुरक्षित मानने की आदत जारी रखते हैं। ऐसे राष्ट्रवाद का नारा अपने को सबसे ऊंचा उठाये बिना न रहेगा और उसके प्रचार और शोर के नीचे कुछ भी और नहीं सुनने को मिलेगा। ईश्वर की सत्ता को दबना या दुबकना होगा जिससे उसका स्थान राष्ट्र-सत्ता ले। आज हम इसी स्थिति में हैं। 'सर्वोदय' भाव राष्ट्र को स्वीकार कर सकता है, किन्तु वहीं तक जहाँ तक राष्ट्र स्वयं भगवत्सत्ता को स्वीकार करता और उस राह पर चलने में सुविधा देता हो। यानी राजनीति वही चले जो निरपेक्ष नीति, धर्म-नीति, का अनुशासन

स्वीकार करे। ऐसे हिंसा यानी स्पर्द्धा-विग्रह पर टिक रहनेवाला राष्ट्रवाद गलत ठहरेगा। कारण, वह आगे पीछे अंतर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ाने में योग देनेवाला होगा। अहिंसा को अपने सब व्यक्तिगत, सामाजिक, सार्वजनिक, राजकीय और अंतर्राष्ट्रीय-व्यवहार के लिए एक सूत्र बनाना होगा। इसमें व्यक्ति से लगाकर राष्ट्र या राष्ट्र-समूह तक किसी भी इकाई का खंडन नहीं है। मैं स्वयं रहकर हिन्दुस्तानी भी रह सकता हूँ, बशर्ते कि इसमें दूसरे के या इतर-देशीय के साथ गैरियत या विरोध का भाव गर्भित न हो। आप देखेंगे कि यह शर्त स्वार्थ को नीति मानने पर किसी भी दायरे में पल नहीं सकती। मैं अगर अपने स्वार्थ से चिपटा हूँ, तो दूसरे के साथ मेरा विरोध टल नहीं सकता। ऐसे फाँस और समस्या उत्पन्न होगी ही। इस तरह राष्ट्रनीति या राजनीति किसी भी वर्ग अथवा राष्ट्र के स्वार्थ के संरक्षण को अंत और इष्ट मानकर चलना चाहेगी, तो शेष से मेल-जोल साधना उसके लिए शक्य न होगा। यानी सर्वोदय एक चेतावनी है संसार के समग्र राष्ट्रों की राष्ट्र-नीति और सब कहीं की राजनीति के लिए। अपनी कल्पना को स्व-अर्थ और विग्रह से हटाकर परम-अर्थ और संग्रह तक वे नहीं उठा पायेंगे, तो उन राष्ट्रों को आपस में लड़ मरना होगा। लड़ना कोई नहीं चाहता, फिर भी लड़ना जो पड़ता है सो कुछ ऐसे ही आंतरिक कारणों से जो उन्हें स्वाधीन छोड़ते ही नहीं हैं। अर्थात् किसी राष्ट्र की राजनीति तब तक नैतिकता की ओर नहीं चल सकती, जब तक उस राष्ट्र का आंतरिक अर्थतंत्र विकेन्द्रित और मुद्रा के स्थान पर श्रम में केन्द्रित न हो। आप देखेंगे कि इस तरह सर्वोदय निरा नारा बनने नहीं आया है। उसके पास समग्र दृष्टि है। और वह जबकि राष्ट्र और उनकी राष्ट्रीयता, जिनको उनकी अपनी-अपनी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परम्परा थामे हुए हैं, भंग नहीं करना चाहता है, तब परस्पर सामजस्य लाने का मार्ग उनके आगे अवश्य खोल देता है।

लेकिन यह सब मनसूबे का अम्बार क्यों ? भारत की अपनी राष्ट्रीयता

जब तक कांटेदार बनी है तब तक आगे बातचीत बढ़ाने का साहस ही क्या करना ? मेरे ख्याल में गाँधी की जन्मभूमि, कर्मभूमि और धर्मभूमि यह भारत अपनी राष्ट्रीयता को सही दिशा में नहीं मोड़ सकेगा तो इस भारत को केन्द्र बनाकर उठनेवाला नैतिक अभ्युदय का यह सर्वोदय-आंदोलन भी बहुत आगे बढ़ सकेगा, इसमें संदेह है। हम सबको इसलिए अभी तो अपनी पूरी कोशिश इसमें लगाने में लगना चाहिए।

: ४ :

सर्वोदय

'सर्वोदय' पर जितना ही कहना चाहता हूँ, शुरू करते उतनी ही उलझन होती है। उस शब्द को तो आप जानते हैं। दक्षिण अफ्रीका में गांधी जी ने रस्किन की पुस्तक 'Unto This last' का अनुवाद किया तो उसे नाम दिया 'सर्वोदय'। गांधी जी के उठजाने पर उनकी नीति में आस्था रखनेवाले लोग पिछले साल सेवाग्राम में जमा हुए तो उन्हें अपनी भावना व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त शब्द जँचा यही सर्वोदय। सीधा उसका मतलब है, सबका उदय। यानी अस्त किसी का भी नहीं। आज के जमाने में इस तरह की श्रद्धा रखना और जतलाना बड़ी हिम्मत की बात है। क्योंकि सूरज उदय होता है तो क्या चांद को तब अस्त ही नहीं होना पड़ता। इसी तरह सहसा यह समझ में नहीं आता है कि एक अगर आगे बढ़ेगा तो दूसरा पीछे कैसे नहीं रह जायगा। यानी एक वर्ग के नफे में और उभार में दूसरे वर्ग का थोड़ा बहुत टोटा और उतार समाया ही है। दो मत विरोधी हों, या हित विरोधी हों, तब एक ही साथ दोनों का उदय कैसे हो सकता है? अवश्य एक के अस्त के साथ ही दूसरे का उदय है।

इसी तरह खुली आंखों देखते सर्वोदय की बात कुछ भावुक आदर्श की लग आती है, जो कामकाज में टहर नहीं सकती। आज विग्रह है, विकलता है, और युद्ध की सम्भावना से हवा गर्म है—ऐसे में सर्वोदय की बात आसमानी आदमी ही तो करेगा।

लेकिन लोग जो सेवाग्राम में जमा हुए थे, आसमानी तनिक न थे। वे ठोस धरती के कामकाजी लोग थे। अपनी जगह कुछ उगाने-बनाने या प्रत्यक्ष व्यवस्था या सेवा के काम में जुटे लोग थे। कवि कोई उनमें बिरला ही होगा। कोरे सपनों से उन्हें क्या काम ? रचनात्मक श्रम मेंमन और तन तपानेवाले वे आदमी विग्रह और संघर्ष की सूचना से अनजान न रहे होंगे। शायद उसकी अनिवार्यता भी जानते होंगे। फिर भी साहस बाँधकर दुनिया को उन्होंने कहा कि हमारी रहने की और करने की, यानी तमाम जीवन की नीति 'सर्वोदय' होनेवाली है। अर्थात् जो अपना हमसे विरोध मानते हैं उनका भी हम भला चाहते हैं। चाहने के साथ उनका भला करने में ही हम लगे रहनेवाले हैं। यही सर्वोदय है। अहिंसा का मतलब इतना ही नहीं कि हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे और नहीं करेंगे। नहीं, बल्कि हर किसी का भला सोचेंगे और वह भला करने के लिए उसकी तरफ आगे बढ़ेंगे।

उन लोगों की यह घोषणा, इस दुनिया में जहाँ दुश्मनियाँ हैं और दुश्मन को दूर करना मनुष्यता के प्रति लोग अपना पहला दायित्व और कर्तव्य समझ उठे हैं; जहाँइस दुश्मनी को कला का सौन्दर्य और दर्शन की गरिमा मिली है; जहाँ उसके समर्थन में सदियों में से मानव-बुद्धि ने शस्त्रास्त्र के रूप में अनुपम चमत्कारी आविष्कारों से हमें सुसज्ज किया है—वहाँ मुट्ठी भर लोगों का यह कहना दुस्साहस समझा जा सकता है। आपसी शत्रुता के घोर रव में उसे सुना-अनसुना किया जा सकता है। फिर भी उन लोगों ने जानबूझकर तोल-परखकर यह किया। साथ ही उन्होंने कहा कि उनके अपने लिए जब यह सर्वोदय-नीति व्रत ही है, तब बाकी दुनिया के लिए भी उसके सिवा कहीं त्राण नहीं है। हिंसा से हिंसा कटती दीखे, लेकिन शेष जो बच रहता है उसमें हिंसा और भी गहरी पैठ रहती है। सारे इतिहास में क्या यही नहीं दीखता है कि हिंसा के उपाय से जितनी हिंसा कटती है, उससे कहीं ज्यादा उग आती है। वह राह नहीं

है शान्ति की ओर एकता की। शायद हिंसा फल है जो अगली फसल के लिए फिर बीज साबित हो आता है। आदमी हिंसक नहीं है, लेकिन उसने अपना समाज कुछ ऐसा बना लिया है कि आपस में सहयोग की जगह स्पर्द्धा उसे सहज होती है। हमारी अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति जुड़ाती नहीं, हमें लड़ाती है, और जब हम जुड़ते भी हैं तो दल के रूप में कि दूसरे दल से मोर्चा ले सकें। यानी वे गुण जो आदमी को आदमी से मिलाते हैं, वहीं तक गुण हैं जहाँ तक अन्त में वे द्वेष और विग्रह को पुष्ट करते हैं। नतीजा यह होता है कि आदमी अपना अमित विकास करता है, केवल इसलिए कि अन्त में दूसरों को दबाने या मारने में सफल हो सके।

सेवाग्राम में जो लोग जमा हुए उनके लिए सर्वोदय सिद्धान्त का ही तत्त्व नहीं था, प्रयोग में वह परखा जा चुका था। गाँधीजी का जीवन उनके सामने था, जो आदि से अन्त तक उसके सफल अमल का आलेख था। निपट अकिंचन वह जीवन लौकिक विभूतियों का अलौकिक पुंज बन रहा। हर तरह अपने को विहीन बनाकर वह व्यक्ति यहां की राष्ट्र और राजसत्ता का अखण्ड अटूट केन्द्र बनकर रहा। उस सफल जीवन के सरल मन्त्र को वह व्यक्ति स्वयं अपने परिवार के हाथों दे गया था। चौदह सूत्री रचनात्मक कार्यक्रम था, जिसमें यथा-समय नये सूत्र जोड़े जा सकते थे। उन सबके स्रोत के रूप में बता दी गई थी अहिंसा, जिसे फिर अपना प्रकाश लेना था निर्द्वैत सत्य से। इस तरह प्रयोगसिद्ध और बार-बार कसौटी पर परखा गया एक समग्र जीवन-दर्शन और जीवन-क्रम उन लोगों के समक्ष था और गांधी के उदाहरण में उसे जीता-जागता मूर्त्त शरीर भी मिल चुका था।

इसलिए निश्शंक उद्घोष के साथ सेवाग्राम में इकट्ठे हुए उन लोगों ने कहा कि एक और अकेला मार्ग वही है जिसे गांधी चलकर जगत् के लिए खोल गया है। वही है, दूसरा सब कुछ भूलभुलैयां है।

इस घोषणा के साथ वहाँ सर्वोदय-समाज की भी स्थापना की गई। क्या एक 'समाज' होकर यह सर्वोदय भी इतने वर्गों, दलों और संस्थाओं में एक और की गिनती बढ़ानेवाला नहीं हो जायगा? ऐसा प्रश्न हो सकता है। पर विलक्षण वह समाज है। आप पूछिये कि कौन उसका सदस्य है, तो मालूम होगा कि जो अपने को कहे वही उसका सदस्य है। क्या उसके नियम हैं, तो जानने को मिलेगा कि सर्वोदय के विश्वास के अलावा कोई भी दूसरा नियम नहीं है। ऐसा समाज क्या किसी ने देखा-सुना है? पर सर्वोदय समाज को ऐसा ही बनना है। अधम का, पापी का, बच्चे का, बूढ़े का—किसी का उसमें बहिष्कार न होगा। लोग, हम आप सभी लोग, सीमाओं से लगकर रहने के आदी हैं। गर्व मानते हैं कि हम भारतीय हैं, क्योंकि भारत वह है जो एक सीमा पर समाप्त है। इस तरह अहंकार अपने लिए और दूसरे के लिए अवज्ञा मन में रखते हुए हम जीते और ऐसे जाने-अनजाने द्वेष उपजाते रहा करते हैं। अधिकांश उसीको काम करना और उन्नति करना हम माना करते हैं। इसी से सहसा यह सीमारेखा-हीन सर्वोदय-समाज संघटन के रूप में हमारे मन में पूरी-पूरी तरह जमता नहीं है। लेकिन सर्वोदय-शास्त्र के मनीषियों ने ऐसा ही आकार-प्रकारहीन उसे रूप दिया है। सच ही यह अभूतपूर्व रचना है जिसके लिए कोई अनात्मीय ही नहीं बचता है और जिसने इसीलिए जन्म लिया है कि सबको, सभी किसी को, एक आत्मीयता में बाँध ले। अवश्य इसमें जगत् का सब प्रकार का नानापन समाकर भी अक्षुण्ण रहेगा। हरएक की निजता को पूरा-पूरा वहाँ अवकाश होगा। कोई किसी पर न रोक बनेगा, न आरोप; कारण, हर अपना उदय दूसरे के, और दूसरों के, उदय में से ही देखेगा। ऐसे समाज से यह डर कि वह एक नये आग्रह और नई अस्मिता को पनपायेगा वृथा ही मानना चाहिए।

उस सर्वोदय समाज का इसी मार्च महीने में पहला वार्षिकोत्सव हुआ। इन्दौर के पास देहात में फूँस की झोंपड़ियाँ खड़ी हुईं और तीन रोज़ के

लिए वहाँ किसी को याद न रहा कि बाहर समाज में वह बड़ा है कि छोटा है, राजा है कि रंक है।

सभा-समाजों के अधिवेशन तो होते हैं और वहाँ प्रस्ताव पास हुआ करते हैं। प्रस्तावों से आशा बंधती है और आगे के लिए संकल्प स्थिर होता है। पर वहाँ प्रस्ताव ही कोई पास नहीं हुआ। इसे क्या प्रस्ताव कहें कि तय हुआ कि साध्य के समान साधन को भी शुद्ध ही रखना होगा। यह भी जाहिर किया गया कि देश-विदेश का इसमें फर्क नहीं है और सर्वोदय में सभी का स्वागत है। बहुत से देशों से लोगों के पत्र आये थे और कुछ उनमें बहुत ही बढ़िया पत्र थे। सभी में चाहा गया था कि सर्वोदय में उन्हें भी सम्मिलित समझा जाय और वहाँ एकत्रित जनों ने हृदय से उन्हें अपना मान लिया था।

वैसे एक प्रस्ताव भी आ गया था। उसपर चर्चा हुई और खासा विवेचन हुआ। अंत में विनोबा ने समझा दिया कि प्रस्ताव का मतलब इतने में ही पूरा हो गया कि उससे हमें आत्म-मीमांसा का अवसर मिला। आगे हमें किसी को भी पास-फेल नहीं करना है। सबका जज उन सबके अंदर ही बैठा हुआ नहीं है क्या कि जज बनने का कष्ट हम अपने ऊपर लें? आप विनोबा को जानते ही होंगे। सर्वोदय-समाज की वह आत्मा हैं। शायद इसीलिए वह उसके सदस्य भी नहीं हैं। तब पद-बद तो उनके पास क्या ही पहुँच सकता है।

अब समय होता है और मुझे बात खतम करनी है। सच यह कि मैं घबराया हुआ हूँ। क्या आप घबराये नहीं हैं? बाहर घमसान मचा है। सचमुच लड़ाई अगर छिड़ी हुई नहीं है तो क्या इससे हममें से किसी को जरा भी ढाढ़स पहुँचता है? लड़ाई ऊपर नहीं है, लेकिन भीतर क्या कहीं किसी तरफ से उसमें कमी है? शायद हमें सब तरफ अँधेरा दीखता है। एक था, जिसे हम बापू कहते थे। वह भी हमें छोड़ कर चल

दिया है। पर देखें तो वह ठीक ही गया है। नहीं तो अपनी आँखों देखना और अपने पैरों चलना हम सीखते कैसे ?

लेकिन शायद घोरता इसीलिए है कि हम प्रकाश के लिए विकल हों और उसके लिए अपने को टटोलें और पावें। अन्धेरा घना तभी न होता है जब उसके फटने का वक्त आ पहुँचता है। तब देखते-देखते कालिमा में से लालिमा फूटती है, जो उजली धूप का आवाहन बनती है।

क्या आप मानेंगे कि सर्वोदय-समाज क्षितिज पर उठी आशा की वह लाल लकीर है। लाल वह लहू से नहीं है, केवल लज्जा से है। आप चाहें तो यह कुछ देर में भी मान सकते हैं, जब वहाँ से प्रकाश उजला होकर फूट चलेगा। किन्तु मैं आपकी अनुमति से आज ही यह आशा अपने मन में रख लेना चाहता हूँ।

: ५ :

पूर्वोदय

सर्वोदय शब्द परिचित है। पूर्वोदय उसी की नकल में निकला हुआ कुछ होगा, ऐसा लग सकता है।

पर लेखक की ओर से ऐसा नहीं है। सर्वोदय भावना है। जब भावना घटना बनने चलेगी तो सर्वोदय का रूप पूर्वोदय होगा, यह उसका विश्वास है।

उदय हम सबका चाहते हैं। पश्चिम का और पूरब का, द्विज का और अंत्यज का। लेकिन पश्चिम की तुलना में पूरब का और द्विज की अपेक्षा में अंत्यज का, जो पिछड़े हुए समझे जाते हैं। इससे सर्वोदय आयगा तो अनिवार्यतः पूर्वोदय और अंत्योदय के आरंभ से उसे आना होगा।

अंत्योदय को हम अधिक समझ सकते हैं, लेकिन पूर्वोदय को स्वीकार करने में कदाचित् मानसिक बाधा उपस्थित हो सकती है। कारण, पूर्व शब्द दुनिया को जोड़ता नहीं दो हिस्सों में बांटता है। दुनिया एक है, और एक हो रही है। पूर्व का उदय चाहकर जैसे इस एकता में फाँक पैदा की जाती हो; मानो पूर्वोदय में पूर्व की ओर की अहंता का निनाद हो। अतः सर्वोदय को जब अंत्योदय के रूप में हमें स्वीकार करना अच्छा लग सकता है, तब पूर्वोदय के रूप में उसे देखने से बचने की इच्छा भी हमें हो सकती है।

सही यह कि पूर्व और पश्चिम दोनों सापेक्ष धारणाएँ हैं। कोई देश नहीं जो एक साथ हमारे पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में न हो।

विश्व वृत्त है और दिशा-बोधक संज्ञाएं केवल व्यवहार की सुविधा के लिए हैं। पूर्वोदय में किन्हीं खास देशों का उदय और दूसरे किन्हीं का अस्त इष्ट नहीं है। इष्ट निरपवाद सबका उदय है। इसमें गर्भित है कि यदि कोई एक (व्यक्ति, समुदाय या देश) किसी दूसरे को परास्त करके उसके बल पर गर्वोन्नत है, तो सर्वोदय में उसको अवनत होना होगा। विनत होना सीखने के लिए अवनत होगा। इस अवनति में से विनति और फिर सच्ची आत्मोन्नति आयगी। घमंड अगर है तो उसे गिरना होगा, बाद ही आत्मलाभ की आशा होगी।

इस प्रकार सर्वोदय यदि भावना की ओर से सबके प्रति मधुर है तो घटना की ओर से उसे कठोर होने और निर्मम बन रहने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

आज यों जगत् का राजकरण दो समूहों (ब्लाक्स) में बँटा हुआ है। एक पश्चिम का कहा जाता है, दूसरा पूरब का। अमेरिका पश्चिम का नेता है तो रूस पूरब का सूत्रधार है। यह 'पश्चिम' और 'पूरब' यहाँ भूगोल की भाषा के हैं। भौगोलिक से अधिक उनमें सार नहीं है। पूरब और पश्चिम वहाँ अपने से किसी अधिक या अन्यत्र भाव के प्रतीक और सूचक नहीं हैं। वहाँ उनमें बोध गुटबन्दी का है। सीधे और शुद्ध मानों में दो दल हैं, जो बढ़ा-चढ़ी की दौड़ में हैं। अखाड़े में उतरने की घड़ी आये तो उसके लिए उनकी तैयारी मुकम्मिल बल्कि दूसरे से सवाई मिले, इसमें वे लगे हैं।

लेकिन लेख के शीर्षक का पूर्वोदय इस सबसे वास्ता नहीं रखता। उसकी आत्मा सर्वोदय है जिसका आशय यह नहीं कि संघर्ष न होगा या कि उससे किनारा ले बचना होगा, बल्कि आशय यह है कि एक ओर से अवश्य ही वह संघर्ष सर्वोदय-निष्ठा से और अहिंसक कर्म की पद्धति से लिया और झेला जायगा। पूर्व, जो पिछड़ा समझा जाता है, जब अपने जन-बल और मन-बल को समझे और पहचानेगा, वह व्यर्थ मशीन-बल

की होड़ में नहीं पड़ेगा। इस तरह मशीन के सहारे बड़े बने हुए पश्चिम को वह वृथा अहं-दंभ में रहने और भूलने का अवसर न देगा। मार्शल-एड और शूमां-सहायता जैसी योजनाओं को माथे लेकर मशीन को और मशीनी हथियारों को आदमी से ज्यादा बड़ाई देने वह नहीं जायगा।

जीवन की एक पद्धति है जिसे पश्चिमी कहकर हम इंगित कर सकते हैं। इस नीति और पद्धति का पश्चिमी समझे जाने वाले देशों में ही चलन हो पूरब में नहीं, सो नहीं। सच पूछिए तो सोवियत-पद्धति पाश्चात्य सभ्य-जीवन-धारणा की चरम प्रगति है। वह उसका तर्कान्त रूप है। पश्चिम की दृष्टि ने इन्सान के रूप में बिखरी-फैली जीवन की वैयक्तिक इकाई को नष्ट करके एक सुगठित विशाल सामाजिक इकाई को जन्म देने की चेष्टा की, उसका नाम करण हुआ स्टेट। सिद्धान्त बन उठा कि स्टेट ही है, व्यक्ति नहीं है। स्टेट की दृष्टि से आवश्यक होगा तो व्यक्ति को रखा जायगा, तनिक भी अनावश्यक होगा तो उसको शून्य कर दिया जायगा। आत्म की ओर से कहीं किसी व्यक्ति के पास जीने का कोई समर्थन नहीं है। व्यक्ति से बाहर होकर जो फैला हुआ समाज है मूल समर्थन सब उसमें है। वही समाज अपने रक्षणीय तत्वों के आधार पर फिर स्टेट में सांगोपांग मूर्त होगा और उस स्टेट में ही सब स्वत्व और स्वामित्व, औचित्य और समर्थन केन्द्रित होगा।

यह दर्शन पश्चिम में पैदा हुआ। पर उन्हीं देशों का स्वत्व बन कर रह न गया। रूस देश ने, जिसे अपने को पूरब का मानने का सुभीता है, उसे कर्म का और घटना का चोला पहनाया।

इस तरह आजकल के राजनीतिक संघटनों में पूरब और पश्चिम शब्दों का प्रयोग बहुत सीमित और तंग है। वह भ्रामक भी है। मूल भूमिका का दोनों छावनियों में कोई भेद नहीं है। दोनों जगह एक से हथियारों की तैयारी है, और पूरब पश्चिम विशेषणों का प्रयोग वहां केवल

देशों की स्थिति और उनके अन्नांश-परिचय की दृष्टि से है। रूस आज पिछड़ा हुआ नहीं, महिमामय देश है। पिछड़े समझे जानेवाले देशों के प्रति अमरीका का जो भाव है, रूस का भाव उससे कुछ बहुत भिन्न नहीं। इन दोनों मूर्धन्य राष्ट्रों को उन पिछड़े देशों का उद्धार करना है, उनको सहारा देना है, उन्हें स्वावलम्बी बनाकर अपने पैरों पर खड़ा करना है, समृद्ध करना है, आधुनिक बनाना है, शिक्षित करना है, उनके जीवन-मान को ऊँचा उठाना है, इत्यादि।

जो सत्ताशालियों की बड़ी कृपा है! जिनके पास सामान नहीं है, मशीनें नहीं हैं, अस्त्र-शस्त्र नहीं है, कल-कारखाने नहीं हैं, बढ़िया अखबार, बढ़िया मकान और बढ़िया सामग्री नहीं है, जीवन जहां का सीधा-सादा है, संक्षेप में जहाँ सभ्यता नहीं है और मनुष्यता नहीं है, केवल जड़ता और पशुता है, ऐसे दीन और दरिद्र देश याचना की आँखों से उन सत्ताशाली प्रभु देशों की ओर देख सकते हैं। परम दया होगी और अतुल उपकार होगा जो वे अस्त्र-शस्त्र से हमें लैस करेंगे, हमें मशीनें देंगे और सभ्यता देंगे। हमारे पास सिर्फ कच्चा माल है। उनके अमूल्य उपहारों के बदले में हम बेचारे यही उन्हें भेंट कर सकते हैं।

आज की विश्व की राजनीतिक स्थिति यह है। एशिया के देश पिछड़े हुए हैं। आगे बढ़े हुए देश, जिनके पास सत्ता है और प्रचुरता है, उनको अपनी शरण में बिना लिये नहीं रह सकते।

लेकिन यह स्थिति झूठ है। राजनीति का नक्शा बहलाने और बहकाने का है। सच यह है कि पश्चिम की जीवन-पद्धति और उसके सहारे बढ़े हुए वे देश जिनको आज हम बड़ा और ऊंचा मान रहे हैं, असल में अपना दिवाला पीटते जा रहे हैं। उस जीवन-पद्धति की सांसें अन्तिम हैं और वह टूट रही है। अपना अतीत उस पर स्वयं भारी है, और एक ओर युद्ध पैदा करने से अधिक वह जीवन-विधि भविष्य की दिशा में कुछ

और नहीं कर सकती। उसमें से उन्नति निकली है अवश्य, मगर ठीक उतनी जितनी अहंता उपजी है। वह विस्मित करती है उतनी ही जितनी आतंकित करती है। वेग उसकी अधीरता है और ज़ोर नशा है।

तथ्य यह है कि जब-जब पश्चिम की उस जीवन-पद्धति को मुठभेड़ लेनी पड़ी है पूरब की जीवन-नीति के साथ, तभी तब खीझ में हथियार खींचने के अलावा अपने त्राण का उसके पास और उपाय नहीं रह गया है। वे हथियार जो कमजोरी का सबूत है, बल का भ्रम उपजाते रहे हैं। उन्हीं ने स्थिति में उलझन पैदा की है। हथियारों से प्रकृत अवस्था बदल नहीं सकती और जीवन का सहज विकास उनसे कुछ रुक भले जाये, मुड़ नहीं सकता।

दक्षिण अफ्रीका को लीजिए, जो गांधी-व्यक्ति और गांधी-तत्त्व के निर्माण में प्रयोगशाला बना। भारतीय हीनतम स्थिति में वहाँ पहुँचे थे। अधिकांश वे 'गिरमिटिया' थे। पर कुछ ही वर्षों में उस देश की धरती में उनकी जड़ें गहरी पहुँच गईं और उनकी स्थिति दृढ़ होती गई। यहाँ तक कि पहले के वहाँ बसे हुए गोरे लोगों को चिन्ता हो आई। मुकाबले में वे लोग जैसे हल्के और हीन पड़ते थे। भारतीय कष्ट-सहिष्णु थे, मितव्ययी थे, उद्यमी थे। वे व्यर्थाभिमान के शिकार नहीं थे। परिणामतः निरीहावस्था में पहुँचने पर भी वे वहाँ के जीवन में अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगे। पश्चिम की जीवन-विधि दूसरी थी। उसमें घमंड का सहारा था। वह कच्ची थी। उद्यम से अधिक उसमें ऐश को स्थान था। इन दो जीवन-विधियों के प्रकृत द्वन्द्व में पाश्चात्य को खीझकर अस्त्र का सहारा लेना पड़ा। उन्होंने अवज्ञा, घृणा और तिरस्कार से काम लिया। प्रहार-बल, कानून-बल और अस्त्र-बल का प्रयोग किया। लेकिन गांधी में मूर्त होकर पूर्व की जीवन-विधि उस सब हीनता और पशुता के विरोध में अपने को उत्तरोत्तर अविजेय ही सिद्ध करती चली गई। भारतीय दीन थे, दलित थे, अशिक्षित थे—यह सब ठीक, लेकिन दीन के विरोध में धन-

गर्वी होना, दलित के विरोध में दमनकारी होना और अशिक्षित के मुकाबिले केवल अक्षर की स्वार्थ-विद्या से शिक्षित होना, अपने आप में कोई बढ़कर बात न थी—यह उस द्वन्द्व से सिद्ध होता चला गया।

जहाँ कहीं भी पश्चिम और पूर्व की जीवन-नीतियाँ आमने-सामने आकर संघर्ष में जूझी हैं, दीख पड़ा है कि पश्चिम की नीति जल्दी क्षुब्ध हो आई है और मानवता को छोड़ने पर उतारू हो गई है। मानवता से तब वह दानवता पर उतर आई है। दानवता के बल से मानवता पर विजय पाना गर्व और श्रेय की बात नहीं है।

आज अस्त्र-शस्त्र के, और उनका सहारा लेकर चलनेवाले कानून के, जोर से एक कृत्रिम शक्ति-संतुलन की अवस्था को बनाये रक्खा जा रहा है। लेकिन यह कृत्रिमता अधिक काल ठहर नहीं सकती। मानव-जाति का विकास अन्ततः मानवीय गुणों की प्रतिष्ठा पर ही टिकनेवाला है। पदार्थ के परिमाण से मानव-विकास का माप न होगा। आगे चलकर जातियों और देशों का महत्त्व उनकी अन्तस्सिद्ध मानवता के अनुपात में ही होगा और अस्त्र-शस्त्र उसमें किसी तरह बाधा न बन पायेंगे।

रंग, देश, जाति, भाषा आदि का जब अपने आप में महत्त्व न रहेगा—और यह महत्त्व तो अब आगे आनेवाले २०–२५ वर्षों में प्रायः समाप्त हो जानेवाला है—तब गोरे या काले, अमरीकी या आदि-वासी होने से ही कुछ निर्णय न हो जाया करेगा, बल्कि उनकी आन्तरिकता अर्थात् संस्कारिता की अपेक्षा में मूल निर्णय होगा। तब पता चलेगा कि भौतिक राशि से आत्मिक गुण बड़ी सम्पत्ति है और आदमी वह महान् नहीं है जिसके पास बहुत सामान है, बल्कि महान् वह है जिसके पास बहुत सहानुभूति है।

सामान और सहानुभति का सम्बन्ध सच पूछिए तो उल्टा है। सामान बढ़ाकर और बटोर कर सहानुभति से आदमी हीन होता है। सहानुभूति

बढ़ने पर सामान अनिवार्यतः ही कम होता जाता है। क्योंकि वह आस-पास बंटता जाता है। अर्थात् सम्पत्ति का और प्रभुता का संग्रहीकरण और केन्द्रीकरण मानवता के विकास का लक्षण नहीं है, यह केन्द्रीकरण फिर व्यक्ति में न होकर दल में, संस्था में, राज्य में ही चाहे हो। इस अर्थ में सम्पत्ति को और अधिकार को उत्तरोत्तर विकेन्द्रित होते जाना होगा। विकेन्द्रित है, वही व्याप्त है। अर्थात् सम्पत्ति को और अधिकार को सब कहीं समान भाव से व्याप्त करते जाना होगा। राज्य में उसके केन्द्रित होने का मतलब व्यक्ति का उस ओर से हीन और वंचित होना ही है। व्यक्ति अपने को निर्धन और निरधिकार अनुभव करे—इस शर्त और इस आधार पर खड़ा होनेवाला सम्पन्न और सर्वाधिकारी राज्य मानवता के विकास का नहीं, उसके दिवाले का ही द्योतक होगा।

लेख के 'पूर्वोदय' का यही मतलब है। उसका मतलब है, मनुष्य में नैतिकता का उदय। उसमें से स्वार्थ का तिरोभाव और स्नेह का प्रादुर्भाव। आकांक्षा का अभिलाषा में परिणमन, स्वार्थ का सेवा में उन्नयन और भोग की जगह त्याग-भाव की प्रतिष्ठा।

पश्चिम से जो एक आक्रामक जीवन-पद्धति की बाढ़ ठेलकर हमारी ओर भेजी जा रही है, जो स्वत्व और स्वामित्व की तृष्णा से अमीर-ग़रीब को, इस मत को और उस वाद को, सब को उकसा और भरमा रही है—भविष्य उस बाढ़ के हाथ में नहीं है। वह ज्वर है जिसको शांत होना है। मानवता के स्वास्थ्य को वह बाढ़ सदा के लिए खा न सकेगी। ज्वर चढ़ सकता है पर अन्त में उतरने के लिए। होने को एक युद्ध चाहे तो और होले—पर शस्त्रों का नशा एक दिन टूटेगा। एक दूसरे को नाश और परास्त करने के बजाय एक दिन परस्पर को समझने की और एक दूसरे के काम आने की श्रद्धा जननेगी। मनुष्य को मनुष्य होने से कोई, और कुछ, रोक न सकेगा।

आज यह श्रद्धा भावुकता समझी जा सकती है, भोली आदर्शवादिता समझी जा सकती है। श्रद्धा में सन्तुष्ट और अल्पारंभी जीवन बिताने

वाले को तुच्छ और पिछड़ा हुआ समझा जा सकता है। लेकिन आँधी जब थमेगी और विकार जब उतरेगा, तब जान पड़ेगा कि संतोष मूढ़-ता नहीं बल्कि मत्य-ता है, जबकि आर्थिक तृष्णा शुद्ध चोरी और हिंसा है। तब जान पड़ेगा कि जिसको जीवन का ऊंचा मान मानकर हम स्पृहणीय गिनते आये थे वह पाप का कोरा एक भुलावा है।

मूल्य जब बदलेंगे, और देर-सवेर बदलना उनका अवश्यम्भावी है—जब वे बौद्धिक की जगह हार्दिक, कृत्रिम के बजाय प्रकृत, एवं स्वार्थसेवी की अपेक्षा सेवा-भावी होंगे, तब समय आयगा कि सर्वोदय आरम्भ होगा। तब एक को अपना हित दूसरे के अहित में न दीख पड़ेगा। उस समय निश्चय ही पूरब के देश, जो पिछड़े समझे जाते हैं, आगे होंगे और आज की उन्नति महज़ तमाशा दीख पड़ेगी। वह काल कब आयगा—कहना कठिन है। पर वह नहीं आयगा तो प्रलय को ही आना होगा।

अफसोस यह है कि पूरब के देश विलायती प्रचार में भूलकर पास में निधि रहते भी अपने को कंगाल मान रहे और परमुखापेक्षी बन रहे हैं। यह शोचनीय हालत जनता की उतनी नहीं है जितनी नेताओं की है। उन देशों की हकूमतें अपनी प्रतिभा और आत्मा के अनुसार वहाँ के समाज की रचना करने में नहीं लगी हैं, बल्कि विलायती देशों की नकल में पड़ी हैं। विलायतों को इसी से महत्त्व मिल रहा है और उनका भ्रम टूटने में समय लग रहा है। पर पिछली दो क सदियों की बनी हुई वहाँ की सभ्यता की इमारत इस तेजी से तहस-नहस हो रही है कि भ्रम का अधिक काल पोसना संभव नहीं है। मानव-सम्बन्धों के तंतु छिन्न-भिन्न हो रहे हैं और वहाँ की सामाजिक संस्थाएँ संकट और विपत्-काल के नीचे गिरी जा रही हैं। केवल एक ढांचा है 'स्टेट' जिसके बल पर वहाँ का अस्तित्व कायम है, और व्यवस्था जैसा कुछ वहाँ दिखाई देता है। किन्तु स्टेट की बुनियाद में अहंता और शत्रुता है। विरोध में से वह

अपने को सशक्त करती है, और इस तरह वह संस्था स्वयं आत्मघात की ओर बढ़ रही है।

क्या हम आशा करें कि जो भविष्य नाना दुस्संभावनाओं के बीच में से भी स्पष्ट और अमोघ होकर झाँक रहा है, हमारे राजकाजी नेता लोग उसको देखेंगे और अपने को अनुकूल दिशा में ढालने का प्रयत्न करेंगे ?

: २ :

गाँधी जी

: १ :

निपट मानव गाँधी

गाँधी जी पर इतने लोगों ने इतना कुछ लिखा है कि नई बात कहने को रह नहीं जाती। उनकी हर घड़ी पर अख़बारों की निगाह है। वह तो खुली किताब हैं। कुछ उनमें नहीं, उनके पास नहीं, जो सबकी सम्पत्ति न हो। उनके जीवन में दुराव नहीं है। भीतर उनके गहरे में से जो उठता है कथनी और करनी में बाहर आकर वही सार्वजनिक इतिहास की थाती बन जाता है।

फिर भी कौन उन्हें जानने का दावा कर सकता है? धूप की तरह सब के आगे वह खुले और साफ हैं, पर अबूझ और अगम भी हैं। इसी से इतना जानकर भी गाँधी जी के बारे में और जानने की प्यास दुनिया की कभी नहीं बुझती। उनके नाम के साथ जुड़ी हर बात सिक्के की तरह हाथों हाथ चलकर भी कभी बासी और जूठी नहीं होती। हर तरह उघड़े होने पर गाँधी जी एक रहस्य हैं, जिसे दुनिया कभी चुका न पावेगी।

पहले कहानियाँ हुआ करती थीं, जिनमें बड़े-बड़े दैत्य-दानवों के प्राण किसी पक्षी या ऐसी ही किसी चीज़ में समाये रहते थे। वहाँ इसे तोड़ा कि वहाँ उनका अन्त हुआ। ऐसे बड़े-बड़े बली जीवों को बात की बात में हजारों कोसों दूर से खतम कर दिया जाता था। यह बात निरी व्यर्थ न मान ली जाय। हर व्यक्तित्व की एक कुंजी है। आदमी

जो यों पहेली सा अनबूझ है उस कुञ्जी से हल किये सवाल की तरह खुल रहता है।

अब दुनिया के हम-तुम प्राणियों के बारे में इस कुंजी को खोजने और पाने में बहुत कठिनाई नहीं आती। कोई हम में धन चाहता है, कोई मान, किन्हीं को कीर्ति ही काफी होती है। कुछ की कामना कामिनी में है। मतलब हम संसारी लोगों की चाहें संसार के इस या उस तल में गड़ी हुई पाई जा सकती हैं। जहाँ जिसकी चाह है, वहीं उसकी थाह है। इस तरह आपस में एक-दूसरे को जाँचने और एक दूसरे का मान थिर करने में हमको दिक्कत नहीं होती।

सीधे तो संसार का ताना-बाना विचित्र लगता है। असंख्य आदमियों की जिन्दगी के तार आपस में मिल-जुलकर, कट-बटकर क्या नमूना बुन रहे हैं, कुछ समझ नहीं आता। लगता है, उनकी गतियाँ भिन्न हैं और विरोधी भी। पर मनस्तत्त्व-विज्ञानी बताते हैं कि वे गतियाँ न भिन्न हैं, न विरोधी हैं। सांसारिकों के बारे में आसानी से वे नियम प्रस्तुत कर सके हैं जो बता देते हैं कि एक आदमी, और सब आदमी, क्यों और किन प्रेरणाओं के अधीन विविध वर्तन कर रहे हैं। पर कुछ लोग मानों नियमानुसार नहीं होते हैं। विज्ञान और शास्त्र उन्हें न ढँक पाता न खोल पाता है। वैज्ञानिक प्रणालियों से उन्हें पाना असम्भव होता है। इससे व्यक्ति से ज्यादा उन्हें घटना कहना होता है। उनकी कुंजी यहाँ ढूंढे नहीं मिलती। उससे या तो लोगों को खीज होती है, जिसे वे उस आदमी को मारकर पूरी करते हैं। या नहीं तो विस्मय में घुटनों गिरकर उसकी पूजा करते हैं। इससे दूसरा उनके किये बन नहीं पाता। तर्क का वह स्रोत ही उन्हें हाथ नहीं आता जो उस जीवन को और उस जीवन के कृत्यों को थामता हुआ कहा जा सके। ऐसे पुरुष अतर्क्य होते हैं और लोक तत्काल तो अलौकिक कहकर उनसे अपनी छुट्टी मान लेता है, पीछे इतिहास में से फिर-फिरकर उनका आविष्कार करके अंगीकार करने की

कोशिश करता है। गांधी जी ऐसे ही अभागे पुरुषों में से मालूम होते हैं। उनकी कुंजी लाख खोजने पर भी दुनिया के हाथ नहीं चढ़ती।

गांधी जी ने एक बार कहा कि मेरा सब कुछ ले लो, मैं रहूँगा। हाथ काट लो, आँख-नाक उड़ा दो तब भी रहूँगा, सिर जाय तब भी कुछ पल रह जाऊँ, पर ईश्वर गया है तबतो मैं उसी दम मरा हुआ हूँ। यह बात पढ़ने में चमत्कारी लगती है। पर क्या समझ में भी वह बँध कर बैठती है?

ईश्वर के मन्दिर हों और उसकी पूजा हुआ करे यहाँ तक तो ठीक है। इससे आगे नित्य-प्रति के काम से सम्बन्ध रखनेवाली बुद्धि और तर्क की भाषा उस ईश्वर को अपने में कहाँ बिठाये? परिणाम यह कि जीवन-नीति, जो ईश्वर-पूर्वकता से आरम्भ होती है, गांधी जी तक सीमित जान पड़ती है। व्यवहार से गांधी जी की समाज-नीति अनमिल और असिद्ध लग आती है। उसमें तर्क का साफ़ सूत नहीं मिलता।

लौकिक के और गांधी जी के बीच का यह भेद मौलिक है। किसी तरह के ऊपरी तर्क से उस भेद को उड़ा देना, पाट देना, खतरनाक हो सकता है। गांधी जी का और दुनिया का, गाँधी जी का और कांग्रेस का, सम्बन्ध पूरी तरह इस मूल भेद को स्वीकार और पहचान कर नहीं बना। और इससे कठिनाई उपस्थित होती रहती है।

गांधी जी के बारे में यह कहा जा सके कि वह व्यवहार के आदमी नहीं हैं तब तो मुश्किल ही हल हो जाती है। ऐसे बहुत लोगों को दुनिया जानती है जो वास्तव के बजाय स्वप्न में रहते हैं। आदर्शवादियों, सन्तों, कवियों को अपने में समाना और पचाना दुनिया के लिए कठिन नहीं होता। पीठ की ओर से भी वे दुनिया के अपने होते हैं। कुछ भोग में भूलते हैं तो शायद वे योग में भूलना चाहते हैं। गांधी जी के बारे में वैसा समझने का सुभीता दुनिया के बुद्धिजीवी लोगों को मिल सके तो वे बच जावें। पर ऐसी सुविधा किसी ओर से उन्हें नहीं हो पाती। गांधी

जी कुछ हैं तो कर्मठ हैं। वस्तु के क्षेत्र में उनका प्रभाव अमोघ है। ठोस रुपया जो तमाम वास्तविकता का आज प्रतीक है उनके इशारे पर यहाँ से वहाँ होता रहता है। इस तरह गाँधी जी बौद्धिक के लिए एक चुनौती ही बने रहते हैं। उस बौद्धिक के बनाये शास्त्र और चलाये सब शब्दों के आगे गाँधी जी मानों ऐसा प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़े हो आते हैं कि हटाये नहीं हटते।

धर्मवादी और ईश्वरवादी, जो संसार को बन्धन मानकर उससे उत्तीर्ण होना चाहता है, गाँधी जी की तरफ आशा-भरी निगाह से देखता है। कारण, वह बहुत अंशों में ऐसे उत्तीर्ण और मुक्त पुरुष प्रतीत होते हैं। पवित्रों में वे पवित्र हैं, और जितेन्द्रियं, और संयमी, और महात्मा। पर यही पवित्रता का साधक उस समय गाँधी जी को नहीं समझ पाता जब वे राज-नीति के प्रपंच में दीखते हैं और तरह तरह के कर्म की विराट योजनाओं का संचालन करते हैं।

दूसरी ओर संसार में (उसके सुधार में) लगे हुए प्रकार-प्रकार के वादी और कर्मीजन इस कर्मण्य और प्रतापी पुरुष गाँधी को देखकर उत्साहित होते हैं। जो बल उसने प्राप्त किया, जो लोक-संग्रह वह कर पाया, उसको श्रद्धा और ईषत् ईर्षा से देखते हैं। जो सत्ता उन्हें इष्ट है, गाँधी जी को वह सिद्ध है। लोकनायकों में इस तरह वह मूर्धन्य है। फिर भी राज को लेकर तरह-तरह के जितने तन्त्रवाद मिलते हैं, और समाज के निमित्त से नाना प्रकार के जो समाजवाद और साम्यवाद मिलते हैं, उनमें से किसी एक को छोड़कर किसी दूसरे का समर्थन गांधी जी से नहीं मिलता। राज की दिशा में यह गांधी चाहता है तो 'राम-राज्य' चाहता है, जिसके तन्त्र को किसी वैज्ञानिक भाषा में नहीं रखा जा सकता। समाज चाहता है तो ऐसा कि जिसमें किसी की कोई सम्भावना नष्ट न हो और सब स्नेह से रहें। धन रहे, धनपति रहें; श्रम रहे और श्रमिक रहें। राजा हो और वह चाकर भी हो, चाकर हो और वह राजा से कम न हो। इस तरह की

अवैज्ञानिक और भावुक बातें जो कवि को शोभा दें अर्थ-नीति और कूट-नीति के संचालक और समाज-निर्माता पुरुष के लिये अटपटी लगती हैं। यह आदमी जो शासन और व्यवस्था की तरह-तरह की समस्याओं के बीच मुख्य सूत्रधार की भाँति घिरा रहता है, हर साँझ-सवेरे प्रार्थना में दोहराता है : 'यह संसार कागद की पुड़िया…', 'यह संसार झाड़ और झाँखड़'। जो संसार और समाज प्रत्यक्ष कर्मी के लिए एक और अकेला इष्ट है वही संसार और समाज इस आदर्श (निष्काम) कर्मी के लिए शून्यवत् है। वे समाप्त ही चाहे होते हों, इस व्यक्ति को डिगने के लिए तब भी कारण नहीं है।

इस तरह जीवन के विभक्त दर्शनों के लिए, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के लिये, गांधी एक ही साथ प्रश्न और समाधान हैं। राजनीति और धर्म में भेद है, उनमें विग्रह भी है। लेकिन गाँधी जी उन दोनों के अभेद हैं और संग्रह हैं। वह विभक्त जीवन-नीति जिससे संसार और संसार का इतिहास चला किया है और चला करता है, गाँधीजी उसके लिये एक संदेश हैं। वे सूचक हैं जीवन की अखण्डता के, उसके ऐक्य के। साथ ही वह जीवित उदाहरण हैं इस सत्य के कि जीवन संयुक्त, समग्र और सिद्ध है तो वहाँ जहाँ वह निस्व है। अपने को उत्तरोत्तर सेवा द्वारा शून्य और प्रार्थना द्वारा लीन बनाते जाना ही परिपूर्णता पाने का साधना-मार्ग है।

इस मूल निष्ठा को पाकर फिर गाँधी जी का बस एक ही प्रयत्न रहा। वह यह कि वह अपने समूचेपन और तन को लेकर उस निष्ठा से तल्लम हो जायँ। इस एक और अकेले सूत्र और मन्त्र के सहारे वह गांधी जो हर तरह हीन थे आज सर्वसम्मत रूप से जगत् के मुकुट-पुरुष हो गये हैं।

इस सूत्र को हाथ में लेकर फिर उन्होंने अपने को और अपनों को पूरी तरह छोड़ दिया। होना है जो हो। चिन्ता को अपने सिर रखने-वाला मैं कौन ? क्यों संग्रह, और क्यों अर्जन? चराचर जगत् को चलाने

वाला जागता हुआ बैठा तो है, तब उसके आदेश को सुनते रहने और वैसा करते रहने से अलग मेरा काम ही क्या रह जाता है?

और इस नीति से चलकर कुछ विलक्षणताएँ अनायास गाँधी का स्वभाव बन आयीं। वे उन्हें सामान्यता से अलग कोटि में ले जाती हैं। जैसे—

१—वह निर्णय तत्काल करते, तर्क पीछे पाते हैं। परिस्थितियों की ओर से अपने को नहीं समझाते। सीधे स्वधर्म के बारे में अभ्यंतर से आदेश प्राप्त करके परिस्थितियों को तदनुकूल बनाने में लग जाते हैं।

२—औरों के लिए सोचना करने से बचना होता है। गाँधी जी के लिए सोचना ही करना है। सोचने और करने के बीच कोई अन्तराल नहीं आ पाता।

३—परिस्थितियों को उनसे उत्तर मिलता है। कारण, परिस्थितियों की भाषा में वे कभी सोचते ही नहीं। परिणाम यह कि कोई परिस्थिति उन पर टिकती नहीं, उन्हें घेरती नहीं और वे सदा गतिशील हैं।

४—अशक्य शब्द उनके कोष में रह नहीं जाता, क्योंकि आदमी के हाथ धर्म और तदनुसार कर्म ही है, फल नहीं।

५—कर्म की सीमा है। उस सीमा को संकल्प पर क्यों लिया जाय? इसलिए सत्संकल्प को कभी ढीला करने, उसमें विकार या आरोप लाने का अवसर ही नहीं है।

मूल श्रद्धा की इस भूमिका से आरम्भ करके, निरन्तर अभ्यास और साधना के सहारे, एक ऐसी अगमता और अडिगता उन्होंने प्राप्त कर ली है जो बड़े-से-बड़े संकट में उनका साथ नहीं छोड़ती। मनुष्य में से उनका विश्वास कुछ या कोई नहीं तोड़ पाता। चारों ओर छल कपट है, मारधाड़ है, लूट-खसोट है, उसका बर्बर-से-बर्बर रूप सामने है, फिर

भी उस आदमी को गांधी जी इस कोशिश में छोड़ नहीं सकते कि उसमें के असली (दैवी) मनुष्य को वे जगा सकेंगे।

इस तरह इस दुनिया में रहकर गांधी जी मानो सदा परीक्षा में हैं और उनके हाथों में राजनीति भी सदा परीक्षा में है। आज तो परीक्षा विकट है। अब भारत और पाकिस्तान दो अलग राज्य हैं और ब्रिटिश राष्ट्र-परिवार के अंग हैं। ऐसा जब हो ही गया तो उस पर सोच-विचार करना बेकार है। वैसा राजी से हुआ। दोनों राजनैतिक पार्टियाँ, लाचार होकर ही सही, ब्रिटेन के साथ उस विभाजन को मानने को राजी हुईं। उसके बाद जो हुआ उसकी भयंकरता जताने को शब्द नहीं मिलते। आग ऐसी जली कि सदियों के सम्बन्ध स्वाहा हो गये। वैर और बदला धर्म बन आया। दुनिया का धर्म तात्विक तो नहीं हो सकता; उसे तो तात्कालिक होना पड़ता है। इससे शास्त्रों की सीधी उपदेश की बातें उसके लिए असंगत होती हैं। इस तत्काल-धर्म का अलग ही शास्त्र होता है। और क्या अनगिनत शूरवीर, नेता और नायक नहीं हो गये जो शस्त्र लेकर रण में जूझे हैं और इतिहास ने, काव्य ने, नाना महिमाओं से जिनको मण्डित किया है। वह आग अब भी अतीत की नहीं बन गई है, बुझी अभी नहीं है, जल ही रही है, और गांधी जी उसके बीच में हैं।

और दुनिया की क्या हालत है? किसी अखबार का कोई कोना काफी है कि उस बारे में आपके भ्रम को तोड़ दे। मानो बेबस वेग से वह चली जा रही है विस्फोट के मुँह में। राजनेता, जो समझते हैं कि वे दुनिया को चला रहे हैं, भीतर सन्देह, भय, ईर्ष्या और वैर को पोस रहे हैं। मानो चारों तरफ बारूद भरी है जो भभकने भी लगी है। बस लौ का इन्तजार है कि कब भक से भड़क उठे। 'एटम-बम' के जमाने में तैयारी की बात क्या की जाय? 'एटम-बम' है, तो उसके आस-पास हाइड्रोजन बम जैसी मिलती-जुलती दूसरी ईजादें भी तो कम नहीं हैं!

इसके मुक़ाबले दूसरी तरफ आधी से ज्यादा दुनिया में धन का दिवाला है और नाज का अकाल है। मुल्क हैं जो साहूकार हैं और अनाज से भरे-पूरे हैं। पर यही मौक़ा क्या व्यवसाय के लिए भी अचूक नहीं है?—वह व्यवसाय जो सहायता को धर्म समझता है, साथ ही सौदे को अधर्म नहीं समझता!

दुनिया की और देश की ऐसी हालत की झुलस के बीचों-बीच गाँधी जी बैठे हैं। अहिंसा उनका धर्म है, दर्शन है, नीति है, सब कुछ है। लेकिन यह अहिंसा उस दुनिया के लिए है, जो हिंसा से काम लेती आई है। जिसका ईमान अब भी हिंसा में है, जो धर्म और कर्त्तव्य की राह से हिंसा में पहुँचती है, जो बहादुरी और पराक्रम उसी में देखती है, जो समझती है कि अहिंसा सिर्फ जीवन की चुनौती से बचना और भागना है। स्थिति इतनी विषम है कि अहिंसा कुछ वैसा ही हिकारत और मजाक का शब्द बन गया है जैसे कभी 'नात्सी' और 'फासिस्ट' शब्द बन गये थे!

वह सब ठीक, लेकिन गाँधी तो गाँधी ही हैं। इतना ही नहीं कि वह डिगेंगे नहीं, डिगे नहीं हैं; बल्कि यह भी कि किन्हीं भी परिस्थितियों में वह अपने को अनुपयुक्त न होने देंगे, न कभी हारेंगे।

आज परीक्षा है। उससे जैसे सारी राजनीति को आगे राह मिलेगी। कसौटी पर मानो यह प्रश्न है कि हकूमत को क्या यह अधिकार है कि वह जनता पर अपने मन का या मत का सांचा डाले? या कि राज्य का धर्म है कि जनता को अपने विविध मत, जाति, विधि और वर्ग के भेद के साथ ज्यों-का-त्यों स्वीकार करे? शासन प्रजानुसारी होगा कि राज्यानुकूल? यह प्रश्न भविष्य के लिए अत्यन्त गम्भीर है। उसको इस रूप में रखा जा सकता है कि क्या राज्य (स्टेट) या सत्ता के ऊपर कुछ अंकुश है, या नहीं है? है, तो क्या वह अंकुश स्वयं वह प्रजा ही नहीं है, जिसका प्रबंध और शासन का दायित्व वह राज्य लेता है? पाकिस्तान और भारत के बीच राष्ट्रद्वैत का सिद्धांत जो कसौटी पर चढ़ा हुआ है उससे मानो आगे के

लिए हमें यह निर्णय भी प्राप्त हो जायगा कि क्या कोई स्टेट (Theocratic) मतवादी हो सकती है ? साथ ही इस प्रश्न का भी निबटारा हो जायगा कि मत और विचार की एकता अनिवार्य (Totalitarian) होकर किसी राज्य के लिए क्या वैध और जायज़ ठहराई जा सकती है ?

आज तो मानो तंत्र के और जन के बीच लड़ाई है। तंत्र के लिए जन को रहना होगा और झोंका जायगा ? या जन के लिए तंत्र को बनना होगा, नहीं तो मिटना होगा ? इसका निपटारा होना है।

गांधी जी किसी सरकार के प्रतिनिधि नहीं हैं। वह तनिक भी सरकारी नहीं हैं। फौज नहीं, पुलिस नहीं—सत्ता का कोई चिन्ह नहीं। वह निरीह जन के प्रतिनिधि हैं, उसी के प्रतीक हैं। सच में तो इस या उस, कांग्रेसी या पाकिस्तानी, या हिन्दू या अंग्रेज़ी हकूमत की प्रतिष्ठा से उनको वास्ता नहीं है। वह तो सब सरकारों में, और ज़रूरत होने पर उन सरकारों के विरोध और प्रतिरोध में, जन की और श्रम की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यह उनका काम शांति का समझा जाय या क्रांति का समझा जाय, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता है। और यह काम वह राम का काम समझ कर करते हैं। यानी वह निरा राष्ट्रीय नहीं है, ऐहिक और सामयिक नहीं है; बल्कि मानवीय, आध्यात्मिक और चिरंतन है।

गांधी मानवता की वही अन्तस्थ ध्वनि है। उसे पहचान लिया गय है। वह जागरूक है और मन्द नहीं होगा। बीच के राजकारण के चक्र में भी वह नहीं घिरेगा। वह स्पष्ट, दृढ़ और ऊर्ध्व, जगा ही रहेगा। औ उसे जेल में रोका जायगा तो यह कृत्य ही स्वयं उसकी जगह बोलेगा।

आगामी विश्व-व्यवस्था की इस समय चर्चा है। लेकिन ब्रिटेन अमरीका या किसी और देश का शासक, जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा ं सोचता और चलता रहा है, क्या विश्व-शांति और विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में किसी दूसरी बुद्धि या वृत्ति से निर्णय ले सकेगा? आज अंग्रेज़ है, अम रीकन है, जर्मन है, जापानी है—वह कहाँ है जो आदमी है? सब अभ्यास हैं कि अपने को इस-उस देश का मानें और बाद कहीं अपने को आदमी मानें। वह व्यवस्था क्या विश्व-बन्धुत्व लाने वाली होगी, जहाँ हर व्यवस्थापक अपने देश के स्वार्थ का प्रतिनिधि होगा? क्या इस प्रकार की मन्त्रणा बड़ी शक्तियों को और मजबूत और छोटी शक्तियों को पराधीन रखने का ही साधन न हो जायेगी? क्या ऐसी परिषद् में से शान्ति या व्यवस्था आ सकेगी?

ऐसे समय गांधी ही है जो प्रकृत-मानव का पक्ष लेकर खड़ा है। क्या गांधी ने नहीं कह दिया कि हिंसा से मिलने वाला स्वराज्य उसे नहीं चाहिए? ऐसा राज्य सबका स्व-राज नहीं होगा। आत्म-शासन नहीं, किसी-न-किसी रूप में वह पर-शासन ही होगा। क्या गाँधी ने हमेशा स्पष्ट नहीं किया कि उसका कर्म देश के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है; और वह राजनैतिक नहीं, धार्मिक है?

युद्ध जब यह शान्त होगा, देश आपस में निबट चुके होंगे, तब विजयी पक्ष को अपना हिसाब जनता के हाथों सौंपना होगा। या तो युद्ध के परिणाम स्वरूप साम्राज्य महा-साम्राज्य होंगे और औसत मनुष्य दुगना जकड़बन्द होगा या फिर राष्ट्रीय स्वार्थ की भाषा में सोचने वालों को विश्व-परिभाषा में रहनेवालों के लिए जगह खाली कर देनी होगी। हर

हालत में, इस त्रिभुजात्मक युद्ध की विजयी भुजा को, अब नहीं तो फिर, शेष तीसरी भुजा से निबटना होगा।

यही तीसरी भुजा निहत्थी है, क्योंकि उसके पास काम करनेवाले दो हाथ हैं। दुःख उसका बल है। वह धरती से लगी है, क्योंकि इसी में से सब उठते और अन्त में इसी में आ मिलते हैं। सिर ऊँचा करके जो आज शासक बना है और धमक के साथ धरती पर पैर रखता है, आखिर वह भी धरती का है और उसी में आ मिलेगा। इसलिए इन धरती वालों का बल अहिंसा है। क्योंकि कोई उनसे पर नहीं, सब अपने हैं। इसलिए उनमें वैर नहीं है, पक्ष नहीं है। क्या इङ्गलैंड और क्या जर्मनी—ये अलग-अलग नाम तो काम चलाने भर के लिए हैं। धरती माँ को सब एक हैं। उसे इङ्गलैंड-जर्मनी में अन्तर नहीं। दोनों लड़ते हैं, इसलिए दोनों भूल में हैं, क्योंकि दोनों धरती को उजाड़ते हैं। इस तीसरी भुजा का एक ही धन, एक ही बल और एक ही नियम है—वह है श्रम। ऊपर वालों के विलास के और वैर के सब खेल धरती से लगे लोगों के सतत श्रम पर चलते हैं। इस भुजा का धर्म सहते रहना और मेहनत करते जाना है।

गाँधी और कुछ नहीं है, मानवता के इसी अन्त-स्वरूप का प्रतिनिधि है। वह मनुष्य-जाति का अन्तर्मन है। उसे कुचल कर लड़ा जा सकता है, उसको टाला जा सकता है, अनसुना किया जा सकता है। पर अन्त में उससे सुलझना ही होगा। उससे अपना हिसाब साफ़ किये बिना गति नहीं। इसमें कितने भी दिन लगें, पर होनहार यही है।

बात कुछ बड़ी मालूम होती है। पर यह भूल है कि गांधी मर कर मर जायेगा। शायद अशरीरी होकर वह और प्रबलता से जीयेगा। स्वयं लुप्त होकर जनता के अन्तर्भावों में व्याप्त होकर वह एक ऐसी शक्ति बन उठेगा कि यदि उससे पहले शासकों ने उससे निबटारा न कर लिया होगा तो फिर वह शक्ति, अप्रतिरोध्य और दुर्निवार्य, अटक न सकेगी और किसी की सुनेगी भी नहीं। गांधी-पुरुष के हाथों जो संयत है, जनता की

प्रकृति से मिलकर वही उद्धत और दुर्द्धर्ष हो उठेगा। तब जो न हो जाय थोड़ा है। जन-मन तब एक अन्धे वेग से उभरेगा। उस बाढ़ में क्या-क्या न तहस-नहस हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।

पर वह संभावना शुभ नहीं है। विवेक में से ही मुक्ति आयेगी। आवेग तो नवीन बन्धन की सृष्टि कर उठेगा। इसी से गांधी के जीवन के प्रभाव के दो पक्ष हैं। एक ओर उन्होंने लोक-चैतन्य को जगाया है, तो दूसरी ओर उसी के उफान पर छींटे भी डाले हैं। कहीं भी गर्मी को भड़कने नहीं दिया है। जब तक रोष की अग्नि विवेक की शाँति नहीं बन गई है, गांधी ने उसे दबाया ही है।

राजनीतिक वर्ग के लिए यह अनहोनी बात है। जिस शक्ति को चेताकर राजनीति अपना काम चलाती है, उसी को अस्वीकार करके गाँधी ने अपने नेतृत्व का निर्माण किया है। क्रोध, स्पर्द्धा, द्वेष आदि भड़काकर सब कहीं राजनीतिक दल अपने को संगठित और सशक्त बनाते हैं। यहाँ अकेले गांधी ने ऐसे सब दलों को विजित करके भी जीवित किया है। शासकों के लिए गांधी के प्रभाव का यह पहलू बहुत क़ीमती है, यद्यपि राजनैतिक उस पर दंग हैं।

इस प्रकार जनता के साथ अभिन्न और उसका परम-प्रिय होकर भी गांधी उसका शास्ता है। वह शासकों की भाषा में दूसरे शासकों के साथ निबट सकता है। यह सुविधा गाँधी के साथ ही सम्भव है। अन्यथा लोकनेता (Democratic Leaders) लोक-शासित भी होते हैं, और शांति चर्चा में वे विशेष सहायक नहीं हो सकते। गाँधी पूर्णतया आत्म शासित है, इसलिए वह सर्वोच्च शासक-कोटि का व्यक्ति है। शासकों और नायकों की मंत्रणा में गांधी सिद्धान्तवादी नहीं जंचेगा। आधुनिक राजनेताओं (Diplomats) से गाँधी इसी जगह अलग है। वह अत्यन्त व्यावहारिक है और उँगलियों से काम करना जानता है। वह श्रमिक है और काम-काजी है। वह मुद्दे की बात पकड़ता है और बौद्धिक

घुमावों में नहीं पड़ता। वह आदर्श की चर्चा से काम की बात को अलग कर सकता है। अमरीकी विल्सन की तरह आदर्शवादी योजना में उसका बहकना या उसको बहकाना संभव नहीं है। वह स्वप्नदर्शी होकर भविष्य के लिए वर्तमान को नहीं टाल सकता, न अल्पदर्शी राजनीतिज्ञ की तरह वर्तमान के लिए भविष्य को क़ीमत में दे सकता है।

उसकी नीति सीधी है। अहिंसा के लिए उसे चर्चा नहीं, चर्खा चाहिये। मानव के विषम सम्बन्ध भावना मात्र से सम और शुद्ध न होंगे, उसके लिए कर्म चाहिए। कर्म यानी श्रम। उत्पादक श्रम को केन्द्र मान कर हमें अपने लिए नवीन अर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना होगा। इससे धन केन्द्रित न होगा। एक ओर दरिद्रता का प्रमाद और दूसरी ओर विलास का आलस उससे समाप्त होगा। संग्रहीत धन से औरों में दैन्य और संग्रहाधिपति में दंभ बढ़ता है। इस तरह लोभ और द्वेष का चक्कर चल पड़ता है। तब अस्त्र-शस्त्र तैयार होते हैं, जिससे सम्पत्ति की रक्षा और बढ़वारी की जा सके। इस सम्पत्ति को मूल में लेकर शासन-संस्था का जन्म होता है। अपने और प्रजा के बीच छोटे-मोटे सम्पत्तिशालियों और अधिकारियों की श्रेणी पैदा करके शासन अपने को अनिवार्य बनाता है। विभाजन हकूमत का मन्त्र है। ऐसी अवस्था आने पर श्रम की क़ीमत लगभग समाप्त हो जाती है और चाटुकारिता और चतुराई की क़ीमत बढ़ जाती है। श्रमिक दलित होता है और हुक्काम के स्वार्थ में साधनभूत होकर श्रमहीन अपने लिये प्रभुता प्राप्त करता है। ऊपर के लोग तब समय काटने और खाना पचाने के लिए तरह-तरह के उपाय रचते हैं और श्रमिक को पसीना बहा कर भी समय और खाना नहीं जुटता। यह वैषम्य जीवन के प्रकृत मूल्यों को भुलाने से पैदा होता है और गांधी का प्रयत्न उन्हीं मूल्यों की पुनः प्रतिष्ठा है।

गांधी के जीवन में कोई जटिलता नहीं है। वह सहज और स्वच्छ है। दूसरे की बुद्धि उस पर अपने लिए गोरखधन्धा रच सकती है, लेकिन

उसमें उलझन नहीं है। उसका मूलभाव है श्रम और प्रेम। श्रम के विना प्रेम विलास हो जाता है, यज्ञ नहीं रहता। वह ऐसे अकृतार्थ भी होता है। जो प्रेम भोग है वह श्रमहीन है और स्वार्थमय है। वही योग होकर कर्म रूप और पारमार्थिक होता है। श्रम से चेतना स्वाधीन होती है और व्यक्ति निर्भीक बनता है। तब वह अपने को इन्कार करने की लाचारी में नहीं पड़ता और अपने भीतर के सत्य के स्वीकार में बाहरी किसी बल के भी प्रतिकार को उद्यत रहता है। ऐसा प्रेमी, यानी अहिंसक, सत्याग्रही होकर विद्रोही होता है।

यह प्रकृत मानव-मान का पक्ष शासकों के विचार में कदाचित् ही कभी उपस्थित होता हो। वे दफ्तरों द्वारा नक़शों और अंक-गणनाओं से मानव-जाति की अवस्था का अनुमान कर अपनी व्यवस्था किया करते हैं। जनता उनकी फाइलों में रहती है। उसके सुख-दुःख के साथ उनके मन के आन्तरिक सूत्रों का विशेष सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृत नहीं बल्कि मुखर पक्ष की ओर ही उनका ध्यान जाता है और तब या तो लोभ देकर या दमन द्वारा उसे चुप किया जाता है। इन शासकों की व्यवस्था में, अथवा युद्ध में, व्यक्ति एक अंक होता है और गणित के सूत्र से उन्नति नापी जाती है।

दूसरी ओर भावुक लोग हैं जो समक्ष के व्यक्ति में विश्व देखते हैं और वहीं अपने राग का केन्द्र बना बैठते हैं। ऐसा राग द्वेष पर पलता है। अधिकांश जन इसी गणना में आते हैं। ये ही फिर शासित होते हैं।

इन दोनों वर्गों में ऐक्यरूप, शासकों में शासक और साधारणों में साधारण, है गांधी। उनकी जनमन के साथ एकता स्थापित हुई है। फिर भी उनकी दृष्टि जनता की अनेकता के पार कहीं ऐसी आंतरिकता पर है कि दायें-बायें असंख्य मरते हुओं, बिलखते हुओं, के बीच भी उनकी गति, या उनकी मुस्कराहट, मन्द नहीं होती। वह निर्ममों में निर्मम हैं। शासक के समान बुद्धि की तटस्थता और भक्त के समान हृदय की आत्मीयता— गांधी एक साथ स्वयं में दोनों का समन्वय हैं।

गाँधी अपने अकेले व्यक्तित्व में दोनों तटों के संयोजक हैं। आदर्श और यथार्थ, स्वप्न और श्रम, धर्म और राजकारण, समन्वय और विश्लेषण। इससे इस युद्ध के अनन्तर, जब कि विश्वशाँति परिषद् हो, या जगत्-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार हो, गांधी की उपस्थिति वहाँ अनिवार्य है। गांधी न हुए तो उनकी नीति तो होगी ही। उस दृष्टि और उस नीति से अलग किसी दूसरी तरह मानव-हित-साधन और स्थिर शाँति का विधान हो सकेगा, यह सम्भव नहीं दीखता।

: ६ :

अगर गांधी जी होते ?

'अगर गांधी जी होते?'— यह ठाली की कल्पना कुछ इस आदत का परिणाम है कि हम गांधी जी की तरफ देखते रहे हैं। उस जिज्ञासा के मूल में शायद यह भाव हो कि वह होते तो हमारे कन्धों पर हमारा ही बोझ न आ रहता।

फिर भी आपने उस ढंग से वह प्रश्न सामने ला रखा है तो अनुमान को उधर ले जाना उपयोगी भी हो सकता है, ऐसा लगता है।

गांधी जी कुछ थोड़े काल इस धरती पर नहीं रहे। सामान्य से काफी ज्यादा उन्होंने आयु पायी और यह सारा जीवन सतत कर्म से भरा रहा। विश्राम और बीमारी का लाभ औसत से उन्हें बहुत ही कम मिला। उनके इस तमाम जीवन-विस्तार में, आदि से अन्त तक, एक सूत्र व्यापा हुआ देखा जा सकता है। जैसे गांधी जी का जीवन उतना अपना न था, अतः बिखरा और बँटा न था; जितना भगवान् का था, इससे एक लोकोत्तर लगन में पिरोया हुआ था। मानो एक सिद्धान्त, एक जीवन-नीति, एक जीवन-दर्शन का वह प्रयोग मात्र था। उसका स्पष्टीकरण, चित्रीकरण था। मानव-धर्म का वह एक भाष्य था। और मैं मानता हूँ कि उस जीवन को विराम ठीक वहां मिला जहाँ भाव और अर्थ की दृष्टि से गांधी-वाक्य भी विराम पर पहुंच जाता है।

जीवन को यज्ञ बनाना होगा और मृत्यु को उसका अन्तिम अर्घ्य। जैसे यही सन्देश गांधी जी ने अपने चरित्र द्वारा लिखा और अपनी मृत्यु द्वारा उसको यथोचित विराम दिया।

जहाँ तक 'सिद्धान्त' का पहलू है, कोई प्रश्न गूढ़ नहीं बचता। जैसे हर कुछ गांधी जी के उदाहरण में खुलता हुआ देखा जा सकता है। समस्या—व्यक्ति की, समाज की या राज की—कौन ऐसी बचती है जिसके हल की तरफ संकेत वहाँ न हो। यों समस्याएं स्वयं में समाप्त कभी होनेवाली नहीं हैं। ऐसा हो तब तो जीवन का अन्त भी हुआ मानिये। इसीसे देखते हैं कि गांधी जी के उठने के बाद और आसपास समस्याएं जैसे विकट से और विकटतर ही हुई हैं। यानी समस्याओं का निपटाना उनका काम न था। अपनी समस्याएं हमें स्वयं झेलनी और चुकानी होंगी। यह आशा झूठ है कि हमारी उलझनों को लोकोत्तर कोई अवतार आकर सुलझायगा। नहीं, उसके लिए स्वयं हमको जूझना होगा। अवतार वह नहीं है जो डूबते को तारता है। वह तो वह है जो स्वयं तिर कर डूबते को तिरने की राह सुझा जाता है।

इस तरह गांधी जी के जाते ही लगता है जैसे अन्धी और अँधेरी ताकतों ने हमें घेर लिया है। अभाव तो कहीं रहता नहीं, चारों दिशाएं उसे भरने को टूट पड़ती हैं। गांधी जी के तिरोभाव पर भी सहसा लगता है जैसे प्रकाश गया तो जाने कहाँ-कहाँ से अन्धकार जगह भरने को आ गया है।

यह स्वाभाविक ही है। गांधी जी का वेग यदि पांव उखाड़ कर हमें अपने साथ बहा ले चला था तो अनिवार्य है कि गांधी जी के जाने पर हम अपने पैर अपने नीचे पाएं और देखें कि गांधी जी के नहीं अब तो हम अपने ही अनुसार चलना चाहते हैं। इसमें असंगत कुछ नहीं है। गांधी जी के रहते जो उनके त्याग पर चले, वे गांधी जी के बाद अपने भोग पर क्यों न आजाते? इस तरह, जान पड़ता है, गांधी जी अपने साथ अपनी राह भी लेते गये हैं। अब हिन्दुस्तान की कांग्रेस और उसकी स्वराजी सरकार उस तरफ से आज़ाद और बेलाग है। और यह अच्छा ही है।

लेकिन गांधीजी वेग के ही न थे। केवल वेग के लोग तो आते हैं और चले जाते हैं। मानो वे किसी अन्धी वासना के प्रतीक होते हैं। इससे उनका मूल्य सामयिक रहता है। इतिहास उनके ऊपर से निकल जाता है। जैसे उनमें एक ही सतह होती है, विस्तार; गहराई व ऊंचाई नहीं, जो काल के तल को भेद कर पार भी फैलती है। ऐसे लोग अन्धड़ उठाने के अलावा कुछ दन या बना नहीं पाते! लेकिन गांधी जी प्रकाश के व्यक्ति थे। प्रकाश इतिहास जगाता है। वह सहस्राब्दियों के आर-पार दीखता है। गांधी जी के साथ यह अनिवार्य है कि राजनैतिक क्षेत्र में जो उनके साथ लगे दीखे वे अब दुविधा में लुटे और खोये दिखाई दें। और गांधी जी के तत्व के लिए वे रह जाँय जो उनके साथ लगे नहीं रहे, बल्कि जो स्वयं होकर रहे इससे कुछ अलग और दूर रहे। कारण, वे वेग नहीं प्रकाश चाहते थे। राजनीतिक प्रवृत्तियों में ऐसे लोग कम दीखेंगे। पर गांधी जी की लौ बुझ न पायगी तो उन्हीं के बल पर। एक दिन होगा कि वह लौ फैलेगी और ऊंची उठेगी कि जगत् उसके प्रकाश में अपना मार्ग पहचाने और आगे बढ़े।

गांधी जी की प्रवृत्तियां तो अनेक रहीं, पर प्रेरणा एक; समय-समय पर उस प्रेरणा ने अभिव्यक्ति की नवीन भाषा ली। पर निष्ठा सदा सत्यो-न्मुख रही और गांधी जी, देश या स्वराज्य किसी के खातिर, सत्यतीर्थ की अपनी यात्रा में विघ्न नहीं स्वीकार कर सके। अहिंसा में से उन्हें सत्य पाना था। ऐसा था, इसीलिए नई-नई चुनौतीं उनके आगे आई और नित-नये कर्तव्य की पुकार उन्हें प्राप्त होती गई। पूर्णता से और पूर्णता की ओर उनका प्रयाण रहा। कभी वह अपनी ही प्रवृत्ति या अपने ही मन्तव्य की सीमा से नहीं बंधे। और इसीलिये उनसे रचनात्मक कर्म और उसके कर्मियों को नई-नई सूझ और नये-नये सूत्र मिलते चले गये।

यह पूर्णता से पूर्णतरता की ओर बढ़ते चलने में ही गांधी जी की विशेषता है। कभी वह जीवन अमुक धारणा (रूटीन) की नियमितता में नहीं घिरा। सृष्टि का नवनवोन्मेष सदा उसे स्फूर्त, प्रवाही और हरियाला

बनाये रहा। कभी वह जीवन जमकर कड़ा नहीं पड़ा। इस तरह प्रत्येक परिस्थिति और प्रत्येक सूचना के प्रति उसकी सर्जनात्मक प्रतिभा जागरूक और अचूक रही। जगत् को नाना रचनाओं का वह निरन्तर दान करती चली गई।

'अगर गांधी होते'—तो निश्चय दो फरवरी को वर्धा जाते। वहाँ रचनात्मक कार्यकर्ता और दूसरे अहिंसक जीवन-नीति के विश्वासी जमा होने वाले थे। अनेक सूत्री रचनात्मक कार्य को पहले उन्हें एक सूत्र और एक आत्मा में गूंथ देना था। वह देख रहे थे कि अंगोपांग फैल रहे हैं, आत्मा सिकुड़ रही है। देख रहे थे कि संगठन ऊपर जम रहा है और व्यक्ति तले दब रहा है। किन्तु अन्त में तो श्रद्धा को लेकर अटूट रहने वाला व्यक्ति ही है, तंत्र तो जड़ और सामयिक है। इससे भारत को यदि उबरना है, और अहिंसक रचना यानी शुद्ध संस्कृति का फिर से नमूना बनना है, तो खंड-खंड फैली सूखी प्रवृत्ति में आत्मत्त्व दहकाना होगा। समग्र ग्राम-सेवा का रूप निखारना होगा ऐसे सेवकों को गांव-गांव में जा गड़ना और इस तरह सच्चे लोकतंत्र को धरती में से उगाने में लग जाना होगा।

यह तो आंतरिक और तात्कालिक काम।

लेकिन इसके बाद? वर्धा में एकाध सप्ताह के भीतर इस काम के पूरा होने के बाद?

मुझे निश्चय है कि इसके बाद का काम उनके आगे और भी अमोघ होकर स्पष्ट था। उस सम्बन्ध में उन्हें रंचमात्र संशय न था। न रत्ती चूक उनसे उस बारे में होने वाली थी।

हिन्दुस्तान उनकी छाती पर एक से दो हुआ था। उनकी घोषणा थी कि किसी का ईमान 'राष्ट्रद्वैत' है तो मेरा 'राष्ट्रैक्य' है। मैं उसके लिए मर मिटूंगा। लेकिन फिर भी कांग्रेस की रजामंदी से हिन्दुस्तान बीच से काटा गया। हिन्दू और मुसलमान, जिनकी एकता उनका व्रत रही, एक

दूसरे के गले पर छुरी लेकर टूटे। ऐसी नृशंस नर-हत्या हुई कि कभी न हुई होगी। करोड़ों आदमी घरवार से उखड़ कर बेघर और बेगाना हुए। गांधी जी की आंखों सामने यह हुआ! लेकिन गांधी जी ने कहा, "हुकूमतें दो चाहे हुईं, दिल दो नहीं हुए और नहीं हो सकते।" गांधी जी तो जानते थे, देखते थे, कि सारी मानवता का दिल जब एक है, तब हिन्दू-मुसलमान भला कितने दिन अपने को एकदम दो मानकर जीते रह सकेंगे। यह तो बच्चों का खेल है और क्रोध और द्वेष की बन आई है। गुस्सा गिरेगा तब दोनों रोएंगे और गले मिलेंगे। तब पाएंगे कि दुई ऊपरी थी, भीतर का दिल तो सदा एकता का ही प्यासा था।

यह श्रद्धा उनसे एक क्षण के लिए भी दूर नहीं हो सकती थी। इस लिए उन्होंने नहीं माना कि नए बने हुए पाकिस्तान में से जिन हिन्दू और सिक्खों को भाग आना पड़ा है वे वापिस वहां नहीं पहुँच पायेंगे। उन्होंने कहा कि पाकिस्तानी मुसलमान को साबित करना होगा कि वह इन्सान है। नहीं तो गांधी जी न खुद चैन लेंगे, न उसे चैन लेने देंगे। सब बर्बरियत के बावजूद वह अनुभव करते थे कि अगर भगवान् है तो इन्सान में जरूर है। आज वह सोया है तो कल उसे जाग पड़ना है। इन्सान जानवर नहीं हो पायगा। हुआ है, तो नहीं रह पायेगा। मुझे तो उसके अन्दर के भगवान के आगे अलख जगाये ही रहना है। इसलिए उन्होंने हिन्दुस्तान के हिन्दू से कहा कि, जो भी हो, मुसलमान तुमसे कम इन्सान नहीं है और हिन्दुस्तान की जमीन पर उसे वह सब अधिकार होंगे जो एक हिन्दू को हैं। वह अनथक पुकारते रहे कि ऐ हिन्दुओ! हिन्दू धर्म को मारना नहीं चाहते तो मुसलमान के साथ सलूक करो। सही कि आग लगी है, मगर यह तो और वजह है कि लगी में और आग न लगाओ। दीवानगी फैली है तो क्या दीवाने बनोगे? यह मुंह से कहा, और बात मनों न उतरी, तो अनशन के जरिए यही कहना शुरू किया!

साफ था कि यहां हिन्दुस्तान में मुसलमान की जान की तरफ से उन्हें

जरा ढारस हो कि पाकिस्तानी मुसलमान के सामने उन्हें हो रहना है। और वहाँ सदा देनी है कि 'ऐ रसूलेपाक को मानने वालो, ऐ दीनदारो, बताओ कि क्या हिन्दू को तुम यहाँ नहीं बसने देने वाले हो ? बताओ कि क्या हक़ है जो तुम्हारा है, और हिन्दू का नहीं हो सकता ? कौन वह दीन है कि जो यह बताता है ? हिन्दू जब तक यहाँ आराम से नहीं रह सकता, सलामती से गुजर-बसर नहीं कर सकता, तब तक क्या तुम्हारा यह पाकिस्तान है ? क्या इस तरह वह नापाक नहीं ठहरता ?'

मेरे मन में रत्ती भर सन्देह नहीं है कि वर्धा को एकाध सप्ताह देने के बाद उन्हें पाकिस्तान जाना और वहां सच्चे इस्लाम का आइना पेश करके कहना था कि इसमें देखकर कहो कि क्या तुम मुसलमान हो ?

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में शरणार्थियों की समस्या कितनी विकट रही, कहना व्यर्थ है। दोनों तरफ के अर्थतन्त्र को उसने झकझोर डाला। हकूमतों के पांव उससे डगमगाये रहे और अब भी डगमग हैं। शरणार्थी जब तक हैं, और उनकी याद उनके साथ है, दोनों हकूमतों की आपसी जलन और अनबन भी सो नहीं सकती। ऊपर समझौते होते रहेंगे, नीचे आग भी सुलगी रहेगी। अन्याय में नींव डाल कर कौन इमारत खड़ी रही है ? पाकिस्तान अगर मुस्लिम राष्ट्र होकर रहता और उठता है, तो क्या वह मुकाबले में हिन्दू राष्ट्र का आप ही समर्थन नहीं बन जाता ? तब यहाँ हिन्दुस्तान में हिन्दू जातीयता (राष्ट्रीयता) की बाढ़ क्यों कर रुक सकेगी ? इस तरह आपस का अलगाव और बैर-विरोध ही सत्य हो रहेगा। यदि नहीं थे कभी तो अब वे दो राष्ट्र होंगे और एक दूसरे के अहित में अपना हित देखेंगे।

साफ है कि अन्तर्राष्ट्रीय उलझन इस समस्या के आस-पास उलझी ही रहेगी। हथियार के जोर से इसका निबटारा हो सकेगा, यह भ्रम है। दुनिया अब इतनी एक है कि किन्हीं दो हकूमतों की लड़ाई दुनिया की लड़ाई बने बिना नहीं रह सकती। (रहती है तो मान लेना होगा कि बड़ी

ताकतों का स्वार्थ उनके द्वारा खेल रहा है।) और तीसरे महा समर को अपने आंगन में न्योतने जैसी भयंकर भूल कोई न होगी।

गांधी जी सवाल की इसी जड़ में जाने वाले थे। जातीय द्वेष को रहने देकर आगे खुशहाली और शांति के सपने की तरफ नहीं बढ़ा जा सकता। हकूमतें इस काम में बेकार हैं। विद्वेष बढ़ा सकती हैं, उसे वे काट नहीं सकतीं। हकूमतें चाहे-अनचाहे स्थापित स्वार्थ बन रहती हैं। इसलिए उनके आस-पास द्वेष मंडराता और पुष्ट होता है। पर जनता तो द्वेष में फुंकती ही है, इससे वह जानती है कि द्वेष असली चीज नहीं। गांधी जी के मन में तय था कि जनता, पाकिस्तान की या हिन्दुस्तान की, अन्त में उनकी बात सुनेगी। आखिर सरकारें जनता के हाथ की पुतली हैं। इससे जनता के बीच में जाकर जन-मत को चेताना होगा। कोई सरकार जन-मत जागने पर उल्टी चल सकती ही नहीं है। इसलिए न उन्हें हिन्दुस्तान की हकूमत की तरफ न पाकिस्तान की हकूमत की तरफ देखना था। सीधे आदमी के दिल के दरवाजे खट-खटाने में उन्हें लग जाना था। मैं निश्चित हूँ कि यदि गांधी जी होते तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बिछात पर, अपने झगड़ों की ओट में, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान मुहरों के मानिंद चले नहीं जा सकते थे।

यानी, दूसरा काम गांधी जी का अवश्य ही यह होने वाला था कि हिन्दू और मुसलमान शरणार्थियों को ढारस दें, हिम्मत दिलायें; और ऐसा लोकमत पैदा करें, हिन्दुस्तान से ज्यादा पाकिस्तान में, कि शरणार्थी अपनी-अपनी जगह और अपने-अपने धंधों में वापिस आ बसें। दोनों जगह उनके धर्मस्थान सुरक्षित और नागरिक अधिकार समान रहें।

तीसरी बात, जिसके सम्बन्ध में वह कभी शिथिल नहीं हो सकते थे, यह थी कि शासन कहीं सैनिकता और सत्तावाद की ओर न बढ़े। अन्त में हकूमत को अपने आप में अनावश्यक हो रहना है। इससे व्यवहार में उसको उत्तरोत्तर उसी ओर ले जाने पर ध्यान रखना होगा। इस तरह विकेन्द्रीकरण नहीं, सत्ता का; कर्म का, विकेन्द्रीकरण इष्ट है। अधिकाधिक

जरा ढारस हो कि पाकिस्तानी मुसलमान के सामने उन्हें हो रहना है और वहाँ सदा देनी है कि 'ऐ रसूलेपाक को मानने वालो, ऐ दीनदा बताओ कि क्या हिन्दू को तुम यहाँ नहीं बसने देने वाले हो ? बताओ क्या हक़ है जो तुम्हारा है, और हिन्दू का नहीं हो सकता ? कौन दीन है कि जो यह बताता है ? हिन्दू जब तक यहाँ आराम से नहीं सकता, सलामती से गुजर-बसर नहीं कर सकता, तब तक क्या तुम्हारा पाकिस्तान है ? क्या इस तरह वह नापाक नहीं ठहरता ?'

मेरे मन में रत्ती भर सन्देह नहीं है कि वर्धा को एकाध सप्ताह दे के बाद उन्हें पाकिस्तान जाना और वहां सच्चे इस्लाम का आइना पे करके कहना था कि इसमें देखकर कहो कि क्या तुम मुसलमान हो ?

हिन्दुस्तान और पाकिस्तान में शरणार्थियों की समस्या कितनी विक रही, कहना व्यर्थ है। दोनों तरफ के अर्थतन्त्र को उसने झकझोर डाला हकूमतों के पांव उससे डगमगाये रहे और अब भी डगमग हैं। शरणा जब तक हैं, और उनकी याद उनके साथ है, दोनों हकूमतों की आपस जलन और अनबन भी सो नहीं सकती। ऊपर समझौते होते रहेंगे, नी आग भी सुलगी रहेगी। अन्याय में नींव डाल कर कौन इमारत ख रही है ? पाकिस्तान अगर मुस्लिम राष्ट्र होकर रहता और उठता है, क्या वह मुकाबले में हिन्दू राष्ट्र का आप ही समर्थन नहीं बन जाता ? त यहाँ हिन्दुस्तान में हिन्दू जातीयता (राष्ट्रीयता) की बाढ़ क्यों कर सकेगी ? इस तरह आपस का अलगाव और वैर-विरोध ही सत्य हो रहेगा यदि नहीं थे कभी तो अब वे दो राष्ट्र होंगे और एक दूसरे के अहित अपना हित देखेंगे।

साफ है कि अन्तर्राष्ट्रीय उलझन इस समस्या के आस-पास उलझ ही रहेगी। हथियार के जोर से इसका निबटारा हो सकेगा, यह भ्रम है दुनिया अब इतनी एक है कि किन्हीं दो हकूमतों की लड़ाई दुनिया की लड़ाई बने बिना नहीं रह सकती। (रहती है तो मान लेना होगा कि बड़ी

ताकतों का स्वार्थ उनके द्वारा खेल रहा है।) और तीसरे महा समर को अपने आंगन में न्योतने जैसी भयंकर भूल कोई न होगी।

गांधी जी सवाल की इसी जड़ में जाने वाले थे। जातीय द्वेष को रहने देकर आगे खुशहाली और शांति के सपने की तरफ नहीं बढ़ा जा सकता। हकूमतें इस काम में बेकार हैं। विद्वेष बढ़ा सकती हैं, उसे वे काट नहीं सकतीं। हकूमतें चाहे-अनचाहे स्थापित स्वार्थ बन रहती हैं। इसलिए उनके आस-पास द्वेष मंडराता और पुष्ट होता है। पर जनता तो द्वेष में फुंकती ही है, इससे वह जानती है कि द्वेष असली चीज नहीं। गांधी जी के मन में तय था कि जनता, पाकिस्तान की या हिन्दुस्तान की, अन्त में उनकी बात सुनेगी। आखिर सरकारें जनता के हाथ की पुतली हैं। इससे जनता के बीच में जाकर जन-मत को चेताना होगा। कोई सरकार जन-मत जागने पर उल्टी चल सकती ही नहीं है। इसलिए न उन्हें हिन्दुस्तान की हकूमत की तरफ न पाकिस्तान की हकूमत की तरफ देखना था। सीधे आदमी के दिल के दरवाजे खट-खटाने में उन्हें लग जाना था। मैं निश्चित हूँ कि यदि गांधी जी होते तो अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की बिसात पर, अपने झगड़ों की ओट में, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान मुहरों के मानिंद चले नहीं जा सकते थे।

यानी, दूसरा काम गांधी जी का अवश्य ही यह होने वाला था कि हिन्दू और मुसलमान शरणार्थियों को ढारस दें, हिम्मत दिलाये; और ऐसा लोकमत पैदा करें, हिन्दुस्तान से ज्यादा पाकिस्तान में, कि शरणार्थी अपनी-अपनी जगह और अपने-अपने धंधों में वापिस आ बसें। दोनों जगह उनके धर्मस्थान सुरक्षित और नागरिक अधिकार समान रहें।

तीसरी बात, जिसके सम्बन्ध में वह कभी शिथिल नहीं हो सकते थे, यह थी कि शासन कहीं सैनिकता और सत्तावाद की ओर न बढ़े। अन्त में हकूमत को अपने आप में अनावश्यक हो रहना है। इससे व्यवहार में उसको उत्तरोत्तर उसी ओर ले जाने पर ध्यान रखना होगा। इस तरह केन्द्रीकरण नहीं, सत्ता का, कर्म का, विकेन्द्रीकरण इष्ट है। अधिकाधिक

हमको लोकचेतना से काम लेना और परस्पर सहयोग को उभार कर चलना है। नहीं तो मानव-शक्ति तल में जड़ी-भूत रहेगी और रगड़-झगड़ और प्रतिस्पर्द्धा से नाना समस्याएं उत्पन्न करेगी। तब हठात् पैसे के जोर से, यानी स्फीति (Inflection) पैदा करके, सरकार को अपने को कायम रखना और बड़ी-बड़ी योजनाओं के नक्शों के फेर में जनता और उसके सवाल को डाल रखना होगा।

कंट्रोल को गांधी जी कुछ उसी तरह की बला मानते थे। ये आदमी को असहाय और सरकार को सर्व-सहाय बनाने की दिशा का कदम है। इसी राह आगे चलकर सरकारों को अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा में उतरना पड़ता है और युद्धोद्योगों की तैयारी बांधनी पड़ती है। भीमोद्योग भी कुछ उसी तरह की व्याधि हैं। उनसे स्थापित स्वार्थों की गिल्टियाँ कुछ इस तरह उपजती हैं कि आखिर एक ही उपाय रह जाता है और वह सार्वतान्त्रिक राज्य की स्थापना। उसी को दूसरे शब्दों में कहें 'स्टैट कैपीटलिज़्म'। भीमोद्योग से पदार्थ की बहुतायत तो होती है, लेकिन उसका अधिकांश स्टेट की कृत्रिम बुभुक्षाओं को भरने में जाता है और शेष वितरण की विषमता और कठिनता के कारण यथास्थान नहीं पहुँचता। इस तरह भीमोद्योगों से जब कि एक तरफ अभाव की समस्या दूर नहीं होती, तब वर्ग-विग्रह और वर्ग-विद्वेष की नई समस्या और उत्पन्न हो जाती है। यही धरती है जिस पर उन लालसाओं की खेती होती है जो जाने अनजाने एकछत्र सत्ता को अनिवार्य बनाती हैं।

गांधी जी कभी यह स्थिति नहीं आने देने वाले थे कि अधिकार तो सब सरकार के पास रहें और जनता के पास सिर्फ कर्तव्य। अपनी वाणी से और कर्म से वह बराबर वातावरण में यह भावना भरते रहते थे कि राजा तो सेवक है और प्रजा मालिक है। अफसर नौकर है और जनता उसको वेतन-देनेवाली। इस तरह अधिकार सब जनता के पास हैं, और अफसर के पास केवल कर्तव्य। राजा और प्रजा के बीच सेवक और सेव्य

का सम्बन्ध बदल कर उल्टा हो जाय, राज्य जनता की सेवा करे तो नहीं बल्कि उससे सेवा चाहे,—यह गांधीजी एक क्षण के लिए नहीं सह सकते थे। भूखी और नंगी जनता के प्रतिनिधि होकर वह सरकार से जवाब तलब करने वाले थे। इसी अर्थ में सरकार के वह संरक्षक और सहायक थे। अन्यथा क्या निरंतर और सतत वह बाग़ी ही नहीं रहे ? वही आगे भी रहने वाले थे। सरकारों को सदा ही उनसे थर्राते रहना था, नहीं तो उन्हें प्रजा के प्रति विनम्र बनना था।

: ७ :

गांधीवाद का भविष्य

आपके विशेषांक के लिये कुछ लिखने की आपकी आज्ञा पर, अचरज है, मैं क्या लिखूँ ? आपकी प्रस्तावित लेख-सूची में एक शीर्षक है : "गांधीवाद का भविष्य।" इस विषय पर जब तब मेरे मन में विचार उठते रहे हैं। सोचता हूँ, उनको ही यहाँ स्वरूप देने का यत्न करूं।

एक बात स्पष्ट है। जब तक गांधी हैं तब तक गांधीवाद शब्द ही मिथ्या है। गांधी इतने अधिक सजीव और विकासशील हैं कि वह अपने समूचेपन में क्या हैं, यह पूरी तरह बांध कर नहीं कहा जा सकता। वह अपने जीवनकाल में किसी गांधीवाद को प्रारम्भ नहीं होने देंगे। गाँधीवाद के मानी ही होते हैं कि गांधी-शास्त्र की भाँति ज्ञेय और ज्ञात हैं। ज्ञात ही नहीं बल्कि वह ज्यामित-प्रतिपाद्य की भांति सुनिश्चित और रेखा-बद्ध हैं। लेकिन जो रेखा-बद्ध हैं, वह और कुछ भी चाहे हो, गांधी वह बिल्कुल नहीं है।

गांधी अपने पैर के नीचे ज़रा भी घास नहीं उगने देंगे। वह अपने प्रति इतने अधिक सच्चे और इतने अधिक सावधान हैं कि व्याख्याकार का कोई घेरा अपने चारों ओर वह नहीं बँधने देंगे। वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं, विधानाधीन नियम नहीं हैं।

ठीक इसी से प्रश्न होता है कि जब गांधी न होंगे तब भविष्य उनकी वाणी और उनके चरित्र को लेकर कैसे वर्तन करेगा ? क्या गाँधी को लेकर कोई वाद बनेगा, या कि पंथ या धर्म बनेगा ? गाँधी को

लेकर भविष्य क्या कुछ करेगा, यह बड़ा गम्भीर प्रश्न है और यह प्रश्न आज के चिन्तक के लिये अनिवार्य है। आज दिन गांधी का प्रभाव इतना गहरा और इतना विस्तृत है कि यह असम्भव है कि गांधी-नाम की प्रेरणा अभी चुक जाय और भावी इतिहास को प्रभावित न करे। मेरी तो धारणा है कि भारतवर्ष के ही नहीं, प्रत्युत मानवता के आगामी इतिहास में गांधी के नाम का बड़ा भाग होगा।

पर वह क्या होगा?

यहाँ एक और बात साफ़ दीखती है। गांधी का अनुयायी स्वयं गांधी नहीं है। वह स्वयं में गांधी नही होगा। इसलिये गांधी के व्यक्तित्व की लचक, उस व्यक्तित्व की विविधता और सम्पूर्णता उसमें नहीं होगी। गांधी अहिंसक है, अनुयायी अहिंसावादी होगा। वह किसी कदर कट्टर होगा, एकांगी होगा। वह गांधी की भांति सत्य का शोधक इतना नहीं जितना कि माने हुए सत्य का रक्षक होगा। सत्य उसके लिये एक उपलब्धि और अन्तिम साध्य ही नहीं होगा, प्रत्युत उसके निकट वह एक संपत्ति, एक स्वत्व भी होगा।

गांधी के जीवन में एक महा-समन्वय की अभिव्यक्ति हो रही है। वह भक्त है, पर कूट राजनीतिज्ञ भी है। महात्मा है, पर संसारी भी कम नहीं है। आदर्शात्मक है, पर व्यवहार में किसी से कम विचक्षण नहीं है। समन्वय की वह शक्ति गांधी के बाद धीमे-धीमे कम देखी जायगी। परिणाम यह होगा कि गांधीवाद आदर्श अधिक और लोकतन्त्रोपयोगी वाद कम रह जायगा। यानी गांधी की अनुपस्थिति में लोक-नेतृत्व गांधीवादियों के हाथ न रहेगा। गांधीवाद एक प्रकार की पवित्रता और नैतिकता का बोधक होगा। उसकी प्रबलता और तेजस्विता कम हो जायगी। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर लोक-कर्म की प्रगति और गांधीवाद इन दोनों में एक प्रकार की रगड़ अवश्यम्भावी है। उनमें संघर्ष होगा। लोक-कर्म गांधीवाद को ललकारेगा, दुतकारेगा। संघर्ष जोर का होगा।

ऐसे समय मुझ को स्पष्ट दीखता है कि गांधीवाद प्रगति की राह में रोड़ा समझा जाने लगेगा। आशय है कि लोकनायकों और लोकनेताओं का वर्ग अपने कामों में गाँधीवाद को एक बड़ी भारी अड़चन के रूप में देखने लगेगा। मेरी धारणा है कि सामने से गांधी के अस्तित्व के लोप हो जाने के बाद कोई पन्द्रह-बीस वर्षों में ही स्थिति इस अवस्था को पहुँच जायगी। गांधीवाद को चुनौती मिलेगी और उसे चुनौती स्वीकार करनी पड़ेगी।

मेरे मन में यह प्रतीति पत्थर की भाँति पक्की होती जाती है कि जल्दी ही समय आयगा जब कुछ गाँधीवादियों को शहीद बनना पड़ेगा। वे समाजतन्त्र के प्रति विद्रोही करार दिये जावेंगे और उनको दण्डित किया जायगा। वह समय गांधीवाद की परीक्षा का होगा। इसी के साथ यह विश्वास मुझे है कि कुछ गांधीवादी निकलेंगे जो कच्चे साबित नहीं होंगे और अपनी टेक पर डटे रहेंगे।

गांधीवाद के परीक्षण का यह काल कितने दिन चलेगा, यह कहना कठिन है। परीक्षा तीखी होगी। पर गांधी का नाम जिन तत्वों का बोधक है वे तत्व हारेंगे भी नहीं। कसौटी पर वे खरे उतरेंगे और ज्यों-ज्यों दमन बढ़ेगा गाँधीवाद की लपटें वैसे ही वैसे फैलेंगी। मेरी अपनी धारणा है कि वह विश्व के इतिहास में एक नया युग होगा। दो संस्कृतियों का तब अन्तिम संघर्ष होगा। एक आध्यात्मिक, दूसरी भौतिक। गाँधीवाद इस समय वाद नहीं रहेगा। वह धर्म हो जायगा। यह उस समय एक ऐसा जबरदस्त सजीव स्वप्न होगा कि समस्त मानवता उसको लेकर मुक्ति की चाह में हुँकार भरने लगेगी। उसकी गरज को और उसकी रौ को रोकना असम्भव होगा। इस्लाम और ईसाइयत के प्रारम्भिक फैलाव में जो दृश्य गुजरे हैं, उनसे भी महान् दृश्य विश्व के भावी इतिहास में गांधीवाद को लेकर घटित होंगे।

लेकिन ध्यान रहे गांधी इस समय तक अपने आप में एक व्यक्ति

अथवा चरित्र नहीं रहेगा, प्रत्युत सम्पूर्णतः वह एक स्वप्न, एक Vision हो जायगा। उसपर कोई दो व्यक्ति एकमत न होंगे। और एक बार जब गांधीवाद गांधी-धर्म बन कर विश्व विजय करता दीखेगा, तब उसमें भेद-विभेद और सम्प्रदाय-अम्नाय बन चलेंगे। यानी वह होगा जो धर्मों के इतिहास में होता आया है।

गांधीवाद के भविष्य को लेकर जो चित्र मेरी कल्पना में उठे हैं, मैंने ऊपर दे दिये हैं। मुझे उनमें असंगति तनिक भी नहीं दीखती, बल्कि एक प्रकार की अवश्यंभाविता ही दीखती है।

: ८ :

नीति या राजनीति ?

गांधी जी रहे तब तक राष्ट्र की राजनीति उन्हीं के चलाये चली। लेकिन जब भी सम्भव हुआ, उन्होंने साफ कर दिया कि मैं राजनीतिक नहीं धार्मिक व्यक्ति हूँ। १५ अगस्त को जब भारत को स्वराज्य मिला और खुशियां मनाई गईं, गांधी जी दूर नोआखाली में पैदल घूम रहे थे। बरसों से वह काँग्रेस के सदस्य भी न थे। और जीवन भर कभी किसी राजकीय परिषद वगैरह के सदस्य भी नहीं हुए।

इस चीज का क्या मतलब है? क्या राजनीति आवश्यक चीज नहीं है? क्या किसी तरह भी उसे गौण माना जा सकता है? क्या वह जीवन का मौलिक पहलू नहीं है? गांधी जी को देखते सचमुच कहा जा सकता है कि बात ऐसी ही है। राजनीति का अपना अस्तित्व नहीं है; नहीं है का आशय कि नहीं होना चाहिये।

तब ध्यान उन लोगों की ओर जाता है जिन्होंने राजनीति को इतना माया का प्रपंच माना कि उनकी ओर से कोई राजा हो, कैसा भी विधान हो, इससे उनका कोई सरोकार नहीं रह गया। 'कोउ नृप होऊ हमें का हानी'! ऐसे उदासीन और संत लोग अध्यात्म साधना में रहे और राजाओं को उन्होंने राज करने, भोग करने और लड़ने झगड़ने दिया। कानून ने जुल्म किया तो उनको भगवान के कानून पर छोड़ दिया गया; क्योंकि जो होनहार है, उसके सिवा तो कुछ हो नहीं सकता! इस तरह सत्य के, धर्म के और अध्यात्म के कुछ लोग संसार के सोच-विचार को और काम-धाम

को माया का प्रपंच मानकर शुद्ध आत्म-साधना में ऐसे लगे कि उन्हें लंगोटी तक छोड़नी पड़ी और मानव सम्पर्क उनके लिये अशुभ हो गया !

गांधी जी यदि धार्मिक थे, तो ऐसे धार्मिक तो न थे। उनको हरदम लड़ते रहना पड़ा। यों तो जेल उन्हें जेल न थी। पर सच तो यह है कि खुले में भी वह कैदी ही बनकर रहे। यानी खाया, पिया, पहना ओढ़ा तो उसी भाँति कि जैसे उन्हें किसी बड़े सख्त अनुशासन के नीचे रहना पड़ रहा हो। अनुशासन वह आत्मानुशासन ही था। इसलिये कम नहीं, अधिक कठोर था। घोर घमसान में उनकी जिन्दगी बीती। ऐश्वर्य और वैभव, भीड़ और कोलहाल सदा उन्हें घेरे रहे। महा-गृहस्थ ही उन्हें कहना चाहिए; क्योंकि कुछ के नहीं, सबके, समूचे राष्ट्र के वह पिता बने और अपने पितृत्व की छांह में अधिकाधिक को लेते चले गये। यानी उनका धर्म राजनीति से कटा हुआ, उससे विरुद्ध और तटस्थ न था। बल्कि कुछ इतना समग्रशील था कि राजनीति उसमें आकर पूर्ति पाती थी। मानों बेचैन राजकारण उस धर्मनिष्ठ में पहुँच कर अपने लिये चैन जुटा लेता था। उसकी धार वहाँ कट जाती थी और उसकी कटुता मिट जाती थी। मानों प्रश्न वहाँ समाधान पाता और संघर्ष समन्वयकी राह पर आ जाता था।

आज सन् '४६ अगस्त के भारत की आत्मा के सामने, उसकी जनता के सामने और नागरिकों के सामने, खौलता हुआ एक ही सवाल है: क्या राजनीति को अनैतिक होने का अधिकार है ?

राजनीति क्या सौ फीसदी राज बनाने, करने, या रखने की नीति होकर बैठ सकती है ? इस तरह क्या उसका समर्थन राज में देखा जा सकता है ? क्या वह आत्म तुष्ट होकर बैठ सकती है ? या कि उस राजनीति का राज-सेवा के अलावा किसी और के प्रति भी दायित्व है ? क्या उसे किसी अपने से ऊँची और स्थायी वस्तु से आदेश लेते रहना नहीं है ?

आज कुछ ऐसी हालत बन गई है कि जैसे राज्य ही सब औचित्य का स्रोत हो। कोई ईश्वर न हो, राज्य ही ईश्वर हो।

: ८ :

नीति या राजनीति ?

गांधी जी रहे तब तक राष्ट्र की राजनीति उन्हीं के चलाये चली। लेकिन जब भी सम्भव हुआ, उन्होंने साफ कर दिया कि मैं राजनीतिक नहीं धार्मिक व्यक्ति हूँ। १५ अगस्त को जब भारत को स्वराज्य मिला और खुशियां मनाई गईं, गांधी जी दूर नोआखाली में पैदल घूम रहे थे। बरसों से वह कॉंग्रेस के सदस्य भी न थे। और जीवन भर कभी किसी राजकीय परिषद वगैरह के सदस्य भी नहीं हुए।

इस चीज का क्या मतलब है ? क्या राजनीति आवश्यक चीज नहीं है ? क्या किसी तरह भी उसे गौण माना जा सकता है ? क्या वह जीवन का मौलिक पहलू नहीं है ? गांधी जी को देखते सचमुच कहा जा सकता है कि बात ऐसी ही है। राजनीति का अपना अस्तित्व नहीं है; नहीं है का आशय कि नहीं होना चाहिये।

तब ध्यान उन लोगों की ओर जाता है जिन्होंने राजनीति को इतना माया का प्रपंच माना कि उनकी ओर से कोई राजा हो, कैसा भी विधान हो, इससे उनका कोई सरोकार नहीं रह गया। 'कोउ नृप होऊ हमें का हानी' ! ऐसे उदासीन और संत लोग अध्यात्म साधना में रहे और राजाओं को उन्होंने राज करने, भोग करने और लड़नें झगड़ने दिया। कानून ने जुल्म किया तो उनको भगवान के कानून पर छोड़ दिया गया; क्योंकि जो होनहार है, उसके सिवा तो कुछ हो नहीं सकता ! इस तरह सत्य के, धर्म के और अध्यात्म के कुछ लोग संसार के सोच-विचार को और काम-धाम

को माया का प्रपंच मानकर शुद्ध आत्म-साधना में ऐसे लगे कि उन्हें लंगोटी तक छोड़नी पड़ी और मानव सम्पर्क उनके लिये अशुभ हो गया !

गांधी जी यदि धार्मिक थे, तो ऐसे धार्मिक तो न थे। उनको हरदम लड़ते रहना पड़ा। यों तो जेल उन्हें जेल न थी। पर सच तो यह है कि खुले में भी वह कैदी ही बनकर रहे। यानी खाया, पिया, पहना ओढ़ा तो उसी भाँति कि जैसे उन्हें किसी बड़े सख्त अनुशासन के नीचे रहना पड़ रहा हो। अनुशासन वह आत्मानुशासन ही था। इसलिये कम नहीं, अधिक कठोर था। घोर घमसान में उनकी जिन्दगी बीती। ऐश्वर्य और वैभव, भीड़ और कोलहाल सदा उन्हें घेरे रहे। महा-गृहस्थ ही उन्हें कहना चाहिए; क्योंकि कुछ के नहीं, सबके, समूचे राष्ट्र के वह पिता बने और अपने पितृत्व की छांह में अधिकाधिक को लेते चले गये। यानी उनका धर्म राजनीति से कटा हुआ, उससे विरुद्ध और तटस्थ न था। बल्कि कुछ इतना समग्रशील था कि राजनीति उसमें आकर पूर्ति पाती थी। मानों बेचैन राजकारण उस धर्मनिष्ठ में पहुँच कर अपने लिये चैन जुटा लेता था। उसकी धार वहाँ कट जाती थी और उसकी कटुता मिट जाती थी। मानों प्रश्न वहाँ समाधान पाता और संघर्ष समन्वयकी राह पर आ जाता था।

आज सन् '४६ अगस्त के भारत की आत्मा के सामने, उसकी जनता के सामने और नागरिकों के सामने, खौलता हुआ एक ही सवाल है: क्या राजनीति को अनैतिक होने का अधिकार है ?

राजनीति क्या सौ फीसदी राज बनाने, करने, या रखने की नीति होकर बैठ सकती है ? इस तरह क्या उसका समर्थन राज में देखा जा सकता है ? क्या वह आत्म तुष्ट होकर बैठ सकती है ? या कि उस राजनीति का राज-सेवा के अलावा किसी और के प्रति भी दायित्व है ? क्या उसे किसी अपने से ऊँची और स्थायी वस्तु से आदेश लेते रहना नहीं है ?

आज कुछ ऐसी हालत बन गई है कि जैसे राज्य ही सब औचित्य का स्रोत हो। कोई ईश्वर न हो, राज्य ही ईश्वर हो।

कुछ सदियों से ऐसा एक ज्ञान चल पड़ा है, और वह बेहद छा गया है, कि जैसे मनुष्य के कर्तव्य का आदि और अन्त उस समाज में ही देखना होगा जिसका कि मूर्तरूप स्टेट या सरकार है। यह ज्ञान पश्चिम में औद्योगिक युग, वैज्ञानिक युग के साथ उदय में आया और क्रमशः पकता गया। उस ज्ञान के थोक उत्पादन के कारखानें अब भी वहाँ चल रहे हैं।

भारत आयात-प्रधान देश है। निर्यात के लिये इसके पास कच्चा माल ही है। जिस माल को सबसे ज्यादा कीमत देकर धन्यभाव से यह देश बाहर से खूब मंगाकर, अपनी आत्मा को भी देकर, अपने को सजाता रहा है, वह यही ज्ञान है। यह है आर्थिक है, सामाजिक है, राजनीतिक है। यूं कहिए कि वह संक्षेप में वह सब कुछ हैं, जो हम समझते हैं कि होना चाहिए। और उस ज्ञान ने हिन्दुस्तान के आदमी को, खास कर उस शहरी आदमी को, जिसके पास उस ज्ञान की कीमत देने के लिये थोड़ा बहुत पैसा और लालच रहा है, अगर रंग में नहीं तो बाकी सब लिहाज में इंगलिस्तानी बना दिया है। वह मानता है कि ऐसे वह सभ्य बना है, और बर्बरता को छोड़कर उन्नत नागरिक बन रहा है।

लोग आर्थिक समस्याओं का शोर मचाते हैं। कहते हैं, मंहगाई है और देश दिवालिया होता जा रहा है। आयात इतना अधिक है कि निर्यात के लिये अपना पेट काट करके काफी माल जुटाना मुमकिन नहीं होता। उधार की जरूरत है कि बड़ी-बड़ी मशीनें विदेश से आकर बैठ सकें और उत्पादन बढ़ा सकें!

बात ठीक है, लेकिन इस देश में इतने करोड़ जो आदमी हैं, उस महाशक्ति और महापूंजी का भी हम कुछ लेखा-जोखा लेने को तैयार हैं? क्या उनमें हर एक स्वयं में बढ़िया से बढ़िया मशीन नहीं है? उस महाशक्ति का हिसाब गड़बड़ है तब दूसरा हिसाब किसी तरह ठीक नहीं बैठ सकता।

जो मनुष्य को संभालती है, उस विद्या के बिना बाकी सारी विद्या बेकार है। मनुष्य को संभालने वाली विद्या है, धर्मनीति।

ज्ञान जो पश्चिम से आ रहा है, जो हमको और हमारे कामकाज को आज चला रहा है, अर्थनीतिक है। दूसरे शब्दों में उसे ही कहें राजनीतिक। यह आदमी और आदमी के बीच में समस्या और संघर्ष उपजाने और बढ़ाने के सिवा कर भी क्या सकता है? अर्थनीति अधिक से अधिक दो व्यक्तियों के बीच अधिकारों का संतुलन और आपसी समता चाह सकती है। यह समता और संतुलन स्पष्ट ही दो को मिला नहीं सकते, उन्हें अलग-अलग हीं रख सकते हैं। इस तरह जितना भी उस ज्ञान के आधार पर उद्धार-सुधार का प्रयत्न किया जाता है, बेकार जाता है। तनख्वाहें बढ़ती जाती हैं, और उसी अनुपात में असंतोष बढ़ता जाता है। यह वह विषम-चक्र है जो कभी कट नहीं सकता। अहंकार और तृष्णा कभी अपने को भर नहीं पाये। इससे उनके आधार पर चलने वाले यत्न समस्या को जटिल से और जटिल ही बना सकते हैं। सच पूछिए तो आज की आवश्यकता गहरा और मौलिक इलाज चाहती है। दुनियाँ को भारत से आशा है। आशा का कारण शायद नहीं है, फिर भी आशा है। कारण कि भारत इन दिनों अपने में से गांधी जैसे महात्माओं को प्रकटा चुका है। वह आशा कट गई, तो उसके लिये फिर कहीं ठौर नहीं रह जायेगी। दुनिया को फिर भारी अँधेर और युद्ध में गिरना होगा।

आशा अगर थोड़ी भी भारत से पूरी होनी है, तो वह तभी हो सकती है, कि जब वह अपने भगवान को न भूले और पश्चिम की नकल में राज को अपना देवता न बनाये। अब भी सब खोया नहीं है। असल भारत अब भी देहात में बसा है और वहाँ स्वास्थ्य है। वहाँ राजधर्म का पता नहीं है, और राजवादी विज्ञान भी कम ही पहुँचा है। इसलिये देहाती खेतों में पसीना डालते हैं और अन्न निकालते है। और हिन्दू राम-कृष्ण को और मुसलमान हजरत मोहम्मद को याद करते हैं कि जो अवश्य

कुछ सदियों से ऐसा एक ज्ञान चल पड़ा है, और वह बेहद छा गया है, कि जैसे मनुष्य के कर्तव्य का आदि और अन्त उस समाज में ही देखना होगा जिसका कि मूर्तरूप स्टेट या सरकार है। यह ज्ञान पश्चिम में औद्योगिक युग, वैज्ञानिक युग के साथ उदय में आया और क्रमशः पकता गया। उस ज्ञान के थोक उत्पादन के कारखानें अब भी वहाँ चल रहे हैं।

भारत आयात-प्रधान देश है। निर्यात के लिये इसके पास कच्चा माल ही है। जिस माल को सबसे ज्यादा कीमत देकर धन्यभाव से यह देश बाहर से खूब मंगाकर, अपनी आत्मा को भी देकर, अपने को सजाता रहा है, वह यही ज्ञान है। यह है आर्थिक है, सामाजिक है, राजनीतिक है। यूं कहिए कि वह संक्षेप में वह सब कुछ है, जो हम समझते हैं कि होना चाहिए। और उस ज्ञान ने हिन्दुस्तान के आदमी को, खास कर उस शहरी आदमी को, जिसके पास उस ज्ञान की कीमत देने के लिये थोड़ा बहुत पैसा और लालच रहा है, अगर रंग में नहीं तो बाकी सब लिहाज में इंगलिस्तानी बना दिया है। वह मानता है कि ऐसे वह सभ्य बना है, और बर्बरता को छोड़कर उन्नत नागरिक बन रहा है।

लोग आर्थिक समस्याओं का शोर मचाते हैं। कहते हैं, मंहगाई है और देश दिवालिया होता जा रहा है। आयात इतना अधिक है कि निर्यात के लिये अपना पेट काट करके काफी माल जुटाना मुमकिन नहीं होता। उधार की जरूरत है कि बड़ी-बड़ी मशीनें विदेश से आकर बैठ सकें और उत्पादन बढ़ा सकें!

बात ठीक है, लेकिन इस देश में इतने करोड़ जो आदमी हैं, उस महाशक्ति और महापूंजी का भी हम कुछ लेखा-जोखा लेने को तैयार हैं? क्या उनमें हर एक स्वयं में बढ़िया से बढ़िया मशीन नहीं है? उस महाशक्ति का हिसाब गड़बड़ है तब दूसरा हिसाब किसी तरह ठीक नहीं बैठ सकता।

जो मनुष्य को संभालती है, उस विद्या के बिना बाकी सारी विद्या बेकार है। मनुष्य को संभालने वाली विद्या है, धर्मनीति।

ज्ञान जो पश्चिम से आ रहा है, जो हमको और हमारे कामकाज को आज चला रहा है, अर्थनीतिक है। दूसरे शब्दों में उसे ही कहें राजनीतिक। यह आदमी और आदमी के बीच में समस्या और संघर्ष उपजाने और बढ़ाने के सिवा कर भी क्या सकता है ? अर्थनीति अधिक से अधिक दो व्यक्तियों के बीच अधिकारों का संतुलन और आपसी समता चाह सकती है। यह समता और संतुलन स्पष्ट ही दो को मिला नहीं सकते, उन्हें अलग-अलग हीं रख सकते हैं। इस तरह जितना भी उस ज्ञान के आधार पर उद्धार-सुधार का प्रयत्न किया जाता है, बेकार जाता है। तनख्वाहें बढ़ती जाती हैं, और उसी अनुपात में असंतोष बढ़ता जाता है। यह वह विषम-चक्र है जो कभी कट नहीं सकता। अहंकार और तृष्णा कभी अपने को भर नहीं पाये। इससे उनके आधार पर चलने वाले यत्न समस्या को जटिल से और जटिल ही बना सकते हैं। सच पूछिए तो आज की आवश्यकता गहरा और मौलिक इलाज चाहती है। दुनियाँ को भारत से आशा है। आशा का कारण शायद नहीं है, फिर भी आशा है। कारण कि भारत इन दिनों अपने में से गांधी जैसे महात्माओं को प्रकटा चुका है। वह आशा कट गई, तो उसके लिये फिर कहीं ठौर नहीं रह जायेगी। दुनिया को फिर भारी अँधेर और युद्ध में गिरना होगा।

आशा अगर थोड़ी भी भारत से पूरी होनी है, तो वह तभी हो सकती है, कि जब वह अपने भगवान को न भूले और पश्चिम की नकल में राज को अपना देवता न बनाये। अब भी सब खोया नहीं है। असल भारत अब भी देहात में बसा है और वहाँ स्वास्थ्य है। वहाँ राजधर्म का पता नहीं है, और राजवादी विज्ञान भी कम ही पहुँचा है। इसलिये देहाती खेतों में पसीना डालते हैं और अन्न निकालते है। और हिन्दू राम-कृष्ण को और मुसलमान हजरत मोहम्मद को याद करते हैं कि जो अवश्य

राजा थे, पर छोटे से छोटे के बराबर बन कर रहे थे। राज उनके लिये आफत था, और सेवा और प्रेम उनका स्वभाव था।

वह दृष्टि जो पदार्थ को और उसके हिसाब को पीछे रखती है, आदमी को और उसके हित को सामने रखती है, इसलिये जो नैतिक दृष्टि है, —वही हमको और हमारे कामकाज को चलायेगी, तब संकट के टलने की संभावना हो सकती है। नहीं तो बड़ी-बड़ी योजनायें कागज़ खायेंगी, धन खायेंगी, और अन्त में हमारा सिर खा जायेंगी। कागज़-शाही और कानूनशाही से काम चलने वाला नहीं है। कागज़ चलाने वाले और कानून चलाने वाले सब के सब मेहनती की मेहनत से उगा अनाज खाते और मेहनत से बना माल घटाते है। इस तरह उत्पादन की ज्यादा ही आवश्यकता रहती है। और विस्मय यह है कि खाने वाले शासक हैं, और उगाने वाले शासित हैं!

शासन करते हैं, क्योंकि टकसाल उनके पास है। टकसाल से निकले पैसे से श्रम खिंच आता है। इस तरह पैसा मूल्य बनता है, श्रम बेकार हो जाता है। उत्पादन सब प्रेम के श्रम से होता है, पैसा कुछ भी उपजा नहीं सकता। लेकिन राजनीतिक दृष्टि और राजनीतिक व्यवस्था जीवन को पैसे में केंद्रित करती है। इससे सदा ही वह अव्यवस्था पैदा करती है। जब कि नैतिक दृष्टि और नैतिक व्यवस्था श्रम को मानती और इससे जीवन को व्यक्ति में केंद्रित देखती है। परिणाम यह कि उससे श्रम का और व्यक्ति का महत्व बढ़ता है, पदार्थ और धन का महत्व उसके ऊपर नहीं आ पाता। मानव समस्याएं नैतिक से अलग किसी भी दूसरी वृत्ति से लेने पर न केवल सुलझाई नहीं जा सकतीं, बल्कि केवल उलझाई ही जा सकती हैं।

गांधी जी के बाद चाहिए कि जिस अपने कार्मिक रूप को समेट कर वह अदृश्य हो गये हैं, उससे हम भी उत्तीर्ण हों; और उनके धार्मिक सत्य को, जो सदा के लिये वह प्रकाशित छोड़ गये हैं, हम अपनाकर आगे बढ़ें।

कानिक उनका आनुषंगिक रूप था। धर्म से नियंत्रित होकर कर्म सहज ही ठीक हो सकता है। इसी तरह हम मूल तत्त्व पर ध्यान देंगे, नैतिक मूल्य को ही असल मूल्य मानकर चल सकेंगे, तभी हम मानव संबंधों की समस्या का कुछ समाधान प्राप्त कर सकेंगे। अन्यथा पदों की और पदवियों की होड़ और आपसी उखाड़-पछाड़ चलती ही रहेगी। ऐसे जीवन कभी नीरोग न हो पायेगा।

: ९ :

गांधी-धर्म और कर्मवाद

गांधी जी के जन्म दिन पर हम विस्मय कर सकते हैं कि इस थोड़े से काल में, कि जब गांधी जी शरीरतः हमारे बीच नहीं रहे, हम कहाँ से कहाँ आ गये हैं। ऐसा तो हमको नहीं मालूम होता होगा कि हमने गाँधी जी को छोड़ दिया है। उनको हम मानते हैं, उनकी नीति को मानते हैं। भरसक उस पर चलने की कोशिश भी करते हैं। लेकिन देखते हैं कि नतीजा पहले जैसा नहीं आता है। तब उत्साह था, अब निराशा है। तब जो अपने को होमने चलते थे, वे ही अब भोगने बढ़ रहे हैं। वे ऐसा जान कर कर रहे हैं, सो नहीं; शायद अपने बावजूद कर रहे हैं। पर है अवश्य कि ऐसा हो रहा है। जिन्दगी जो ज्वार पर थी अब उतार पर दीखती है, और आदमी देवत्व की तरफ उठने के बजाय नीचे पशुता में गिरने को अपने को मजबूर पा रहा है।

गांधी जी का अक्षर शरीर तो हमारे पास है। उनका लिखा हुआ सब कुछ मौजूद है। उनकी याद भी ताजा है। उनकी सिखावन से लाभ लेने की तबीयत भी कम नहीं है। फिर भी कहीं कुछ कमी है कि फल उलटा हो रहा है। आशा थी कि भारत उठेगा और राह दिखायेगा। उसमें से दुनिया को एक नई किरण फूटती दीखेगी। समाधान प्राप्त होगा और एक नूतन पूर्णतर दर्शन। पर मालूम होता है कि भारत सिर्फ कंगाल हुआ पड़ा है। उसे बाहर से धन की और अन्न की मांग है और देने के लिए उसके पास कोई बल नहीं है। वहाँ आपसी होड़ और छीन झपट है, समस्याएं घिरती जा रही हैं और अर्थ-व्यवस्था टूटी पड़ रही है।

समस्याएं या मुसीबतें गांधी जी के रहते न थीं, सो बात नहीं। पर हम अन्दर से अवश्य अनुभव करते थे कि हम बढ़ रहे हैं, मिल रहे हैं और हमारे कष्ट हमें दबाने के बजाय हमें और उभार रहे हैं। गरीब होकर भी तब हम पाते थे कि हम किसी से हेटे नहीं हैं, सम्पन्न हैं, क्योंकि उत्साह और विश्वास हमारे पास है। कन्धे हमारे झुके हैं तो भविष्य के निर्माण के काम के बोझ से, अन्यथा सीना हमारा सीधा है और हम हक के रास्ते पर हैं। ऐसे में विपद सम्पद बनकर हमारा बल बढ़ाती थी और प्रतीत होता था कि दुनिया को हम से यह प्रमाण मिलेगा कि अर्थ की और पदार्थ की सभ्यता और प्रचुरता तुच्छ है, उसकी अपेक्षा में आत्मबल बड़ा बल है और उसी बल पर नींव डाल कर आगामी विश्व-सभ्यता को उठना सीखना है। दूसरे के अमित शस्त्रास्त्र के मुकाबले में निशस्त्र होकर भारत दीन और हीन नहीं है और उसे अपनी रक्षा नहीं खोजनी है। उलटे, दूसरों की रक्षा के लिए शायद उसी को आगे आना है।

आज निस्संदेह वह हालत नहीं है। तो क्या गांधी को हमने छोड़ दिया? उनके नाम को छोड़ दिया? नीति को छोड़ दिया? नहीं, जानते-बूझते हमने यह नहीं किया। नाम बराबर लेते रहते हैं और नीति की भी उलट-पुलट करके दुहाई देते रहते हैं। फिर भी कुछ हमसे उनका छूट अवश्य गया है। यद्यपि अपने बिरते छोड़ा हमने कुछ नहीं है। छूट न गया होता तो इतना अन्तर कहां से आता? उजला ही काला बना क्यों दीखता?

हमें जानना होगा कि वह क्या है जो छूट गया हो सकता है?

मैं समझता हूँ कि वह है यह कि उन्होंने करते हुए कुछ करना नहीं चाहा। जो किया मानों प्रायश्चित के नाते किया। उद्धार और सुधार के दम पर नहीं किया। बल उन्होंने प्रार्थना का ही थामा। शेष बल को व्यर्थ माना। परिग्रह को पाप जाना। इस तरह उन्होंने संग्रह नहीं किया, पार्टी नहीं बनाई, शासन नहीं जुटाया और विरोधी की सेवा बजाने और

उसका विश्वास जीतने को अपना सर्वस्व बना लिया। अपनी ओर से अत्याचार के प्रति सत्याग्रह छोड़ा, सो नहीं। लेकिन विरोधी के हित में अपने को निछावर कर देने का यत्न भी नहीं छोड़ा। परिणाम यह हुआ कि जो उनके अपने बने वे तो देहात के रचनात्मक कार्य में फेंक दिये गये और जो अलग रहे वे खुशी से, बल्कि सहायता पूर्वक, नेता बनने दिये गये। अपनों को गाँधी जी ने ऊंची कुर्सी के बजाय सेवा की धरती दी। जिनका मन राजनीति में था उनको राजनीति से खेलने दिया, पर वहां से भी उनसे जो बन सका सेवा का काम निकाल लेने का ध्यान रखा। शासन व्यर्थ हो जाय और हर आदमी अपनी-अपनी जगह सेवा-सिद्ध उत्पादन के काम में लग जाय—यह उन्होंने दृष्टि रखी। कांग्रेस से चाहा कि वह पद की तरफ न देखे, जनता की तरफ देखे। कुर्सी जनता के कंधों पर बठती है, सेवक की जगह जनता के चरणों में है। इससे कुर्सी की तरफ उसे नहीं देखना है। कुर्सी यों है तो किसी न किसी को उस पर बैठना ही है–केवल इसीलिए वहाँ जाकर बैठने की अपने लिए जरूरत पैदा करना सही बात नहीं है। दिन असली वह होगा जब कुर्सी कोई होगी ही नहीं और पद सिर्फ दायित्व होगा जिसके साथ वेतन-भत्ते का कोई प्रलोभन न लगा होगा। तब समझा जायगा कि जनता समर्थ बनी है और उस समय पद का दायित्व सिर्फ खतरा और बोझ ही रहेगा, किसी तरह भी वह प्रलोभन या पुरस्कार न होगा। तब कुर्बानी का हौसला रखने वाला आदमी ही उसके लिए तैयार होगा।

गांधी जी इसी से अपने बारे में कहते थे कि वह राजनीतिक नहीं, धार्मिक हैं। राजनीतिक न होना गांधी जी का असली होना था। बस यही असलियत उनकी हमसे छूट गई है। हम राजनीतिक होकर जो गांधी जी के होना चाहते हैं सो मानों भीतर में उनका निषेध बन कर ऊपर उनकी दुहाई उठाना चाहते हैं। वह भला कैसे फल ला सकता है? इसीसे देखने में आता है कि गांधी जी की नीति के नीचे अनीति और उनकी अहिंसा के नीचे कायरता पल रही है। गांधी जी की नीति अनीति के लिए सदा

चुनौती थी और उनकी अहिंसा हिंसा के लिए भय का कारण थी। पर गांधी जी की मूल धार्मिकता के अभाव में वह बात आ नहीं सकती। तब उदारता की नीति निकम्मी और अहिंसा नितान्त आदर्श की चीज समझी जा सकती है।

गांधी जी की शक्ति पर हम आराम से शासन नहीं चला सकते। शासन और शासक को समाप्त देखने की इच्छा करने वाले गांधी जी थे, उसको सहने वाले न थे। शासक को सदा उनसे कांपते रहना पड़ा। शासक में से वह सेवक गढ़ निकालना चाहते थे। लेकिन सेवक अपने प्रेम-धर्म को छोड़ कर शासन-धर्म ओढ़ने ही क्यों लगा। इसलिए वह ऐसा जनतंत्र देखना चाहते थे कि जिसकी इकाई स्वाधीन, स्वायत्त, फिर भी राष्ट्र (अथवा समष्टि) के साथ सहानुभूति में बंधा एक जनपद हो। प्रत्येक जनपद में सेवा को अपना सर्वस्व मान कर बैठा हुआ एक समग्र सेवक हो। जनतंत्र के सूत्र का सिरा इस सेवक से आरम्भ हो। जनतंत्र को इस तरह सिंचन देश की सारी भूमि से मिले। वह किसी भी अर्थ में अर्थ-तंत्र न बन पाये, सर्वथा जनतंत्र ही रहे। सत्ता केन्द्र से जब चलती है तब जनतंत्र जन का तंत्र न रह कर अर्थ का तंत्र बन जाता है। तब अर्थ तो प्रधान और जन गौण हो जाता है। ऐसा अर्थतंत्रता की नीति पर जमने वाला जनतंत्र जन-जन में पराधीनता का बोध बढ़ाने वाला होगा। जाने अनजाने उस तंत्र को एक ओर केन्द्रीयता और दूसरी ओर सर्व-व्यापकता (तानाशाही) की तरफ फैलते जाना होगा। इसमें तनाव पैदा होगा और फटने की हालत बढ़ती जायगी।

गांधी जी ने नहीं चाहा कि कोई उन पर आसरा डाल कर उठे। उन्होंने सब को आत्म-निर्भर देखना चाहा। उसी प्रकार की स्वावलम्बी अर्थरचना का सूत्र पात किया। स्वावलम्बन में हार्दिक परस्परावलम्बन आ ही जाता है। जो नहीं आता वह है उत्साह को मारने वाला पराव-लम्बन। वह अर्थ-व्यवस्था, जहां व्यक्ति काम और पूंजी के अभाव में

असहाय बन कर अपने को बेचने को लाचार पाता और इन्सान की जगह अंक बनना स्वीकार करता है, राजनीतिक पार्टी शक्ति के जुटने और जमा करने में बड़े सुभीते की साबित होती है। लेकिन उस प्रकार संघर्ष में से खीची हुई शक्ति के केन्द्रीकरण से उस व्यवस्था का विकार और बढ़ता ही है। मनुष्य काम और पूंजी के लिए पूंजीपति की तरफ न देख कर सरकारी विभाग की तरफ देखने को लाचार बने तो इसमें मनुष्य की पराधीनता किसी भी ओर से कम नहीं होती है। बल्कि संभव है कि यदि पूंजीपति नाम के मनुष्य में हृदय पत्थर बन कर रह जाता हो, तब सरकारी विभाग में तो उस हृदय नाम की चीज का होना ही असंगत और अवैध हो रहता हो यानी वहां उस वस्तु का कहीं अता-पता तक न हो। इसलिए मनुष्य की स्वाधीनता को स्वयं उससे अलग ले जाकर इस या उस प्रकार के तंत्र से जुड़ा देखने की भूल को बढ़ावा गांधी जी ने नहीं दिया। उन्होंने कहा कि स्वाधीनता तो हर एक की मुट्ठी में ही है। तृष्णा, ईर्ष्या, लोभ को कम करके आदमी अपनी जगह पर मन-बुद्धि के पूरे सहयोग के साथ दोनों हाथों से उपजाने और काम करने में लग जावे तो ऐसे वह अपनी ही स्वतंत्रता न कमा लेगा, बल्कि सब की स्वतंत्रता को भी पास लायेगा।

राजनीतिक और धार्मिक में यही अन्तर है। सागर में बूंद की गिनती नहीं है, लेकिन धार्मिक फिर भी बूंद को गिनती में लेता है। ऐसा वह श्रद्धा के बल पर ही कर पाता है। बूंद के बदलने से सागर कैसे बदलेगा, बदलेगा भी कि नहीं, इस व्यर्थ चिन्ता के नीचे आने से वह सहज बच जाता है। फल जो हो, उसे तो वही करना है। आदमी को बचाकर या अपने को बचाकर, राज्य पर या दुनिया पर जाना उससे नहीं बनता। यह उसकी कूपमण्डूकता समझी जा सकती है। समझा जा सकता है कि यह अपने में बन्द हो रहना है। असामाजिकता का दोष भी उसमें देखा जा सकता है। लेकिन व्यवहार की दृष्टि से भी इसमें इतना लाभ अवश्य है कि उस व्यक्ति से होने वाला नुकसान उस पर ही पड़ कर वहीं सीमित

हो रहता है, उससे आगे फैल नहीं पाता। लेकिन अगर उससे लाभ होने वाला हो तो वह अवश्य ही उससे बाहर की ओर जाये बिना नहीं रह सकता। फिर भी जो सिर्फ़ बुद्धिमान है उसको वह दृष्टि नहीं जंचती। वह प्रार्थना को भी नहीं समझ सकता और साधुता को भी नहीं। वह इन दोनों को वासना विलास मानता है। इसलिए वह एक की, बूंद की, भाषा में नहीं, सबकी और सागर की भाषा में सोचना और उसी पैमाने पर करना चाहता है। बूंद सागर में नगण्य ही है, इसलिए तूफ़ान सारे सागर में लाया जा सके तो सब स्वयमेव ठीक हो जायगा—इस फेर में बुद्धिवादी श्रद्धावादी को उदारता पूर्वक सहन करता हुआ क्रांति से कम किसी भी काम में अपने को नहीं लगा सकता है। वह बेकार रह सकता है, क्योंकि उससे क्रांति आयेगी। उसके ऐसे बेकार काम के फलस्वरूप राजनीतिक प्रगति बहुत होती है, लेकिन जान पड़ता है कि लोगों के सुख दुःख का मसला वहीं का वहीं रह गया है बल्कि वह कुछ और जकड़ ही गया है।

राजनीति में से गांधी जी को प्राप्त करने वाले लोगों से उनका यह श्रद्धात्मक और तर्कातीत रूप जो छूट रहता है, तो उसकी चिन्ता राजनीतिक को सताती नहीं है। कारण, वह जानता है कि वह चीज गांधी जी की इतनी व्यक्तिगत थी कि राष्ट्रीय विचार में उसका समावेश आवश्यक नहीं है। राज्य-संचालन में वह अप्रस्तुत है। वह भावात्मक है, योजना से उसका संबंध नहीं है। राजनीतिक का यह अनुमान ठीक हो, तो विचार करने की आवश्यकता रहती है कि गांधी जी की ही धर्म-निरपेक्ष और उदार नीति से चलने पर जो इष्ट स्फूर्ति नहीं प्राप्त हो रही है, ऊर्ध्व की जगह अधोगति ही होती जा रही है, उसका कारण फिर क्या है?

यह नहीं कि आज नैतिकता की चिन्ता नहीं है। प्रत्येक राजनेता के वक्तव्य में उसकी भरपूर चिन्ता भरी जान पड़ती है। पर, नैतिकता उसके निकट शायद राज्य के लिए है, राज्य नैतिकता के लिए नहीं। गाँधी जी जिसको घोड़ा समझते थे उसको हम गाड़ी समझें और गाड़ी को घोड़ा

समझ कर आगे रखें तो क्या अचरज कि हम उस तरह से वह गति और परिणाम न प्राप्त कर सकें, जो गांधी जी हमें प्राप्त करा देते मालूम होते थे। निश्चय ही उनके जीवन-मूल्य जुदा थे। संसार उनके लिए साध्य न था, केवल साधन था। राज्य और स्वराज्य में उनकी कामना न थी, उसके द्वारा उन दुखियों को वापस हक़ के रूप में उनका सुख पहुँचा देने की कामना थी जिसके छीनने में हम स्वयं साधन बने हैं। हम आराम और प्रभुता में रहने वाले लोग अपना प्रायश्चित्त पूरा करने का अवसर पायें, यदि राज्य का और स्वराज्य का यह अर्थ हो तो उसके पदों के लिए आपाधापी की जरूरत नहीं रह जाती। कर्म का महत्व तब भाव में आ जाता है और प्रतिष्ठा तब कर्म के कर्तृत्व में नहीं बल्कि उसमें के अकर्म-भाव में आ रहती है। निश्चय ही धार्मिक गांधी का मूल्य चाहे जो हो, उनके उत्तराधिकारी सांसारिकों के मन का मूल्य कर्म के कर्तृत्व से बाहर नहीं है। जोर-शोर की कर्म-योजना में से वे लोग बृहद फल उपजा लेना चाहें तो उनकी दृष्टि से इसमें अयथार्थ कुछ नहीं है।

पर उसमें से निराशा ही फलित होती देखी जाती है। निराशा से फिर कर्म को द्विगुणित वेग भी दिया जा सकता है। शस्त्रास्त्र से लड़ा जाने वाला युद्ध निराशा से वेग पाये हुए कर्म का ही तो नाम है। लेकिन वैसा बहलावा कब तक आदमी अपने को देता रहेगा और इस तरह स्वयं अपने मन को ही संस्कार देने के काम से कब तक छुट्टी पाता चला जायगा? 'वह काम टालो मत, इस पल से ही उसमें लग जाओ'—यह गांधी जी ने कहा। यह वह काम है जो सब के लिए इसी घड़ी सुलभ है और जिसे किसी योजना पर स्थगित करने की आवश्यकता नहीं है। यह सीख एक विरक्त संन्यासी की सी समझी जा सकती है। लेकिन यह उन गांधी जी की थी जो सच्चे और पूरे अर्थों में आज के भारत के राष्ट्रपिता हो गये हैं। उस नैतिक धन को जो वह कमाकर हमें सौंप गये हैं, चाहें तो हम गँवा सकते हैं। अथवा उसे बढ़ा भी सकते हैं। आंख खोलकर उसे

खर्च कर डालना चाहें तो इसमें भी कुछ हर्ज नहीं है। लेकिन कहीं हम मानें कि धन तो नैतिक होता ही नहीं और जो असल में धन होता है वह तो उनकी सौंपी हुई थैली में हमें मिला ही नहीं है; और यह कह कर गांधी का नाम तो हम रखें और उसकी कमाई को निकम्मा जान कर उड़ा दें, तो यह बहुत भारी सोच की बात होगी।

चर्खे और खादी की प्रवृत्ति ने कुल कितने गज कपड़ा लोगों को दिया और इस तरह कुल कितना पैसा मेहनत के रास्ते देहात में पहुँचाया? क्या उससे कई गुना कपड़ा और कई गुना पैसा स्वराज्य पाकर हम अब एक योजना और एक कानून के जोर से देहात पर बरसा नहीं सकते हैं? पराधीनता के समय का चर्खा-खादी स्वाधीनता के समय के लिए सोच-विचार की चीज नहीं रह जानी चाहिए। इस प्रकार का विचार गांधी की आत्मा को गजों और पैसों की तराजू पर तौलने की धृष्टता के समान हो जायगा। ऐसे हम गांधी के शव पर गाँधी के नाम का मन्दिर चाहे खड़ा कर लें, लेकिन इसके लिए हम सपूत की जगह कपूत ही समझे जायेंगे।

गांधी जी ने यदि कुछ किया तो यह कि उन्होंने हमारी आत्मचेतना को जगाया। कोई जरूरी नहीं है कि हम खादी-चरखे से चिपटे रहें, उनके सारे रचनात्मक काम को हम धता बता सकते हैं। स्वयं उनके नाम से ही चिपकने की आवश्यकता नहीं है। गांधी जी को छोड़ने में मैं किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं देखता। ईश्वर, या इतिहास, ने यह गलत नहीं किया कि गांधीजी को हमारे बीच से उठा लिया और हमें अपने ही ऊपर छोड़ दिया। ऐसी हालत में अपने को हम सर्वथा स्वाधीन मान सकते और बना सकते हैं। लेकिन यह अक्षम्य बात होगी कि हम गांधीजी का नाम रखना चाहें, राजनीतिक भूमिका पर टिकनेवाला काम भी रखना चाहें लेकिन उस भावना से परहेज करें जिससे उनका सब काम और नाम निकला था।

अन्त की ओर गांधीजी ने राम-नाम पर लगभग अपना सारा जोर

ला डाला। भारत आज दो श्रेणियों में बंटा है, और उन दोनों में आपसी समझ और सद्भाव नहीं हैं। दोनों जैसे एक-दूसरे के प्रति अजनवी बने हैं, और एक दूसरे को संदेह से देखते हैं। एक ओर जनता का देहाती बहुभाग है जो धर्म से लगकर जीता और चलता है। दूसरी तरफ शहरी श्रेणी है जो कर्म से लिपटी है। धर्म और कर्म के बीच खाई है, जिसको फैशन बढ़ाता ही चला जा रहा है। शहर गाँव पर कृपा से देखता है और चतुराई से वहां की उपज अपनी तरफ खींच लेता हैं। कर्म की यही महिमा है। धर्मा गांव की महिमा यह है कि ठग जाता है और अभाव में भी संतोष पाने का प्रयत्न करता है। भयंकर भूल होगी अगर गांव के धर्म को और सन्तोष को हम शहर पर लाने के बजाय शहर की चतुराई लेकर गांव को उकसाने और उभारने हम जा पहुँचेंगे। ऐसे आग ही लगेगी और सब जल जायेगा। वही हो रहा दीखता है। राजनीति जिस कर्म-मद को लह-काकर अपना सुधार और उद्धार का काम करना चाहती है उसके कलेवर में अधिकांश यह विष समाया हुआ है। उस विष-हरण की अक्सीर दवा के रूप में गांधीजी के प्रार्थना के आग्रह और रामनाथ की धुन को हम साथ न लिये चलेंगे तो गड्ढे में पड़ने से बचा न जा सकेगा। कम्यूनिज्म वह गाँधीवाद है जिसमें से हत्या करके ईश्वर को अलग कर दिया गया है। इस तरह वह सब कुछ होकर अन्त में केवल एक निषेध रह जाता है।

कम्यूनिज्म आज शक्ति है। इस बड़ी दुर्निवार्य शक्ति है। शक्ति वह निसन्देह घृणा में से आती है। सच है कि शक्ति घृणा के बिना नहीं होती। इससे निरा साधुतावाद साम्यवाद का जवाब नहीं हो सकता। गांधी गांधी थे, सिर्फ साधु नहीं थे। योद्धायों में प्रचण्ड वह योद्धा थे। असत् से वह कभी समझौता नहीं कर सके थे। इस प्रकार असत् के विरोध में उनमें सदा एक दुर्धर्ष तेज जगा रहता था। ध्वंसवादी जिस

भीषण कट्टरता के साथ संघर्ष को अपना ईमान मान सकता है, गांधी जी उससे कहीं कठिन अटूटना के साथ स्नेह को अपना धर्म मानते थे। उनमें भी घृणा थी और वह स्वयं घृणा के प्रति थी। वह घृणा उनमें उनसे कहीं तीव्र थी कि जितनी साम्यवादी में पूंजीपति के लिए हो सकती है। इस तरह गांधी की अहिंसा किसी की भी हिंसा से कम प्रखर न थी। वह अहिंसा हिंसा को सहकर नहीं रह जा सकती थी, प्रतीकार में उसके समने आकर डट जाने को वह मचली रहती थी। अर्थात् साम्यवाद की वैज्ञानिक घृणा की शक्ति का उत्तर गांधी की घृणा के प्रति वह धार्मिक घृणा की शक्ति है जो किसी तरह टूटना नहीं जानती और मरते-मरते भी शत्रु में मित्र ही देख पाती है। शत्रुवाद में अविश्वास का साम्रज्य हो सकता है, गांधीवाद में न छिपाव है, न दुराव है। वहां सब खुला है और सब कहीं विश्वास है। जन की और जनता की मूल सत्यता में, उसकी अन्तर्भूत सत्प्रवृत्ति में, बसने वाला गांधी का यह विश्वास किसी भी आशंका या विभीषिका से मुड़ने या बदलने वाला नहीं है।

गांधी का उत्तराधिकारी आज का भारत धोखे में पड़ेगा अगर वह गांधी को खंडित रूप में अपनाने बैठेगा। या तो एकदम उसे छोड़ देना होगा, नहीं तो अखंड भाव में अंगीकार करना होगा। ठीक है कि गांधी एक ही हुआ और एक ही रहेगा, लेकिन वह श्रद्धा जिसका वह प्रतीक था उससे पहले भी थी, बाद में भी रहेगी। वह सबकी है, सबके लिये है। हरएक उसमें अपना हक़ पा सकता है।

★

: १० :

गांधीजी और हमारी राष्ट्रीयता

गांधीजी और भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस के साथ का समय भारतीय इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण युग है। उसमें बहुत-सी बड़ी बड़ी घटनाएं घटीं, आन्दोलन और दमन हुए, अंग्रेजी हुकूमत गई, भारत दो टूक हुआ, और अन्त में गांधीजी सीने पर तमंचे की गोली खाकर धराधाम से विदा हो गये।

उनके बाद से भारत अपनी स्वतन्त्रता से जूझ रहा है और अपने को मुसीबत में अनुभव करता है। उसमें से कट कर पाकिस्तान बना है और उस विभाजन में से शरणार्थियों की समस्या आ बनी है। वह समस्या चैन नहीं लेने देती है। वह मजबूर करती है कि राष्ट्रीयता को उलट-पलट कर फिर-फिर परखा जाय और उसके सम्बन्ध में सही दृष्टि प्राप्त की जाए।

गांधीजी के रहते भारत की राष्ट्रीयता को उनसे मार्ग दर्शन मिलता रहा। स्वयं गाँधीजी को वह झमेला नहीं छूता था। कारण, उन्होंने अपना धर्म अहिंसा माना था। अहिंसा धर्म होने से एक और अनेक की समस्या का उनके भीतर ऐसा समाधान हो जाता था कि तात्विक कोई कठिनाई उन्हें नहीं होती थी। बाहर से व्यवहार की कठिनाई जो आती थी, उनकी आंतरिक श्रद्धा से छूकर वह कुछ हल ही होती थी, हावी न हो पाती थी। अपने और अपनी आत्मा के रहकर सबके बनते जाने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई। सबके होने के लिए उन्हें अपनी मर्यादा छोड़ने

की आवश्यकता नहीं थी। एक में से ही उन्होंने सबको साधा। अन्त तक कहा कि मैं सनातन हिन्दू वैष्णव हूँ, उसी में से सब धर्म मुझे समान बनते हैं। वे सब भी मेरे हैं, मैं उनका हूँ। मेरा वैष्णवत्व मुझे यह सिखाता है।

यों यह स्थिति अपरिचित नहीं है। सूफी और मर्मी लोग सब में उस एक को देखते कहे जाते हैं। लेकिन शायद वह एक को इतना देखते हैं कि अनेक को उनकी आँख यथोचित महत्व नहीं दे पाती। गांधीजी ने अनेक के, एक-एक के अलग-अलग, महत्व को कम नहीं किया। वही उन का सबसे बड़ा दान है। राजनीति जो दुनिया के कामकाज सम्हालने का दायित्व लेकर अपने लिए प्रभुत्व सम्पादन करती है, गाँधीजी से आदेश और अनुमति प्राप्त करने की स्थिति से ऊंची नहीं रह सकी। कारण, राजनीति अनेकता में रहती है, उसको पहचानती है, उसके साथ बर्ताव करने में कुशलता साधती है; लेकिन राजनीति ने पाया कि गाँधीजी उस अनेकता को स्वयं उससे भी अच्छी तरह जानते हैं। वह छोटी-से-छोटी अनेकता (अल्पसंख्या) को भी गौण मानने को तैयार नहीं है, उसका भी आदर और संरक्षण कर पाते हैं। आदर्शवादी अधिकांश यहीं चूकता है। भविष्य के आवाहन में वर्तमान को वह यथोचित मान नहीं दे पाता। वर्तमान और भविष्य, व्यवहार और आदर्श, के अन्तर पर अधीर और व्यग्र होकर वह बाधा को अपने से बाहर देखने लगता है और उसको बलात् मिटाने की चेष्टा में पड़ जाता है। यह प्रयत्न जब विफल होता है तो वह और हठ ठानता है। परिणाम यह तो आता नहीं कि अनेकता मिटे, होता यह है कि अनेकता में जो अन्तर्व्याप्त ऐक्य सूत्र है वह और ओझल और क्षीण बनता है और अनैक्य ऊपर के रूपाकार की ओर से भीतर की ओर मुड़कर ऐक्य-श्रद्धा को काटने और खाने लगता है।

गांधीजी जब भारत आये, और फिर काँग्रेस में आये, उस समय यहां कम दल न थे। लेकिन देखा गया कि जैसे समूचा राष्ट्र शनैः शनैः एक

ओर इकट्ठा होता जा रहा है। विरोधी हैं, पर मानो वे भी विरोधी नहीं हैं। जिस नीति से यह विस्मय सम्पन्न हुआ वह बुद्धिचातुरी अथवा कूटनीति की नहीं थी। गांधी के व्यक्तित्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह एकदम सरल थी। वह सबको अपनी अपनी जगह मान्यता देकर चलने की थी। सबको अपनी निजता में अक्षुण्ण रहने देने और रखने का काम उन्होंने अपना मान लिया था, इस कारण किसी को तोड़ने की भाषा उन के लिए अनावश्यक हो गई। अपने सत्य पर स्वयं डटे रहना और दूसरे को एवं दूसरे के सत्य को उसी प्रकार अवसर देना--इस निपट एक, फिर भी दुहरी, नीति के पालन से उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता को वह मार्ग मिलता चला गया जो उसे चाहिए था।

किन्तु गांधी और काँग्रेस किसी भी समय एक नहीं हो सके। स्वयं गांधीजी ने यह नहीं होने दिया। गांधीजी भाव में ऐक्य इतना साध सके थे कि शरीराकार में तो विविध और विभिन्न बने रहना ही उन्हें उचित जान पड़ा। परिणाम यह कि जब उन्हें अनुभव हुआ कि काँग्रेस उनसे अलग स्वयं अपने पैरों खड़े होने की सामर्थ्य खो रही है, इतनी उन पर निर्भर होती जा रही है, तब उन्होंने काँग्रेस मेम्बरी से भी अपने को अलग कर लिया। काँग्रेस को यदि अनिवार्य लगे कि वह गाँधीजी का नेतृत्व खोजे और पाये, तो भी गांधीजी उसके संचालन-सूत्र को अपने हाथ में थामने वाले न थे। उनकी ओर से यह विभाग मानों जवाहरलाल जी का हो चुका था। परामर्श के लिए वह सुलभ थे, शेष में छुट्टी थी कि जवाहरलाल काँग्रेस को अपनी राह चलायें। गाँधी और जवाहरलाल के संबंध काँग्रेस के पिछले दिनों के इतिहास की कुंजी हैं। जवाहरलाल जैसा गाँधीजी का भक्त दूसरा मिलना कठिन है। पर अपने प्रति खरे रहने की आवश्यकता की अतिरिक्त चेतना से भी जवाहरलाल बच नहीं पाते थे। गांधी के प्रति समर्पण में से जवाहरलाल कुछ भी अपने पास बचा रखना चाहते थे, सो नहीं; पर गांधी समर्पण स्वयं लेना न सीखे थे। समर्पण सब

भगवान् का है। और गांधी इतने आस्तिक थे कि मानते थे कि कोई अलग ईश्वर की ओर से इसलिए नहीं बना है कि वह अपने अलगपन को, यानी अपने अलग 'अहं' और अलग बुद्धि को, अपने पास न रखे। इसलिए जब जब जवाहरलाल की ओर से मतभेद उन तक गया तभी तब उनकी ओर से वह सुरक्षित वापिस जवाहरलालजी को वापिस कर दिया गया। उसको तोड़ने और गलाने का काम कभी रत्ती भर भी गाँधीजी ने नहीं किया। जवाहरलाल स्वयं अपनी ओर से यह करते तो कर सकते थे। पर वह अपनी प्रकृति और रक्त को कहाँ ले जाते? ईश्वर, जो गांधी का समूचा बल और संबल था, जवाहरलाल की समझ के हाथ किसी तरह न आता था। उस धारणा में जवाहरलाल को बल्कि अंधेरा इकट्ठा हुआ दीखता था। उस अंधेरे की जगह बिजली के जलते अक्षरों में वह 'उन्नति' लिख डालना और पढ़ देखना चाहते थे। गांधी धार्मिक थे, पर जवाहरलाल आँख खोलकर धर्म को कैसे मान सकते थे? धर्म कई थे और इतिहास बताता था कि वे आपस में झगड़ते आये हैं। ऐसी हालत में बहुत उदार हुए तो वह 'धर्म-निरपेक्ष' ही हो सकते थे।

इस पृष्ठ-भूमि पर हिन्दू-मुस्लिम समस्या के इतिहास को समझें। मुस्लिम के वही अधिकार हों जो हिन्दू नागरिक के, यह परिणाम तो दोनों ही को प्राप्त था। लेकिन जवाहरलाल के लिए जब कि हिन्दू-मुस्लिम दोनों शब्द वृथा थे और वहम थे, तब गांधीजी को दोनों धर्म और दोनों व्यक्ति प्रिय थे। राष्ट्रीयता जवाहरलाल के लिए इस अर्थ में असाम्प्रदायिक थी कि संप्रदाय से वह मुक्त रहे। गाँधीजी के लिए उसके असांप्रदायिक होने का मतलब यह था कि वह प्रत्येक संप्रदाय के लिए अपनी हो सके।

हिन्दू-मुस्लिम शब्द गांधीजी के लिए प्रतीक थे। व्यवहार की अनेकता नाना शब्दों का सहारा लेकर बनती और प्रगट होती है, हिन्दू-मुस्लिम के नीचे मानों भेद की वह समूची भूमिका ही आ जाती थी। भेद के प्रति अधीर और अवज्ञाशील होना क्या नास्तिकता ही न कहलायगी? वैर वैर

से किया जा सकता है, वैरी से नहीं। वैरी मानकर चलने से वैर आप ही पड़ने लगता है, पर असल में तो वैरी कोई है ही नहीं। जो अपने को वैसा मानता है वह भूल में है; शायद वह भय में है। वैर को मिटाने के लिए वैरी को मान देने से शुरू करना होगा। मान ऊपरी नहीं, बल्कि हार्दिक। ऊपर से तो बल्कि चाहे असहयोग और सत्याग्रह भी चल सकता है।

इस दृष्टि से गांधीजी ने इस्लामी राजनीति से अधिक इस्लाम धर्म की ओर ध्यान दिया। इस्लाम धर्म यदि शांति का है, और फिर भी अगर मुसलमान अशांति के लिए तुला दीखता है तो कहीं-न-कहीं कोई विकार ही उसमें कारण बना हो सकता है। शायद मुसलमान अपने क़ुरान से दूर चला गया है। मुसलमान के कारण पैदा हुई उलझन का हल कहीं बाहर से नहीं आयगा, वह उसी में से आयगा। वह इसी प्रयत्न में से आयगा कि मुस्लिम अपने को और अपने काम को अपने ईमान पर कस कर देखे। गांधीजी ने इसीसे हिन्दू को कहा—"सच्चे हिन्दू बनो", मुसलमान से कहा—"सच्चे मुसलमान बनो"। इस तरह हिन्दू के हिन्दू बनने और मुसलमान के मुसलमान बनने के आग्रह से सम्मिलित भारतीयता या राष्ट्रीयता कैसे पनपेगी, यह शंका गांधीजी को नहीं हुई। उनकी श्रद्धा थी कि अपनी-अपनी जगह सच्चे इन्सान बनने की कोशिश में से जो निकलेगा वही सच्चा होगा। राष्ट्रीयता भी वही सच्ची होगी। किसी भी धर्म को छोड़ने की ज़रूरत किसी के लिए क्यों पड़े? क्या कोई धर्म हो भी सकता है जो आदमी को सच्चा और सेवा भावी बनाने के लिए ही न आया हो? इससे राजनीतिक समस्या की सुलझन के लिए काम नीचे गहराई में करना होगा। शायद उतनी गहराई में कि जहां मनुष्य का अंतःकरण और उसका धर्म रहता है। असल वहां है, वहां किया गया काम ऊपर फूल या फल में आप ही झलक आयगा। अतः मुख्य कर्तव्य मन का और चेतना का संस्कार है।

लेकिन वह न हुआ। गांधी जी को ही वह सब कर जाना था, यह मानना अपने को क्षमा दे लेना है। गांधीजी अपनी भांति जीकर, चलकर और हमारी आंखों को खोल देने वाली सफलता भी दिखाकर एक जीवन नीति का उदाहरण सामने कर गये हैं। उससे अधिक करना किसी का काम नहीं है। उस मानव-नीति की भूमिका पर हमारा काम नहीं चल सका। राजनीति का बोल-बाला रहा और राजनीतिक अधिकारों की चाह और मांग से वातावरण गर्म बना रहा। गांधीजी अंग्रेजी शासन के शत्रु, और अंग्रेज जाति के मित्र थे। कांग्रेस राष्ट्रीय होकर शत्रुता समझ सकती थी, मित्रता नहीं। नीति का वह द्वैताधार (Exclusivism) यदि हमारी राष्ट्रीयता के लिए स्वीकृत हो सकता था, तो वह द्वैत का विष वहीं तक रह जाने वाला न था। अंग्रेज के प्रति हिन्दुस्तानी गौरवपूर्वक द्वेष रख सकता है, तो मुसलमान हिन्दू के प्रति धर्मपूर्वक अपने में ईर्ष्या का भाव क्यों नहीं उपजा सकता? अर्थात् उग्र राष्ट्रवाद ने यहां भारत में द्विराष्ट्रवाद को जन्म दिया। जान पड़ा कि भारतीय इस्लाम की आवाज़ कायदे-आज़म जिन्ना की आवाज़ है। यह बात कि नमाज और कुरान से श्री जिन्ना का उतना गहरा वास्ता नहीं है, उस समय किसी के लिए संगत तर्क नहीं रह गई थी। राष्ट्र-धर्म मानव-धर्म से स्वतन्त्र बन आया था और श्री जिन्ना एक स्वतन्त्र मुस्लिम राष्ट्र के नेता और निर्माता के रूप में प्रबल होते चले गये। जमीयत-उल-उलेमा, जो कुरान के ज्यादे नज़दीक थी, महत्वहीन चीज़ हो गई और मुस्लिम लीग ज़ोर पकड़ती गई। यह सब गांधीजी के रहते हुआ, जैसे कि राजनीतिक क्षेत्र के और बहुत-से काम गांधी जी के बावजूद होते रहे।

लीग का ईमान साफ था। हिन्दू एक कौम है, मुस्लिम दूसरी कौम है, और दोनों अलग है। सदियों से साथ रहे हैं, पास रहे हैं, सही; लेकिन कौमियतें दो हैं, और भारत की मुसलमान कौम के लिए एक अलग राज्य बनकर ही रहेगा। स्पष्ट ही यह राज्य बँटाने की नीति थी।

सम्मुख उसके गाँधीजी की मानव-नीति थी। उसका कहना था कि

बंटवारा चाहते हो, तो जबर्दस्ती से उसे रोका कैसे जायगा ? इससे जबर्दस्ती से कुछ लेने की बात में भी क्या सार है ? आखिर क्या हिन्दू मुसलमान होने से दोनों भाई-भाई नहीं रहे ? बटवारा भाइयों में भी होता है। अपने दो के बीच तीसरे अंग्रेज़ को लाने से मन में फर्क पड़ता है और काम आसान नहीं होता। यह मान लो कि हम एक कुनबे के हैं और फिर चाहो तो बटवारा ही कर लो।

पर भाईपने का वातावरण न था। न कांग्रेस के पास, न लीग के पास। लीग राजनीतिक थी, तो कांग्रेस कम राजनीतिक न थी। अँग्रेज़ जाने लगे तो यहां का अपना राज्य किस पर छोड़कर जाय ? जाने में उनके देर होती जाना भी भाता न था। आरजी जो राजकाज का इंतजाम किया था वह चलता नहीं दीखता था। खींचतान इतनी थी कि काम ठप्प था और मनमानी चलती थी। कांग्रेस कोई नीति और सिद्धान्त की संस्था नहीं थी, उसकी जिम्मेदारी तात्कालिक और व्यावहारिक थी। राज्य उसे चलाना था। रोज की घिस-घिस से क्या लाभ ? चलो, झटके में एक बड़ा आपरेशन ही सही। इस भाव से, नीति में और वातावरण में संशय और हिंसा होते हुए भी, अंग्रेज़ के हाथों कांग्रेस ने टूक-टूक हो जाना स्वीकार कर लिया। टूक-टूक हो जाना इसलिए कि यह काम बाहर से हुआ था, और सौहार्द साथ न था। आपस के समझौते से होकर वह चीज बंटवारा कहलाती और मन में मैल न छोड़ जाती। पर उस टुकड़े होने में से जो निकला वह तमाम आगे आने वाले राजनीतिकों के लिए चेतावनी का काम दे सकता है। चेतावनी यह कि राजनीति के लिए मानव-नीति को छोड़ना कभी-कभी क्षम्य होने वाला नहीं है !

उसके बाद से भारत की राष्ट्रीयता कसौटी पर है। विभाजन के बाद गांधीजी ने तो अपने लिए रास्ता निकाल लिया था। उन्होंने कहा कि हुकूमतें दो हुई हैं, दिल तो दो नहीं हुए। आगे उन्होंने कहा कि क्या लकीर खिंच जाने से लाहौर मेरे लिए गैर हो जायगा ? मैं वहां जाने-आने

के लिए भला पासपोर्ट की सोचने वाला हूँ ? इस तरह कानूनन अगर राष्ट्र दो हो गये, और उनकी सरकारी राष्ट्रीयताएँ दो हो गईं, तो गांधीजी ने अपने निकट इस नये द्वैत को स्वीकार नहीं किया। यानी स्वीकृत राष्ट्रीयता से उन्होंने अपने को अलग कर लिया। या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि यहाँ की राष्ट्रीयता ने अपने को गांधीजी से और गांधी-मार्ग से अलग कर लिया।

गांधीजी किसी भी तरह पाकिस्तान में बसनेवाले मुसलमान को अपने लिए विदेशी बनाने को तैयार न थे। स्वयं हिन्दू थे, इसलिए मुसलमान उनका और भी अपना था। पाकिस्तान नाम हो जाने से पंजाब, सूबा सरहद, सिंध, बिलोचिस्तान या पूर्वी बंगाल के बहुसंख्यक मुसलमान लोग उनके लिए इतने पराये नहीं हो सकते थे कि उनकी भूलों और गलतियों को अनदेखी कर दें। भारत यूनियन में वह घिरकर नहीं बैठ सकते थे। भारत का पाप अगर उनके लिए अपना था, तो पाकिस्तान का भी पाप उन्हें उतना ही अपना था। मुसलमान के पाप के लिए भी प्रायश्चित करना उन्होंने अपना धर्म मान रखा था। इसलिए पाकिस्तान में होते हुए अन्याय पर हाथ पर हाथ धर बैठने के लिए वह मजबूर न थे।

लेकिन कांग्रेसी राष्ट्रीयता अपने हाथ कटा चुकी थी। वह पाकिस्तान के संबंध में असहाय हो चुकी थी। विदेश के रूप में ही पाकिस्तान पर वह प्रभाव डाल सकती थी, या उससे निबटने की सोच सकती थी। आत्मीय के रूप में उसका मन और मत बदलने, या इस तरह उसको गलती से बाज आने, के लिए मजबूर किसी तरह न कर सकती थी।

नतीजा यह कि मुसलमान के पास एक साथ दो देश हो गए। पाकिस्तान उसका अपना धर्म-भूमि के नाते, और भारत भी अपना जन्म और कर्म भूमि के हक से। पाकिस्तान मुस्लिम राष्ट्रीयता के नारे पर बना था और उसी रूप में अपने को जमाने का ही उपाय उसके पास था। उसकी प्रतिक्रिया में भारत में हिन्दू राष्ट्रीयता उभरी। हिन्दू ने अनुभव किया कि

पाकिस्तान जब कि उसका है नहीं, तब हिन्दुस्तान तो पूरी तरह उसका हो। कांग्रेस को यह स्वीकार न था। उसकी हुकूमत धर्म निरपेक्ष होकर ही चलने वाली थी। हिन्दू-मुसलमान में भेद पालना उसे मंजूर न था।

भारत की राष्ट्रीयता की स्थिति की यह उलझन जारी ही है। कांग्रेस भारत यूनियन की सरकार बन चुकी है और उससे अलग उसकी कोई स्थिति नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि ताकत सरकार है और उस बल के अभाव में कांग्रेस संस्था निर्जीव ही है। खान अब्दुल गफ्फार खां इस कांग्रेस के अनन्य सेवक और सैनिक रहे हैं, लेकिन कांग्रेस उस नाम को आज मुँह पर भी नहीं ला सकती। यानी कांग्रेसी राष्ट्रीयता हद-बन्द है। इस्लाम के नाम पर बराबर में जो एक नया राष्ट्र उसी के शरीर में से कट कर बन खड़ा हुआ है, उससे मुँह फेरकर ही चलने को वह लाचार है। वह मुसलमान को इस शर्त पर ही अपने अन्दर समा सकती है कि वह भारत की परिधि में हो। परिधि से बाहर होकर मुसलमान उसके बूते से भी बाहर हो जाता है। हिन्दू इसलिए कांग्रेसी राष्ट्रीयता से आश्वस्त नहीं हो पाता। संशय से उसे उद्धार नहीं मिलता और कोई उसे कारण नहीं दीखता जो भारत के मुसलमान को दुतरफा वफादारी से बचा सके। हिन्दू नहीं समझ सकता कि मुसलमान को दुहरा लाभ क्यों मिलता चला जाए और क्यों खुल्लम-खुल्ला भारत की राष्ट्रीयता हिन्दू-राष्ट्रीयता न बन जाए? हिन्दू-राष्ट्रीयता में, वह कहता है, यह नहीं आता कि मुसलमान यहाँ न रहे, इतना ही है कि हिन्दुओं के सद्भाव के आधार पर ही वह रहे और देश हिन्दू-देश समझा जाए।

इस तरह गाँधीजी की मौलिक मानवीय राष्ट्रीयता के अभाव में इस समय दो राष्ट्रीयताओं में बदाबदी है। दोनों को मौलिक की जगह तान्त्रिक कहा जा सकता है। एक कांग्रेसी और धर्म-निरपेक्ष, दूसरी संघी और हिन्दू-धर्म-परायण।

यह कि कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो राष्ट्र और राष्ट्रीयता का सहारा

नहीं लेती और वे राजनीति में सक्रिय हैं, राष्ट्रीयता के विचार में विशेष महत्व की बात नहीं है। साम्यवाद राष्ट्र से अलग होकर विचार करता हो, लेकिन साम्यवादी दल कहीं भी राष्ट्र के सांचे को या राष्ट्रीय भाव को अलग छोड़कर नहीं चलता। शक्ति वह अपने लिए यहीं से खींचता है। लेकिन राष्ट्र और राष्ट्रीयतायें उसके लिए प्रयोजन सिद्ध करने के साधन हैं; इससे धर्म-परायण अथवा कि धर्म-निरपेक्ष, राष्ट्रीयता के इन दोनों प्रकारों के संबंध में उसे विशेष चिन्ता नहीं हैं। चिन्ता उसे यदि है तो यह कि लोक-चेतना आर्थिक की जगह कहीं नैतिक न हो जाय।

मेरा मानना है कि राष्ट्रीयता का गाँधी-आधार यदि हम स्वीकार करना चाहें तो उसके दूसरे फलितार्थों को छोड़ने से नहीं चलेगा। अहिंसा को, यानी समन्वय को, सत्य और सत्य के आग्रह के साथ चलाने से ही भारत राष्ट्र उठ सकेगा और शायद दुनिया के लिए भी कुछ कर सकेगा। समन्वय में मेल और समझौता है, तब सत्य के आग्रह में से असहयोग और शांत-युद्ध भी निकल सकता है। जब तन्त्र इतने प्रबल और व्याप्त हो रहे हैं, तब मानव की आत्म-प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता के लिए नकरात्मक नहीं बल्कि प्रेरक रूप में गांधी-नीति को स्वीकार करना होगा।

★
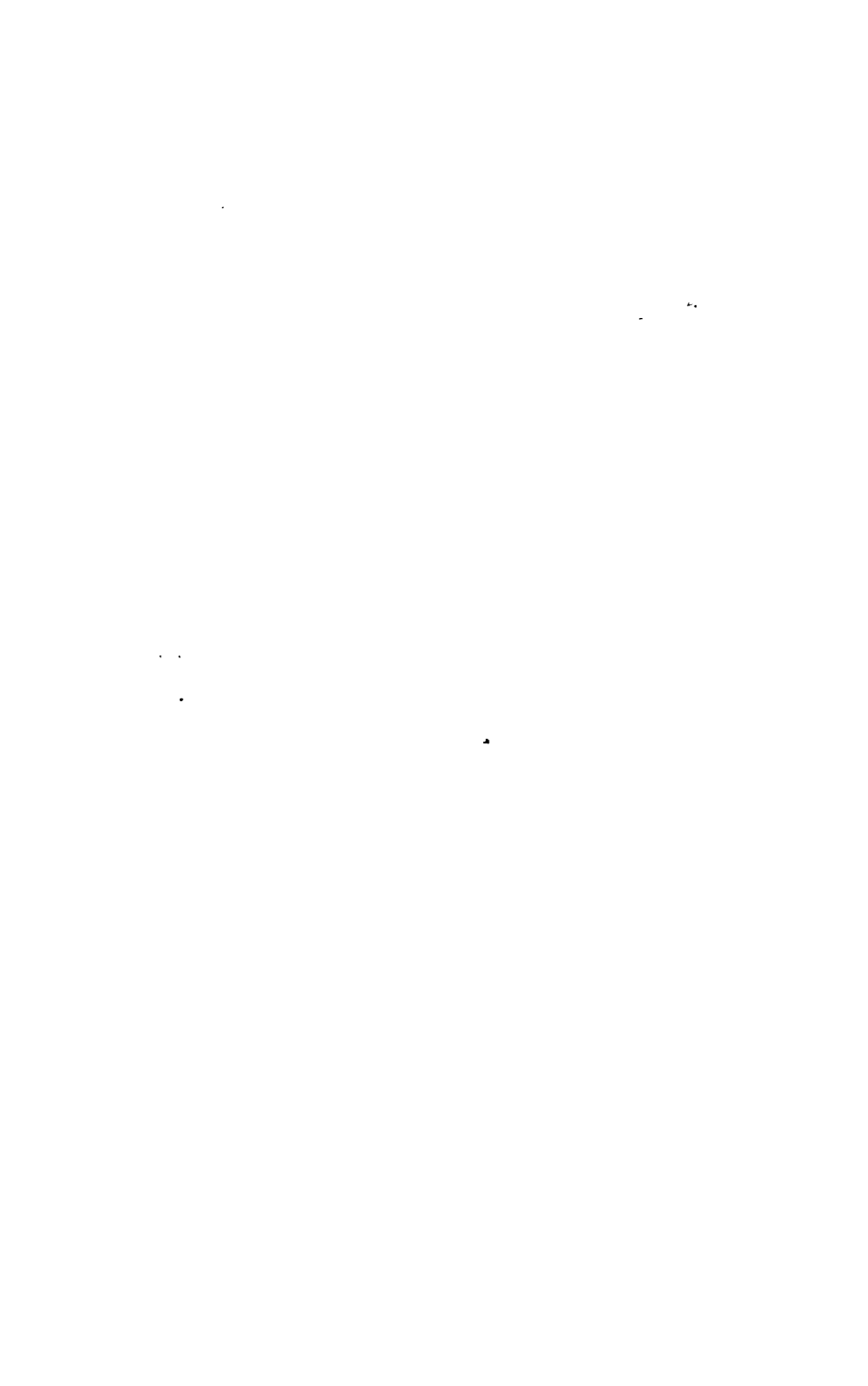
: ३ :

अहिंसा

: १ :

अहिंसा का बल

एक सम्पादक भाई अहिंसा के कायल थे। पर गांधीजी के यहाँ उन्होंने देखा कि भजन गाया जा रहा है—

सुनेरी मैंने निर्बल के बल राम।
जब लग गज बल अपनो बरत्यो
नेक सरो नहीं काम।
निर्बल ह्वै बल राम पुकार्यो
आये आधे नाम॥
द्रुपद-सुता निर्बल भई ता बिन
गहलाये निज धाम।
दुःशासन की भुजा थकित भई
बसनरूप भये श्याम॥
अपबल, तपबल और बाहुबल
चौथा है बलराम॥
सूर किशोर कृपा से सब बल
हारे को हरिनाम॥

सुन कर इन भाई को गांधीजी की अहिंसा पर बड़ी अश्रद्धा हुई। यही क्या बलवान की अहिंसा है? यह तो उल्टे निर्बल बनाने वाली है। ऐसा हरिनाम का भजन राष्ट्र को निर्बल नहीं तो क्या बनायगा? यह क्या गुलामी की मनोवृत्ति को बढ़ाना ही नहीं है? अहिंसा

तो हमें चाहिए, पर ऐसी रामनाम का आसरा थाम कर चलने वाली थोदी अहिंसा से भला क्या होना-जाना है ?

चुनांचे लौट कर उन सम्पादक भाई ने अपने पत्र में लिखा कि अहिंसा के नाम पर यह तो निर्बलता की सीख दी जा रही है। महाभारत में पाण्डवों को विजयी करने वाली हमें कृष्ण की अहिंसा चाहिए। हमको अग्नि के समान तेजस्वी अहिंसा चाहिए। भगतसिंह वाली और शहीदों-वाली अहिंसा चाहिए।

मेरी विनम्र सम्मति में सम्पादक भाई अहिंसा को नहीं समझे और उन्हें उस शब्द के साथ खेलना नहीं चाहिए।

लेकिन सम्पादक भाई को यहाँ छोड़ा जा सकता है और विचार किया जा सकता है कि अहिंसा में बल है, तो किस प्रकार का बल है ? बल ही असल में क्या है ? ऊपर के भजन में सब बल हार जाने पर 'हारे को हरिनाम' का बल प्राप्त होना बताया है। इसमें क्या आशय है ?

आदमी को आज हम पशु से निर्बल नहीं कह सकते। पशु से वह श्रेष्ठ है, यानी बल में भी श्रेष्ठ है। शेर उसके सरकस में है और हाथी पर वह सवारी करता है।

पर यह भी स्पष्ट है कि शेर के पंजे और दाढ़ के आगे आदमी नाचीज है, और हाथी के पाँव-तले आदमी की जान बाकी नहीं बच रहने वाली है।

फिर भी आदमी उन पशुओं से बल में हीन नहीं है, तो क्यों ?

उत्तर है कि जिस बल से पशु बलवान है, उसको तो आदमी ने हेच बना दिया है। उसको तो अबल ही बनाकर रख दिया है। क्योंकि उसने एक ऊंचे बल का आविष्कार किया है। उसको बुद्धि-बल वग़ैरह कहा जाता है। उसके आगे पशुबल नपुंसक बना दीखता है।

आरम्भ में आदमी अन्य वनचर प्राणियों में एक था। प्रकृति की

कृपा से मानो वह वंचित था। नख पैने नहीं, दाढ़ तेज नहीं। देह से दुर्बल। शीत-ताप से बचने को वालों का लबादा भी उसे प्राप्त नहीं। प्राणियों में सबसे अभागा प्राणी उसे कह सकते थे। तरह-तरह के अभावों से वह घिरा था और हैरान था।

पर यह अभाव ही प्रकृति की ओर से आदमी को वरदान था। उस आदमी के द्वारा विकास को एक कदम आगे बढ़ना था। इसी से वह निर्बल बना, ताकि एक नए बल का आविष्कार करे।

आदिम मानव की चेतना चहुँ ओर के दबाव से अभिभूत हुई। भय से उसे भीत रहना पड़ता था। वह अनायास अपनी रक्षा करने में असमर्थ था, जीवन-रक्षा तक के लिए उसे पुरुषार्थ की आवश्यकता थी। प्रकृति ने उसे अभाव दिया, कि अभाव में से आविष्कार का उदय हो।

तब से अब तक सभ्यता का इतिहास नए बलों के आविष्कार का इतिहास ही है। प्रत्येक नवीन बल ने पुराने बलों को अबल ठहरा दिया। असल में नवीन बल का आविष्कार सदा ही उस व्यक्ति द्वारा हुआ है जिसके मन में पुराने बलों की अबलता पहले ही घर कर गई है। आविष्कारक दुनियावी सफलता से विमुख रहे हैं और प्रतिभावान धनाकांक्षी नहीं होते। क्यों? क्योंकि दुनियावी सफलता और धन की यथार्थता से एक ऊंची यथार्थता का आभास उन्हें होता है। तब उनके लिए लोक-वैभव आदि अयथार्थ ही हो उठता है। समूचे इतिहास के भीतर जिस-जिसने कुछ दिया, यानी मानवता के धरातल को ऊंचा उठाया, उसने तत्काल के प्राप्य को हेय माना, और आगे की संभावनाओं को अपनी साधना से संभव बनाया।

अहिंसा का बल, बेशक, किसी भी दूसरे लौकिक बल के प्रयोग को स्वेच्छापूर्वक त्यागे बिना संभव नहीं हो सकता। वह अहं-बल नहीं है। इसलिए बुद्धि-बल से भी वह भिन्न है। दुनिया में जिन बलों को हम जानते हैं, उनसे वह निराले प्रकार का है। उस बल से बलवान आदमी उतना ही अपने को विनम्र मानता है, वह उतना ही सेवक बनता है।

क्यों कि वह अहं का नहीं है, इसीलिए वह हरि का है । अर्थात सच्चा अहिंसक पुरुष अपने को प्रार्थना पूर्वक शून्यवत मानता है ।

इसीलिए अहिंसक शक्ति सम्पादन करने वाले को उत्तरोत्तर अकिंचन बनना होता है । जिसके पास धन के, कुल के, विद्या के, बुद्धि के, बल के गर्व के लिए स्थान बचा है, वह अभी अहिंसा के बल का पूरा पात्र नहीं है । अभ्यंतर को उन सब से जितना अधिक खाली किया जायगा, उतना ही सच्चे अहिंसा के बल को व्यक्तित्व में आने का अवकाश होगा ।

जो आस्तिक है उसे अपने ईश्वर के सिवाय दूसरा और सहारा ही क्या चाहिए ? इसलिए उसे अस्त्र भी नहीं चाहिए । अस्त्र शंका में से और भय में से आता है । लेकिन आस्तिक को शंका कैसी ? और उसको भय कैसा ? मृत्यु में भी क्या वह अपने ईश्वर की कृपा और उसके आदेश को ही नहीं देखता ? इसलिए मृत्यु की भेंट में भी उसे कोई झिझक नहीं है। वह समभावी है । उसे अविश्वास की जरूरत नहीं, क्योंकि वह आत्म-विश्वासी है । किससे लड़ने को वह अस्त्र बाँधे ? उसका ईश्वर तो सब कहीं है ।

इसलिए प्रार्थना में से ही वह अपना बल प्राप्त करता है । वह बल कारुण्य में से बनता है और स्नेह उसके दान का स्वरूप होता है ।

क्या हम जिसे बल कहते हैं उसे भीतर से समझने का प्रयास उठा सकते हैं ? अगर उठा सकते हैं तो हम देखेंगे कि उस प्रकार के हरेक बल के नीचे एक निर्बलता की अ-स्वीकृति है । क्रोध में ताकत है, पर क्रोध में समझ की कमज़ोरी है और उस कमज़ोरी को न मानने की कोशिश है । शेखी अन्दर की कमी की अनुभूति को ढकने के लिए बनती है । बहादुरी, सिपाहियाना बहादुरी, कौन कहे कि एक प्रकार के भय का ही बचाव नहीं है ? अर्थात सब प्रकार का अहं-बल अपने भीतरी निर्बलता की विमुखता में से आता है । भीतर ही भीतर हम जानते हैं कि हम निर्बल हैं, पर मानो हम अपने को ही जतलाना चाहते हैं कि हम निर्बल नहीं हैं । इसी द्वन्द्व की स्थिति में से तमाम लौकिक बलों का जन्म होता है।

लेकिन जब हम खुल कर धन्य भाव से अपनी अबलता का स्वीकार

करते हैं और उसे मानों आसुओं के रूप में ईश्वर के चरणों में, जो ईश्वर कि सब शक्तियों का स्रोत है, विसर्जित कर देते हैं, तो वह आत्म-शक्ति प्राप्त होती है जो कभी हार या टूट नही सकती। वह मूल तक खरी है, वह विनय की लचक से लचकीली है, वह श्रद्धा पर कायम है, वह प्रार्थनामय है।

हम दुनिया का इतिहास देखते तो हैं। सम्राज्य बने, साम्राज्य ध्वंस हो गए। सरकारें बदलीं, क्राँतिया हुईं। एक राज्य के शव पर दूसरा राज्य कायम हुआ। राजा हट गया तो पार्टी आ गई। पार्टी गिरी कि अधिनायक उठ खड़ा हुआ। इस तरह एक-एक आदर्श के नाम पर हम मार-काट मचाते और विधानों के साथ प्रयोग करते हुए चलते ही चले आए हैं। हम जान गए हैं कि स्वतंत्रता, समता, एकता आदि-आदि के पीछे खून बहाते हुए हम बढ़े हैं, तो इस पार आकर यह भी पा लिया है कि हम मृग-तृष्णा के पीछे ललकते रहे हैं। हिंसा का रास्ता बंधुत्व तक नहीं पहुँचा सका, नहीं पहुँचायेगा। तर्क की माया है जो हमें सब कुछ समझा देती मालूम होती है। आदमी कब अपने को छल नहीं सकता? पर अहिंसा के बल से ही एकता बढ़ सकती और विश्व-बंधुत्व आ सकता है। क्योंकि वही बल है जिसमें अहंकार का पोषण नहीं होता, बल्कि विसर्जन होता है। नहीं तो तरह-तरह के आदर्शों के नाम पर और राष्ट्रीयता के नाम पर अहंकारों को पुष्ट किया जाता है। उससे बंधन ही बढ़ सकता है, स्वतंत्रता के दर्शन नहीं हो सकते। कारण, शासन-पदों पर बैठे हुए लोगों में अदल-बदल हो जाने से जन-स्वातंत्र्य का किंचित भी सम्बन्ध नहीं है।

इसलिए जिससे मानवता का सच्चा हित होगा, जिसमें छल की संभावना नहीं है, वह बल सेवा का बल है, श्रद्धा का बल है, ईश्वर के समक्ष अपनी निरीह अकिंचनता की सम्पूर्ण स्वीकृति से प्राप्त होने वाला निरहंकारी बल है। बाकी सब अपने ही भीतर की राक्षसी माया है।

★

: २ :

अहिंसा और मुक्ति

इधर बार बार मेरे मन में प्रश्न हुआ है कि जीवन-मुक्ति अथवा मोक्ष क्या ? यह प्रश्न किसी शास्त्रीय तत्व की जिज्ञासा में से नहीं बना है। जीवन की आवश्यकता में से ही मेरे निकट वह तो उपस्थित हो गया है। और उसका उत्तर हर बार उत्तरोत्तर स्पष्टरूप में अपने भीतर से मुझे यही मिला है कि जीवन की मुक्ति अहिंसा में है।

अहिंसा में कहा, अहिंसा द्वारा नहीं कहा। कारण, अहिंसा साधन या सीढ़ी नहीं है जो कभी अनावश्यक हो जाये। वह एक ही साथ साध्य भी है जिसकी आवश्यकता कभी निश्शेष न हो। उसका प्रयोग सर्वव्यापी है। उसे लाँघा नहीं जा सकता। इस अर्थ में वह परमधर्म है। वह कोई अचल स्थिति नहीं है, सतत क्रियमाणता है। उसमें गति को अनन्त अवकाश है। अर्थात् कोई यह नहीं कह सकता कि वह अहिंसक है, कह यही सकता है कि अहिंसा का प्रयासी साधक है। इसी अपेक्षा में अहिंसा द्वारा की जगह अहिंसा में मुक्ति की उपलब्धि है, यह कहना मुझे अधिक यथार्थ मालूम होता है।

ये शब्द कुछ भारी और व्यवहार से दूर गए हुए से लग सकते हैं पर असल में ऐसा नहीं है। सच पूछिये तो नित्य प्रति के व्यवहार के प्रश्न को लेकर इन शब्दों की सत्यता मेरे लिए और भी अनिवार्यता से प्रगट हो आती है।

मुक्ति और मोक्ष शब्दों में ध्वनि कुछ शास्त्रीय आ जाती है। पर अ

हर समय हम अपने को बंधन में नहीं अनुभव करते ! क्या व्यक्ति और क्या राष्ट्र के रूप में हम स्वतन्त्रता के लिए ही नहीं छटपटाया करते ? क्या हर कोई—व्यक्ति, दल, देश या साम्राज्य—परिस्थितियों से अपने को जकड़ा हुआ ही नहीं पाता और उनसे आजाद हो जाना नहीं चाहता ? क्या हम कह सकते हैं कि जो विग्रह और संघर्ष हमारे कौटुम्बिक, सामाजिक और विश्व-व्यापी जीवन को अशान्त और अस्त-व्यस्त किये हुये हैं, वे अपनी-अपनी स्वतन्त्रता की इच्छा और चेष्टा में से ही हमने नहीं उपजा लिए हैं ? और क्या अन्ततः उनसे मुक्ति ही हम नहीं चाहते हैं !

इस तरह मुक्ति कोई पारलौकिक लक्ष्य नहीं, हमारे हर कर्म और क्षण की आवश्यकता है। ऐहिक और लौकिक लक्ष भी उससे दूसरा नहीं है।

किन्तु समस्या भी ठीक इसी जगह है। जगत में असंख्य जीव हैं। सबको स्वतन्त्रता चाहिए। मैं अपनी और तुम अपनी स्वतन्त्रता चाहते हो। इसमें संघर्ष आता है और शिष्ट व्यवहार यह सूत्र निकलता है कि जहाँ से दूसरे की स्वतत्रता का आरम्भ है वहीं एक की स्वतन्त्रता की सीमा है।

अब विचारणीय है कि जो सीमित है, क्या वह स्वतन्त्रता सच्ची हो सकती है ! इसलिए व्यवहार में वह सूत्र कभी पूरा नहीं उतरता है। सीमाओं पर लोगों की अलग अलग स्वतन्त्रताएँ सदा ही रगड़ खाया करती हैं और इस प्रकार नये नये युद्धों को जन्म मिलता रहता है।

कहते हैं कि राज्य में एक राजा और जंगल में एक शेर रह सकता है। यानी उस राज्य में यदि कोई स्वतन्त्र है तो वह एक राजा, और जंगल में कोई आज़ाद है तो शेर। स्पष्ट है कि पेड़ों के और राजनीति के जंगल की यह स्वतन्त्रता शेष सबकी परतन्त्रता के आश्रय पर ही एक के लिए संभव बनती है। स्पष्ट ही मेरी स्वतन्त्रता पूर्ण तभी है कि जब तुम या कोई ऐसा

न रहे जो मेरे रहते अपने को गिने, इसी तरह तुम्हारी स्वतन्त्रता यह चाहे कि कोई दूसरा ऐसा न रह जाये कि जो तुम्हारे रहते अपने को स्वत माने। इस पद्धति से दूसरे की पराजय में एक की सफलता और उसक पराधीन रखने में अपनी स्वाधीनता है।

सचमुच यह प्रतिपादन करने वाला एक जीवन-दर्शन ही बन खड़ा हुआ है। इष्ट उसे भी मुक्ति है, पर वह उसकी सिद्धि संघर्ष में से देखता है। युद्ध उसका माध्यम है; राजनीति उसका क्षेत्र है, वह अहं-शक्ति को प्रबल से प्रबलतर, यहाँ तक कि अद्वितीय, बनाकर व्यक्ति को अपनी मुक्ति सिद्ध करने का मार्ग दिखाता है। वहाँ व्यक्ति लाखों को अपनी आज्ञा में लेकर, उनके ऊपर बैठकर, अपने को बन्धन-हीन अनुभव कर सकता है।

इसी को प्रकृति-विज्ञान माना जाता है। इसमें जीव जीव का भोजन है और बल ही न्याय है। यहाँ सबल होना ही एक धर्म और निर्बल होना ही एक पाप है।

समझा जाता है कि अनंत इतिहास में से जीवन का विकास इसी पद्धति से हुआ है। प्रबल जिया है और निर्बल के प्रति दया पालन की बात पर वह रुका नहीं रह गया है। गति इसी प्रकार सिद्ध हुई है और कालचक्र किसी ममता को नहीं जानता है। देखो विधाता को और प्रकृति के विधान को। क्या वह निरंकुश, निर्मम और निरपवाद नहीं है? क्या द्वन्द्व ही जगत का नियम नहीं है? और यदि समस्त प्रकृति का नियम संघर्ष अथवा हिंसा है, तो मानव समाज का भी नियम उससे दूसरा नहीं हो सकता।

यह विचार-दर्शन अत्यन्त तर्क-पुष्ट है। बेशक उस तरह तमाम सृष्टि के मध्य में अपने को मानकर उसका आकलन किया जा सकता है। अपनी निजता की भाषा में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता देखे तो सहसा इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। एक-निष्ठ व्यक्ति दृढ़ संकल्प के द्वारा,

दूसरे को कुचलते हुए, विजेता बन गये हैं—इतिहास भी तो यह दिखाता है।

किन्तु इसी जगह अटक भी है। यदि जीव अनेक हैं, और सबको मुक्ति इष्ट है, तो सच्ची मुक्ति क्या वही न होगी जो दूसरे की सत्ता से टक्कर न ले, बल्कि उसको अपने में समाले ?

यह सम्भव हो सकता है कि दूसरे को दबाकर मैं प्रसन्नता अनुभव करूं, पर दूसरे को बन्धन में डालकर जो सुख मुझे प्राप्त होगा उसमें मेरे अपने निज के लिए भी बन्धन के तत्व गर्भित होंगे। अर्थात् हिंसा के आधार पर प्राप्त हुई स्वतन्त्रता अन्त में एक प्रकार की परतंत्रता ही सिद्ध हो जाने वाली है। वह सब मुक्ति जिसकी जड़ में किसी अन्य के लिए बंधन की अनिवार्यता है, असल में मुक्ति नहीं केवल मात्र एक छल है।

यही स्थल है जहाँ बुद्धि-भेद देखा जाता है। सावधानता की भी इसी जगह आवश्यकता है। मुक्ति हम दो प्रकार की मान सकते हैं—

(१) आकाँक्षाओं की मुक्ति, और—

(२) आकाँक्षाओं से मुक्ति।

आकाँक्षाओं की मुक्ति तो असल में और बन्धन को निमन्त्रण देने वाली ही है। आकाँक्षाओं से ही मुक्ति है जो मुक्ति सच्ची हो सकती है।

सामान्यतया धन हमको स्वतंत्रता देता है। धन हो तो मन बन्धन अनुभव नहीं करता। धन रहते हम जो चाहे कर सकते हैं। जिसके पास अपार धन है वह अपार स्वतंत्र लगता है। कोई इच्छा नहीं जिसको वह पूरी न कर सके। धन और प्रभुता है तो मनुष्य की सब कामनायें सफल हैं। क्या हम ही नहीं अनुभव करते कि हमारे पास और पैसा हो तो हमारी जकड़ ढीली हो आये और हम कुछ अधिक खुल जायं ?

इस जगह हम बुद्ध और महावीर के चरित्र से प्रकाश पा सकते हैं।

न रहे जो मेरे रहते अपने को गिने, इसी तरह तुम्हारी स्वतन्त्रता यह चाहेगी कि कोई दूसरा ऐसा न रह जाये कि जो तुम्हारे रहते अपने को स्वतंत्र माने। इस पद्धति से दूसरे की पराजय में एक की सफलता और उसको पराधीन रखने में अपनी स्वाधीनता है।

सचमुच यह प्रतिपादन करने वाला एक जीवन-दर्शन ही बन खड़ा हुआ है। इष्ट उसे भी मुक्ति है, पर वह उसकी सिद्धि संघर्ष में से देखता है। युद्ध उसका माध्यम है; राजनीति उसका क्षेत्र है, वह अहं-शक्ति को प्रबल से प्रबलतर, यहाँ तक कि अद्वितीय, बनाकर व्यक्ति को अपनी मुक्ति सिद्ध करने का मार्ग दिखाता है। वहाँ व्यक्ति लाखों को अपनी आज्ञा में लेकर, उनके ऊपर बैठकर, अपने को बन्धन-हीन अनुभव कर सकता है।

इसी को प्रकृति-विज्ञान माना जाता है। इसमें जीव जीव का भोजन है और बल ही न्याय है। यहाँ सबल होना ही एक धर्म और निर्बल होना ही एक पाप है।

समझा जाता है कि अनंत इतिहास में से जीवन का विकास इसी पद्धति से हुआ है। प्रबल जिया है और निर्बल के प्रति दया पालन की बात पर वह रुका नहीं रह गया है। गति इसी प्रकार सिद्ध हुई है और कालचक्र किसी ममता को नहीं जानता है। देखो विधाता को और प्रकृति के विधान को। क्या वह निरंकुश, निर्मम और निरपवाद नहीं है? क्या द्वन्द्व ही जगत का नियम नहीं है? और यदि समस्त प्रकृति का नियम संघर्ष अथवा हिंसा है, तो मानव समाज का भी नियम उससे दूसरा नहीं हो सकता।

यह विचार-दर्शन अत्यन्त तर्क-पुष्ट है। बेशक उस तरह तमाम सृष्टि के मध्य में अपने को मानकर उसका आकलन किया जा सकता है। अपनी निजता की भाषा में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता देखे तो सहसा इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। एक-निष्ठ व्यक्ति दृढ़ संकल्प के द्वारा,

दूसरे को कुचलते हुए, विजेता बन गये हैं—इतिहास भी तो यह दिखाता है।

किन्तु इसी जगह अटक भी है। यदि जीव अनेक हैं, और सबको मुक्ति इष्ट है, तो सच्ची मुक्ति क्या वही न होगी जो दूसरे की सत्ता से टक्कर न ले, बल्कि उसको अपने में समाले ?

यह सम्भव हो सकता है कि दूसरे को दबाकर मैं प्रसन्नता अनुभव करूं, पर दूसरे को बन्धन में डालकर जो सुख मुझे प्राप्त होगा उसमें मेरे अपने निज के लिए भी बन्धन के तत्व गर्भित होंगे। अर्थात् हिंसा के आधार पर प्राप्त हुई स्वतन्त्रता अन्त में एक प्रकार की परतंत्रता ही सिद्ध हो जाने वाली है। वह सब मुक्ति जिसकी जड़ में किसी अन्य के लिए बंधन की अनिवार्यता है, असल में मुक्ति नहीं केवल मात्र एक छल है।

यही स्थल है जहाँ बुद्धि-भेद देखा जाता है। सावधानता की भी इसी जगह आवश्यकता है। मुक्ति हम दो प्रकार की मान सकते हैं—

(१) आकाँक्षाओं की मुक्ति, और—

(२) आकाँक्षाओं से मुक्ति।

आकाँक्षाओं की मुक्ति तो असल में और बन्धन को निमन्त्रण देने वाली ही है। आकाँक्षाओं से ही मुक्ति है जो मुक्ति सच्ची हो सकती है।

सामान्यतया धन हमको स्वतंत्रता देता है। धन हो तो मन बन्धन अनुभव नहीं करता। धन रहते हम जो चाहे कर सकते हैं। जिसके पास अपार धन है वह अपार स्वतंत्र लगता है। कोई इच्छा नहीं जिसको वह पूरी न कर सके। धन और प्रभुता है तो मनुष्य की सब कामनायें सफल हैं। क्या हम ही नहीं अनुभव करते कि हमारे पास और पैसा हो तो हमारी जकड़ ढीली हो आये और हम कुछ अधिक खुल जायं ?

इस जगह हम बुद्ध और महावीर के चरित्र से प्रकाश पा सकते हैं।

वे राजकुल में जनमे, उन्हें क्या सुलभ न था? लेकिन मुक्ति की
में उन्होंने सब कुछ छोड़ा। जो साधारणतया चाहा जाता है, उस
सम्बन्ध में आत्यंतिक अकिंचनता उन ने स्वीकार की। वह जान बूझ
यहाँ तक परतंत्र बने, कि कोई भिक्षा न दे तो उन्हें भूखा रह ज
पड़े। जिससे सब काम निकलते हैं, उस धन से वे शून्य हो गये। अनुम
कीजिये कि वे इस तरह कितने न पराधीन हो गये होंगे। लेकिन यह
स्पष्ट है कि मुक्ति का मार्ग उन्होंने ही हमारे लिए खोला है। शे
महापुरुष भी जिनको लोग पूजते हैं उसी एक अनन्य मार्ग पर चले हैं
और हम मानते हैं कि मुक्ति का लाभ और दान किया तो इन श्रेष्ठ
और अकिंचन पुरुषों ने ही। वह मुक्ति ऐसी थी कि जिस पर कोई
सीमा और समाप्ति न थी। उस मुक्ति में से मानों सभी को कुछ न कुछ
अंश मिला।

धन से और सत्ता से मिलने वाली स्वतन्त्रता, और प्रेम और प्रार्थना में
प्राप्त होनेवाली मुक्ति, के अन्तर का क्या हम सबको स्वयं थोड़ा बहुत
अनुभव नहीं है?

पहले में अभिमान फूलता है और अनिवार्य रूप से उसकी फिर प्रतिक्रिया
होती है। उससे कषाय की वृद्धि होती है और हमारे मन पर सूक्ष्म बंधन
लिपटता जाता है। दूसरे प्रकार की मुक्ति का आनन्द अविकल और
अंतस्थ है। स्पष्ट है कि कषाय में हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते, अधिकाधिक
बँध ही सकते हैं। अहंकार बढ़ेगा, उतनी ही बंधन की जकड़ कसेगी।
अहंकार जातीय या राष्ट्रीय होने से अपने गुण में बदल नहीं जाता।
इससे मुक्ति का रूप कुछ वही हो सकता है जहाँ अहंकार का विसर्जन हो
और सब में आत्मौपम्य का विकास हो। यही अहिंसा की साधना है।

बारीकी से देखें तो मानवता का इतिहास अहिंसा की ओर ही बढ़
रहा है। जब हम धन चाहते हैं, तो इसलिए चाहते हैं कि उससे अपने प्रेम
को चरितार्थ कर सकें। अर्थात् लोक-कर्म में, जिसमें हिंसा गर्भित है,

हम प्रवृत्ति इसी आधार पर कर पाते हैं कि अंतरंग अपने प्रेम को यानी अहिंसा को निष्पन्न कर सकें। जाने-अनजाने अपने समस्त कर्म-व्यापार की हिंसा में से हम अहिंसा की चरितार्थता की ओर बढ़ रहे हैं। यहाँ तक कि हिंसक युद्ध भी कुछ-न-कुछ अहिंसा की पहचान की ओर ही हमें बढ़ा जाते हैं।

किन्तु आज हम उस जगह पर आ गये हैं जहाँ यत्न और चेष्टा से हमें अहिंसा की दिशा में पग रखना होगा। वे सब आंदोलन जो सचमुच स्वतन्त्रता को चाहते हैं—चाहे फिर वह व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र की स्वतन्त्रता हो—मूल में अहिंसा की परमावश्यकता से विमुख नहीं हो सकते। विमुख होंगे तो अपनी लक्ष्य सिद्धि में तो विफल होंगे ही, साथ में एक गम्भीर निराशा के भी शिकार होंगे। अहंता बढ़कर दूसरे की अस्मिता को चुनौती दिये बगैर रह नहीं सकती। इस तरह विकट युद्ध विकटतर युद्ध का बीज ही बो जायगा। इस विषचक्र की समाप्ति तब तक नहीं है जब तक कोई निश्चित रूप से शस्त्र को फेंक कर अहिंसक निर्भयता को अपना नहीं लेता और सब को अभयदान देता हुआ हिंसा को अपने ऊपर वार करने का निमन्त्रण ही नहीं देता।

वही अहिंसा है, जिसका भोजन हिंसा है। जिसे हिंसा से भय नहीं, प्रत्युत हिंसक से प्रीति है। जो स्वयं अमर है, इससे हिंसा के विकार की क्षणिकता जिसे प्रत्यक्ष है। जिसमें अतुल धैर्य है और जीवन के प्रत्येक खंड के प्रति जिसमें करुणा है।

इस अहिंसा का विचार जरूरी बनाता है कि हम अहिंसक समाज-रचना की पूरी परिकल्पना उपस्थित करें। इतना ही नहीं, बल्कि अपने बीच तदनुकूल समाज संघटन का निर्माण करें। अहिंसा यदि अन्य सद्-गुणों की भांति केवल मात्र एक सद्गुण ही नहीं बल्कि धर्म है, यानी सृष्टि में मूल भूत एक शाश्वत नियम है, तो आवश्यक है कि जो लोग उस अहिंसा में निष्ठा रखते हैं वे नव जीवन के निर्माण में सचेष्ट हों। आज के

महायुद्ध के बाद सचमुच दुनिया को बदल रहना है। इस विभीषिका में से नव-जन्म का आविर्भाव होना है, दुनिया को नये सिरे से बनाने का सवाल आने वाला है। राजनीति और समाजनीति की पुरानी भूमिकायें हिल गई हैं। उनका मानों दिवाला निकल चुका है। मेरा विश्वास है कि विचारकों को युद्धोपरांत बरबस उस सनातन सत्य अहिंसा की ओर लौट कर आना पड़ेगा। सच यह है कि उस अहिंसा को हमने शास्त्रीय बनाकर निकम्मा कर दिया है। अपनी निष्क्रियता से उस शब्द के तेज को ही हमने नष्ट कर दिया है। अपने जीवन की निष्ठा और समर्पण का तत्व डाल कर ही हम उस अहिंसा को पुनरुज्जीवित कर सकते हैं। किताब की अहिंसा तो योरुप की लाइब्रेरियों में भी बन्द है। मांग उस अहिंसा की है जो जीवन में ज्वलंत हो। वही विश्व की पुनर्रचना के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश दे सकेगी। उस प्रकाश की आवश्यकता है। बारूद के और वादविवाद के धुयें से अंधेरा छाया हुआ है। इस अंधेरे में आपा-धापी ही चल सकती है। अरे, इस अंधेरे में जाने क्या नहीं हो रहा है। ऐसे में प्रकाश चाहिये है। यदि आपके भगवान महावीर ने प्रकाश के स्रोत को पाया था तो उसकी दुहाई से काम नहीं चलने वाला है। स्वयं उस स्रोत से मिले प्रकाश को जगत् के सम्मुख करना होगा।

सच, इस समय बुद्ध और महावीर के धर्म को जो मानते हैं उनका बोझ भारी है। वे चाहें तो उस बोझ को पटक सकते हैं। लेकिन अगर वे उसको उठाये ही रखना चाहते हैं, और चाहते हैं कि वे महावीर के अनुयायी माने जायं, तो जरूरी हो जाता है कि वे उन की ज्योति से अपने जीवन को उजला भी करें।

★

: ३ :

अहिंसक आरम्भ

आज सवेरे ही अखबार के ऊपर यूनान के झगड़े की खबर छपी मिली। बड़ी लड़ाई की बात तो सब जानते हैं। वह मित्रों और शत्रुओं के बीच शुरु हुई। लेकिन यूनान के उत्पात में तो मित्रों के अपने बीच में से ही शत्रुता फूट निकली दीखती है। उस खबर को पढ़कर मैंने सोचा कि अहिंसा को धर्म मानने वाले आप लोगों के साथ मुझे आज जिस अहिंसा की बात करनी है, वह क्या है? उसका इस विकट युद्ध से, यूनान के झगड़े से, संक्षेप में हमारी समूची स्थिति से कोई सीधा सम्बन्ध है कि नहीं? या कि वह एक आदर्श सिद्धान्त है जो तब लागू होगा जब हम मनुष्य देवता स्वरूप हो जावेंगे।

सचमुच जो काम की नहीं है, विचार की ही है, ऐसी वस्तु पर समय वह लगावे, जिसे काम न हो, फुर्सत हो। फुर्सत यहाँ किस समझदार को रक्खी है। हर पल कीमती है। स्थिति का दबाव इतना है कि जो रुका, वह गया। हर घड़ी चौकस और चौकन्ने रहने की जरूरत है। इस तरह अहिंसा यदि ऐसी चीज़ नहीं है जो हमारी और आपकी हर रोज की जिन्दगी को मदद दे और आगे बढ़ाये तो समझदार होकर हम उस पर चर्चा करने में समय नहीं खोयेंगे।

लेकिन मैं अहिंसा को बात की नहीं, काम की चीज़ मानता हूँ। जो बात की ही है वह अहिंसा हिंसा है। यानी विवाद और चर्चा से असली अहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। अहिंसा परम धर्म है, जिसका मैं यही अभि-

प्राय लेता हूँ कि जीवन की हर स्थिति में अहिंसा लागू है। देश और
के भेद से उसकी सत्यता में अन्तर नहीं आता। अहिंसा भाषा-निर्भर
है, वह भाव में है। वह हृदय की चीज़ है। सच पूछिये तो अहिंसा
भाषा मौन है और उसकी अभिव्यक्ति शब्द से अधिक कर्म में है। अहिं
की चरितार्थता के लिये किसी को विद्वान् होने की आवश्यकता नहीं
सेवा-भावी और उत्सर्ग-शील विद्वत्ता के बिना भी हुआ जा सकता
और अहिंसा का सार यह सेवामय उत्सर्ग है।

वैयक्तिक धर्म के रूप में ही अहिंसा को विचारने और पालने से उ
सम्बन्ध में कुछ भ्रम होता देखा जाता है। ऐसी अहिंसा वर्तमानता
पुष्ट करती, किन्तु उसे भविष्य की दिशा में गति नहीं देती है। अभि
क्रान्ति के मार्ग में इस तरह वह अवरोध बन जाती है। उसमें असामाजि
कता का तत्व आजाता है। वह स्वार्थ पोषक बनी हुई देखी जाती है।

बेशक अहिंसा की एकांगी मान्यता में से यह दुष्फल फलित देखने
आता है। अध्यात्म-धर्म आदि संज्ञाओं के साथ भी ऐसा मनमाना व्यव
हार हुआ है। पर यह तो मानव प्राणी का दोष है जो हर शब्द को
अपने प्रयोजन की नीचाई तक खींच लाता है।

पर कौन अपनी इकाई के रूप में पूर्ण है? कोई निज में स्वयं ही
होकर नहीं जनमता। जगत में अवतीर्ण होने के साथ ही नाना सम्बन्धों से
वह यहां के अनेक लोगों के साथ युक्त हो जाता है। व्यक्ति समाज का
अंग है और अविभाज्य है। यहाँ तक कि मृत्यु के बाद भी स्मृति के रूप
में वह शेष ही रहता है। महावीर, बुद्ध, और दूसरे महापुरुष हम में होकर
आज भी क्या जीवित नहीं हैं? और आने वाली पीढ़ियों में भी क्या
उनका प्रभाव लुप्त होने वाला है? इस तरह व्यक्ति का गुण-दोष-मय
व्यक्तित्व उसकी निज की चिंता का विषय ही नहीं, वह सामाजिक और
सार्वजनिक चिंता का विषय भी होता है। निजता की सीमा कहीं है ही
नहीं। हलकी सी . करी से पड़ी लहर का वृत्त फैलते-फैलते जैसे जल-

तल की इयत्ता तक व्याप्त हो जाता है, उसी तरह व्यक्ति से आरम्भ हुई भावना भी उत्तरोत्तर व्याप्त होती जाती है। अनेक के बीच वह एक है सही, पर उसकी निजता अपने में उतनी ही सफल और सिद्ध होगी जितनी कि वह उन अन्य अनेक के साथ ऐक्य की अनुभूति पा सकेगा।

जाने अनजाने जीवन के समस्त व्यापार हमें उसी दिशा में बढ़ा रहे हैं। व्यापक से वृहत्तर व्यापकता की ओर हमारी गति है। यह गति दुर्निवार्य है। इसी को आत्मा की ऊर्ध्व गति कहिये। नाना बन्धन आत्मा को मुक्ति से और व्यक्ति को व्याप्ति से नहीं रोक सकते। व्यष्टि को समष्टि बने बिना चैन कहाँ ?

प्रश्न होगा कि निरन्तर विकास की ओर चेतना की गति यदि अनिवार्य ही है, तो हिंसा अथवा अहिंसा का प्रश्न उठने के लिये अवकाश ही नहीं होना चाहिये। बेशक मूल प्राण, अर्थात् प्रकृति, की ओर से देखें तो यह प्रश्न नहीं है। यह समस्या तो बुद्धि-शील मानव की है। मनुष्य से बाहर उस प्रश्न की स्थिति नहीं है। पशुओं के लिये यह सवाल नहीं है, क्योंकि उनमें तत्सम्बन्धी विवेक का उदय नहीं है। न उन देवताओं के लिये होगा जिनमें द्विधा का सर्वथा अभाव होगा। लेकिन अपने जन्म-काल में जब मनुष्य ने बुद्धि पाई, तभी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रश्न भी सामने आया। और क्रमशः मालूम होता गया कि जिनको उसने 'पर' समझा है उन्हीं में उसे निजता की भावना का प्रसार करना पड़ रहा है, अन्यथा जीवन चल नहीं पाता है। उसे अपनेपन का दायरा बढ़ाते ही जाना पड़ा है। उसने परिवार बनाया, यूथ बनाया, ग्राम और जन-पद बनाये, जाति व राज्य और राष्ट्र बनाये, यहाँ तक कि महाराज्य स्थापित किये। हर काल में उसकी अपनेपन की परिधि के बाहर जो रहा उसके प्रति उसने परायेपन का भाव रक्खा और उस 'पर' (पर कुटुम्ब, पर जाति, पर राज्य, पर राष्ट्र आदि) के साथ सदा ही युद्ध ठानता रहा। लेकिन उन युद्धों के बावजूद भी, प्रत्युत उनके द्वारा ही, वह पहचानता चला गया कि अपने और पराये के

बीच की रेखा उसकी अपनी ही खींची हुई है, सत्य में वह कहीं भी नहीं है। आज जिसको दुश्मन समझा है उससे किसी प्रकार समझौता, यहाँ तक कि मेल, हुये बिना स्वयं को ही चैन नहीं मिलने वाला है। युद्धों की यातना में मेल की आवश्यकता प्रकट होती गई है और आपसी झगड़ों के बीच में से मानव-जाति अधिक-से-अधिक सम्मिलित होती चली आई है।

आज यह बुद्धि से जानने की नहीं प्रत्यक्ष आंखों से दिखने वाली बात है कि किसी की अपनी अलग स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज़ नहीं है। कोई देश अपने में एकांत स्वतन्त्र हो, इसका कोई अर्थ ही नहीं है। कोई अपने को घेर कर और उसमें बन्द होकर नहीं रह सकता। शेष के साथ लेन-देन, मिलने-जुलने, आने-जाने का सम्बन्ध उसके लिये अनिवार्य ही है। हमारे पुराने आत्म-निर्भरता और स्वयं-पूर्णता के आदर्श अब विलीन हुए जा रहे हैं और इस प्रत्यक्ष सत्य से बचने का कोई उपाय नहीं रह रहा है कि सारी मनुष्य-जाति संयुक्त है और एक का भाग्य दूसरे के साथ जुड़ा हुआ है।

विकास के ठीक इस मुहाने पर हम आज हैं। हिन्दुस्तान के बर्मा मोर्चे पर लड़ाई इस वक्त नहीं है, और जहाँ है वह जगह हम से कई समन्दर पार है। लेकिन क्या अपने किसी काम या किसी भाव में हम उसके असर से बचे हुए हैं? हमारे चारों ओर मंहगाई है, चोर बाजार है, नफा-खोरी और घूसखोरी है। नई दिल्ली में शाम के समय हिन्दुस्तानी से ज्यादा इंग्लिस्तानी रौनक मालूम होती है। इंग्लिस्तानी भी क्यों, वह बाज़ार तो दुनिया के ही चौराहे जैसा मालूम होता है; कारण अमरीकन और दूसरे लोग भी वहाँ कम नहीं दिखते हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि यह विषम समय है जब कि हिंसा-अहिंसा का प्रश्न दर्शन का, विचार का, अथवा नीतिवाद का ही नहीं रह गया है, बल्कि वह हमारे साँस लेने जितना आवश्यक, तात्कालिक और व्यवहारिक बन गया है। वह एक ही साथ आध्यात्मिक और भौतिक है। वह समूचे जीवन से

सम्बन्ध रखता है। कल पर उसे टालना न हो पायगा। चाहे तो इसी क्षण उससे छुट्टी पालें (यद्यपि छुट्टी सम्भव है नहीं), या फिर उसपर अमल करने लगने का ही निर्णय करलें।

इतिहास में अनेक वर्ग और वाद हो गये हैं। वे भी जिन्होंने ईश्वर को केन्द्र मान कर आदमी को सदाचार सिखाया है, और वे भी जिन्होंने नागरिकता के विकास के लिये नास्तिकता का प्रचार किया है। सामाजिक आचार के नियमन के लिये जिसने जो भी मान स्वीकार किया हो—चाहे वह आध्यात्मिक का ईश्वर हो कि जिसके पुत्र होकर सब मनुष्य भाई-भाई हैं, या फिर वह मान लौकिक का लोक-मङ्गल, अधिकतम लोगों का अधिकतम हित, (Greatest good of the greatest number) हो कि जिसके अनुसार व्यक्ति अपने स्वार्थ को परार्थ में मिला दे—जो हो, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि सब प्रकारान्तर से परस्पर वर्त्तन के लिये अहिंसा को ही मान्य ठहराते हैं।

किन्तु जान पड़ता है कि नीति-शास्त्र में अहिंसा की निरपवाद उपयोगिता को स्वीकार करके भी चलन में उसकी संगति बिठाना आसान नहीं है। उस पर बल देने से आदमी इतना पारलौकिक हो जाता हुआ देखा जाता है कि संसार के काम का नहीं रहता, दूसरी ओर संसार में सार्थक होने के लिये मानों अहिंसा को निगाह से ओझल रखना ज़रूरी करार दे लिया जाता है।

इस विरोध को तर्कवाद से नहीं भरा जा सकता, इस खाई को तो समन्वय-शील साधना से ही भरना होगा। आज क्या हम कहने चलें कि इंगलैंड को हथियार डाल देने चाहियें, तभी उसकी जीत होगी? गांधीजी ने यह जरूर कहा। उनकी साधना अगम है और अधिकार अमित हैं। पर इंगलैंड के बस का यह कब हो सका कि वह उनकी सीख सुन ले? कारण, इंगलैंड अपने सदियों के संस्कारों से क्षण में छुट्टी चाहकर भी छुट्टी पा कैसे सकता है? उस देश का लोक-मानस, उसकी

समाज, उसकी सरकार अपने संचित कर्म-दोष से मानों आत्मविरुद्ध वर्त्तन करने को लाचार है। क्या सचमुच उस देश के अनेक मनीषी विद्वान, जिन्हें भविष्य का संकेत प्राप्त है और जो भूत से जड़ित नहीं हैं, वैसी ही सलाह नहीं देते? पर बीज बदले बिना फल को बदलना कब सम्भव हुआ है?

अर्थात् व्यापक राजनीति में अहिंसा के प्रयोग का प्रश्न हम जैसों के लिये फल का ही है, यानी अनागत और अप्रस्तुत है, कि जिन्होंने अपने जीवन के मूल में उस अहिंसा को नहीं साधा है। लेकिन यों पूछिये तो राजनीति की स्वतंत्र सत्ता ही कब है? क्या राजनीति हमारे आपके सम्मिलित जीवन-व्यापार से ही स्वरूप नहीं पाती? राजनीति हमको लेकर ही बनती है। उसका अधिष्टान जनता है, कि जिसके हम सब अंग हैं। इस से राजनीति का सार नागरिक-नीति (Civics) में है। और राजनीति शास्त्र मानव सम्बन्धों के नियमन का ही शास्त्र है।

इस पद्धति से आप देखेंगे कि अहिंसा के विचार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध आत्मा, परमात्मा, देश अथवा राष्ट्र से उतना नहीं है जितना कि इस बात से है कि हम और आप अपने पड़ौसी से, अथवा कि इतर जनों से, किस प्रकार व्यवहार करते हैं। और इस दिशा में आप ध्यान देंगे तो तत्काल जीविका के, अर्थात् धनोपार्जन की विधि के, प्रश्न से आपका विचार जा छुएगा। और तब अपना वही पुराना सूत्र हमें सच्च जान पड़ेगा कि "जैसा खावे अन वैसा होवे मन"। आप देखेंगे कि आपको जीवित रहने के लिये भोजन की, वस्त्र की, और दूसरी जो आवश्यकतायें हैं, वे सहज पूरी नहीं होतीं। उनके लिये कुछ 'करना' होता है। इसी को जीवकोपार्जन कहते हैं। यदि हमें अहिंसा को व्यापक क्षेत्र में घटित करना हो तो सबसे पूर्व इस जीविकोपार्जन की विधि में उस अहिंसा को चरितार्थ करने से आरंभ करना होगा। मैं अपने लिये जिस ढंग से अन्न जुटाता हूँ उसमें अगर अहिंसा नहीं है, तो आगे फिर मेरे उपलक्ष से अहिंसा की सफलता किस प्रकार हो सकती है?

अहिंसा की साधना को इस बिन्दु से हम आरंभ करें तभी अहिंसा की ओर हमारी सच्ची परीक्षा है। उसमें स्पष्ट है कि हमको प्रचलित अर्थ-शास्त्र और समाज-शास्त्र से प्रकाश प्राप्त नहीं होगा। बना-बनाया कोई दर्शन या विज्ञान हमारा हाथ नहीं थामेगा। उनकी बुनियाद ही दूसरी ठहरी न। इससे हमको अपनी श्रद्धा और श्रम से एक नये ही अर्थ-शास्त्र की नींव डालने और नई अहिंसक समाज रचना के लिये तैयार हो जाना होगा।

और क्या आज के युद्ध ने युद्धोत्तर निर्माण के प्रश्न को अत्यन्त चिंतनीय नहीं बना दिया है? सचमुच वह प्रश्न जीवन-मरण का है। विशाल योजनायें गर्भ में हैं, और उनके जन्म के लिये बड़ी बड़ी तैयारियां की जा रही हैं। ऐसे समय सभी को सचेत रहना होगा और अपने भीतर टटोल कर तै कर लेना होगा कि हम क्या चाहते हैं।

मेरी धारणा है कि इस युद्ध के निमित्त से मानव-जाति ने काफी प्रायश्चित किया है। भगवान करे कि ऐसा न हो कि अगले युद्ध के बीज अभी बो दिये जायें। अपने बोये का फल हमें ही काटना होगा। लेकिन इस युद्ध में हमने चख देखा है कि द्वेष और दमन के बीज की फसल कैसी कड़ुवी होती है।

हम में से प्रत्येक अपनी-अपनी जगह स्वाधीन है। वह अपनी निज की अर्थासक्ति में आसपास शोषण के बीज बो सकता है, अथवा कि सेवा-कर्म द्वारा अहिंसा की जड़ों में अपने जीवन को सींच सकता है। हर हालत में कर्म की गति अटल है। कल फल उससे भिन्न नहीं मिलने वाला है जो आज हम बोते हैं। इसमें बाहर से समाज-विधान या राज्य-तंत्र के बदलने की प्रतीक्षा में रहना ज़रूरी नहीं है। भीतर से जीवन उगता हुआ आयेगा तो जीर्ण बन गये हुये विधान और तंत्र तो उसके अभिनन्दन में आप ही गिर रहेंगे। लोक-जीवन के जागृत चैतन्य के आगे तंत्र-व्यवस्था की रूढ़ि आप ही नत-मस्तक हो रहेगी।

★

: ४ :

संस्कृति

: १ :

संस्कृति की बात

संस्कृति पर आपसे कुछ बातें करने के लिए मैं आ तो गया हूँ, पर समझ में नहीं आता कि शुरू कैसे करूं। शब्द वह कुछ बारीक है और उस पर पूरी पकड़ नहीं बैठती है। यों भी काम-काज से वह बाहर का मालूम होता है। जैसे विद्वानों का वह शब्द हो और लिखने-पढ़ने के प्रयोग में ही आता हो। आये दिन की जिन्दगी से जैसे उसका वास्ता न हो और जो सवाल हम और आपको मामूली तौर पर घेरे रहते हैं, संस्कृति उनसे कुछ दूर की चीज हो।

ऐसा मालूम होना अकारण भी नहीं है। संस्कृति शब्द सीधे-साधे रूप में कम ही बोलने में आता है, अधिकतर किसी न किसी विशेषण के साथ जुड़ा रहता है। कभी किसी देश के नाम के साथ, युग के साथ, जाति विशेष के या अमुक मतवाद के साथ। ऐसे अनेक संस्कृतियाँ बन आती हैं और हर एक पर विद्वान् लोग मेहनत करते हैं, उनका स्वरूप तय करते हैं, लक्षण बिठाते हैं और उनके बारे में तरह-तरह की शोध में लगे रहते हैं। इस तरह प्रत्येक संस्कृति दूसरे से विशिष्ट बनती है और लोग उसकी विशिष्ठता के प्रेमी और प्रचारक हो जाया करते हैं। वे उसकी ख़ासियत को सबसे बढ़ा-चढ़ा बताते हैं और उस पर जूझने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसी संस्कृतियां आपस की बदाबदी में विग्रह पर उतार दी जाती हैं और कलह-कोलाहल उपजाने के काम आती हैं।

कलह को हम संस्कृति तो नहीं कह सकते। कलह संस्कृति हो तो विकृति किसे कहेंगे? फिर भी देखने में आता है कि संस्कृतियों को लेकर विकृति का, यानी विग्रह का, पोषण हो रहा है और आदमी अमुक संस्कृति के नाम पर अधम आचरण कर उठा है।

संस्कृति यों तो अखंड है और हममें से कोई उसके अधिकार से बच नहीं सकता। क्या यह सच नहीं है कि हम इन्सान हैं और ज़ानवर नहीं हैं? तब, जो हमें नीचे पशुता में गिरने से रोकती है और मानवता में ऊपर उठाती है, वही मानव-संस्कृति होनी चाहिए। उससे अन्यथा जो हो, उसे विकार मान लेना चाहिए।

अब इस धरती पर मुट्ठी भर लोग तो नहीं बसे हैं। वे करोड़-पर-करोड़ हैं और दूर-दूर देशों में फैले हुए हैं। उनमें कई भाषाएँ हैं और रहन-सहन के ढंग भी अलग हैं। पर उन सभी के लिए जरूरी रहा है कि वे एक दूसरे के सहयोग में आयें, हिल-मिल कर पनपें, और इस हेल-मेल और सहयोग-सहानुभूति का विस्तार करते जायँ। भाषा और रीति-नीति की भिन्नता इस विकास में यों बाधक जान पड़ती है। पर सच्चा संकल्प उसे भी साधक बना लेता है। कारण, भेद में वह अभेद देख पाता है और इस तरह भेद के प्रति भी आदर और प्रीति रखता है। वह तोड़ता नहीं, समन्वय और सामंजस्य साधता है। भिन्नता को देखते हम कह सकते हैं कि अमुक मानव-समुदाय की यह विशिष्ट संस्कृति है। पर स्पष्ट है कि अमुक संस्कृति की यह विशिष्टता रूप और बनाव और परिस्थिति के तल तक ही है। अंदर से सबकी सार्थकता एक ही है, यानी आपसी सहयोग को उत्तरोत्तर व्यापक और घनिष्ट बनाते जाना। पहरावन का भेद स्वस्थ मन में भेद नहीं डाल सकता। लेकिन वैसा भेद पड़ता हो तो वहीं कहना होगा कि उसमें मन का अस्वास्थ्य कारण है, और मानव-प्रकृति पर किसी विकृति का आरोप और प्रकोप हो गया है। तब स्वास्थ्य-लाभ के लिए उस रोग का निवारण ज़रूरी हो आता है।

सहयोग की अनिवार्यता लेकर हम आदमी पैदा होते हैं। एकाकी कोई रह नहीं सकता। इकले होकर मरा ही जाता है। जीना तो संग-साथ ही हो सकता है। पर जब यह अनिवार्यता हमारे अंदर है, तब उसको रोकने और अटकाने वाले तत्व भी हमारे अंदर हैं। इस तरह जीवन सरल नहीं, काफी उलझा हुआ तत्त्व है, और संस्कृति का विकास अनिवार्य होकर भी सहज साध्य नहीं, अत्यन्त प्रयत्न साध्य ही होता है। हम मनुजों में पशुता के तत्त्व भी हैं और वे नीचे खींचते हैं। वे हमें एक दूसरे की स्पर्द्धा और ईर्ष्या में लाते हैं। उनके वश होकर हम वैर-विरोध ठानते हैं। उन्हीं के तावे दूसरे को हीन रख कर अपने को उन्नत, उसको अपमानित कर अपने को सम्मानित और उसको नष्ट कर अपने को पुष्ट करने की चेष्टा दीख पड़ती है।

समाज बेशक इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के ताने-बाने से मिल-जुलकर बनता है। अहंकार के और तरह-तरह की लिप्सा-आकांक्षाओं के वश होकर जो हम नाना व्यापार करते हैं वे तो काले, और स्नेह सहानुभूति और विवेक की चेतना से जो सेवा साधते हैं वे धौले तार कहे जा सकते हैं। इन्हीं तागों से उजला-मैला समाज का पट बुनता है। धागे जितने धौले होंगे, समाज उतना स्वच्छ और अच्छा होगा। उनमें जितनी कालिमा मिल जायगी, समाज उतना ही मैला और कड़वा बनेगा।

स्पष्ट है कि समाज की बनावट में व्यक्ति निमित्त है। पर अपनी निजता में नहीं, अपने पारस्परिक संबंधों के द्वारा वह निमित्त बनता है। असल में वह समाज-पट में ताने और बाने के जोड़ से बन गया हुआ केवल वह बिंदु है जहाँ होकर पारस्परिकता के तार आपस में छूते, छिलते-मिलते और पार बढ़ जाते हैं। अब ये तार वहाँ उलझ भी सकते हैं। इसलिए प्रश्न उतना व्यक्ति का नहीं है, व्यक्ति पर बंद या समाप्त नहीं है। वह तो व्यक्ति और व्यक्ति के बीच का, उस बीच के सम्बन्ध

[ता] है। उस संबंध के अभाव में व्यक्ति के अस्तित्व की कल्पना ही समाप्त हो जाती है। उन सम्बन्धों की सुलझन से व्यक्ति सुलझा हुआ बनता है। उन सम्बन्धों की घनता और पुष्टता व्यक्तित्व को सम्पन्न और सबल बनाती है। वहाँ उलझाव हो, या त्रास हो, तो व्यक्ति भी हीन, दुखी और दुर्बल होता है।

इस तरह समाज और व्यक्ति का अलग से विचार होना ही संभव नहीं है। समाज अव्यक्त है, व्यक्त व्यक्ति है। इसलिए उस अव्यक्त को छूने या समझने के लिए व्यक्त व्यक्ति ही काम देता है। समाज व्यक्ति के बिना एक संज्ञा भर रह जाता है। व्यक्ति को बाद देकर चलने से समाज के साथ किसी प्रकार का सजीव सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। ऐसी चेष्टा फिर भी होती है, यानी, व्यक्ति को बिना ध्यान में लिये समाज को सुधार डालने के प्रयत्न ठान लिये जाते हैं। स्पष्ट ही यह जरूरी है कि ऐसे प्रयत्न निष्फल जाएँ। इस तरह चलने से आंदोलन अंत में प्रतिक्रिया उत्पन्न करते हैं, और सुधार की कोशिशें उलटे बिगाड़ उपजा पड़ती हैं।

व्यक्ति और समाज; हमने देखा, दो नहीं है। फिर भी दो शब्द तो हैं, और इसलिए उनके द्वैत को एकाएक हवा में नहीं उड़ाया जा सकता। तो कहिए कि एक ही वास्तविकता का यह तट व्यक्ति है, तो उसी का पार का किनारा समाज है। अब होता यह है कि उस जीवन की वास्तविकता के इस किनारे संत, महात्मा, कवि और आदर्शवादी अपने तीर्थ डालकर साधना साधते हैं, तो उस पार पर कामकाजी लोग, लौकिक और राजनीतिक, अपने-अपने पक्के गढ़ बाँधकर बस जाते हैं। इधर वे जो व्यक्ति की भाषा में पूर्णता के आदर्श को देखते हैं और ईश्वर को भजते हैं, उधर वे जो दल बाँधकर समग्रता को, यानी स्टेट को, सामने रखकर सप्रयोजन संघर्ष करते हुए सामर्थ्य संपादन करना चाहते हैं। इस तरह एक तरफ आध्यात्मिकता है, जिसमें आदमी कार्[य]

तक छोड़ बैठता है; दूसरी ओर पदार्थवादिता है, जहाँ सब बटोरकर भी तृष्णा समाप्त नहीं होती ।

अब संस्कृति की बात करते समय न आध्यात्मिक शास्त्रों की, न सामाजिक विज्ञानों की पड़ताल जरूरी है। इधर या उधर खूँटे गाड़-कर और कुछ जी सके, संस्कृति इस तरह नहीं जी सकती। दोनों किनारों के बीच, उन दोनों को छूती हुई, दोनों को समझती हुई, उन दोनों तक अपना चैतन्य और परस्पर का क्षेम पहुँचाती हुई, संस्कृति ऐसे बहती है कि प्रयोजनवादी का प्रयोजन भी नष्ट न हो, और आत्म का आनंद भी सर्वत्र वर्तमान रहे ।

साफ है कि इन दो किनारों पर बसने वालों का निपट द्वैत, उनके बीच का दुर्भाव और विग्रह, सबके लिए त्रास का कारण बनता आया है। उससे अनंत बुद्धि-भेद उपजा है। उससे सुख-चैन उजड़ा है, और बेचैनी फैलती गयी है। जरूरी है कि वह प्रवाह सूखने न पाये, न क्षीण होने पाये, जो दोनों तटों को हरियाली दे सकता है।

अब कई-कई वाद हैं। कुछ उनमें धार्मिक हैं, कुछ लौकिक हैं। धार्मिक मतवाद जैसे—इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध, जैन, हिन्दू। लौकिक—जैसे समाजवाद, साम्यवाद, लोकोपकारवाद, बहुमतवाद आदि। 'वाद' को हिंदी में कहें बात। लेकिन सवाल बात का नहीं है, काम का है। बात का मज़ा तो बात तक ही है। ऐसे अपने आप में कोई 'वाद' ग़लत या सही भी नहीं है। बात की परख काम में है। जो सच्चा रहता और सच्चा बरतता है, उसी की बात सच्ची मानी जाती है। आदमी खुद सच्चा और सही होकर अपनी बात को भी सच्ची और सही बनाता है। यही नियम व्यक्ति से आगे सामूहिक वादों पर लागू मानना चाहिए। वाद और वादे सभी ठीक हैं। उस बारे में झगड़ने का सवाल संस्कृति के, या संस्कारी आदमी के, लिए उठता ही नहीं है। मुसलमान को इस्लाम मुबारक और सनातनी को सनातन-धर्म। इसी तरह समाजवादी के लिए

अपने वाद और गांधीवादी और साम्यवादी के लिए अपने-अपने वादों की जय चाहने और उन्हें धन्य मानने की स्वतंत्रता है। पर संस्कृति की मांग से किसी को छुट्टी नहीं हो सकती। सबको अपने होने और जीने के दावे को संस्कृति की कसौटी पर कस दिखाना होगा। कारण, हममें हर कोई इंसान है, और हर एक नागरिक भी है। हमारी जमातें भी आखिर हमारी, यानी इंसानों की है, और समूची मानव-जाति का अंग हैं। एक मतवाद को लेकर, या किसी भी दूसरे बहाने को लेकर, क्या व्यक्ति या दल को छुट्टी हो सकती है कि वह आदमियत से हाथ धो बैठे ? नहीं, कभी नहीं हो सकती। संस्कृति का यही अर्थ है। उसका यह तकाज़ा और अधिकार है कि वह मनुष्य में से मनुष्यता ही प्राप्त होने दे और मनुष्य को उस अपने स्वधर्म की राह पर बराबर अडिग रखे, गिरने न दे।

: २ :

संस्कृति और विकृति

संस्कृति का शब्द बहुत तरफ से उठाया जा रहा है। कुछ लोग उसकी बात मन से भी कहते होंगे; पर अधिक, जान पड़ता है, मुँह से कहते हैं। मुँह से कहने का मतलब यह नहीं कि किसी तरह का मायाचार करते हैं। मतलब यही कि गहरे में वे मानते हैं कि संस्कृति बाद की बात है, पहली नहीं है; ऊपरकी चीज़ है, मूल की नहीं है। यह बहुत-कुछ अतिरिक्त वस्तु है, जैसे मूलधन का ब्याज। इसलिए ज़रूरत की नहीं, जितनी शोभा की वस्तु है। विलास को बुरे अर्थ में न लें, तो वह विलास अधिक है, आवश्यकता कम।

इस मन्तव्य के लोग अधिकांश मानव-जातिके ज़िम्मेदार शासक और व्यवस्थापक वर्ग के हैं। उनपर दायित्व का बोझ है और वे प्रत्यक्ष कर्त्तव्य से हटकर परोक्ष कल्पना में भटक नहीं सकते हैं। वे प्रकट देखते हैं कि पहली आवश्यकता रहने-खाने-पहनने की है। उसके बाद आवश्यकता अच्छे खाने, अच्छे रहने और अच्छा पहनने की है। बात सिर्फ रहने से आगे बढ़कर बढ़िया रहने की हो जाती है, तभी वह संस्कृति कहलाती है। इस लिए संस्कृति का मान है: 'जीवन-स्तर'। एक सौ रुपया मासिक खर्च में रहता है, दूसरे को पाँच सौ लगते हैं, तीसरे को हज़ार अपर्याप्त होते हैं। तो इन तीनोंमें संस्कारिताकी क्रमशः उत्तरोत्तर तरतमता देखी जा सकती है। इस तरह संस्कृति के प्रश्नका निदान है: बढ़ा-बढ़ा उत्पादन और बढ़ा-चढ़ा उपार्जन। अधिक सुविधा, अर्थात् अधिक सभ्यता।

ये दायित्वशील जन, जो सुविधा में रहते इससे सुविधा उपजाने में भी
रहते हैं, मानते हैं कि समस्या का रूप सांस्कृतिक से पहले भौतिक है। लोगों
को आवश्यक पदार्थ चाहिएँ, इसलिए उसका पर्याप्त उत्पादन और
समीचीन वितरण चाहिए। उसके लिए फिर उचित व्यवस्था और पक्का
तन्त्र चाहिए। इस सबके लिए यत्न, अर्थात् संघर्ष, करना होता है।
जीविका सहज नहीं है, प्रकृति के और परिस्थिति के साथ वह एक युद्ध
है। जीविका के लिए जूझना पड़ता है। इसलिए प्रश्न मूलतः आर्थिक
है, यानी जीवन-मान आर्थिक हैं और मनुष्य आर्थिक प्राणी है।

वे लोग 'स्कृति के निस्संशय संरक्षक, समर्थक और अभिमानी हैं।
जानते हैं कि आर्थिक रचना में से ही संस्कृति का उद्गम हो सकता है,
इसलिए बात चाहे संस्कृति की करें, काम अर्थ का करते हैं। मेरा मानना है
कि वे भूलते हैं। समस्या रहने-खाने-पहनने की नहीं है, इन्सान के लिए
वह इन्सान होने की है। जानवर रहता और खाता है। जंगली भी कुछ-न-
कुछ पहनता है। जो वस्त्र नहीं जानते, उन्हें प्रकृति छाल-खाल-बाल
पहनाती है। रहना-खाना हमारे होनेकी शर्त्त है। समस्या वह न थी, न
होनी चाहिए। असल में समस्या का वह रूप फ़र्ज़ी है, बनावटी है। सिर्फ
होने में ही गर्भित है कि रहने को रहा जाता है और खाने को खाया जाता
है। समस्या का आरम्भ होता है हमारे इन्सान होने से और हमारे उत्तरोत्तर
सही और सच्चे इन्सान बनने की ओर उस समस्या को उठते जाना है।

भूख का समधान है खा लेना। भूख लगी, शेर निकला, शिकार
मारा और खाकर आराम से सो गया। भूख आदमी की समस्या नहीं हो
सकती, क्योंकि भूख का सीधा सम्बन्ध खाने से है। वह सम्बन्ध मनुष्य के
लिए उतना सीधा नहीं रह जाता, इसमें कारण उसकी मनुष्यता ही है।
बीच में से मनुष्यता को हटाकर समस्या की एकदम समाप्ति हम पा जाते
हैं। पर वैसा नहीं हो सकता। इन्सान चाहकर भी इन्सानियत खो नहीं
सकता। इसलिए प्रश्न भूख नहीं, इन्सानियत है।

जो मूल प्रश्न को शरीर की सीधी आवश्यकता की भाषा में देखते हैं, वे प्रश्न को किसी तरह भी सुलझा नहीं सकते। कारण, वे उल्टे चलते हैं। जिसने अपनी मनुष्यता के ऊपर भूख को रख लिया, उसने अपनी भूख को तो मिटाया; किन्तु अपनी अनिवार्य इन्सानी हैसियत के लिए उसने बड़ी आफत मोल ले ली। चोरी, ठगी, डकैती, धोखा-देही करके भूख को सीधा मेटा जा सकता है, लेकिन समस्या उससे मिटती नहीं और बनती है।

यह मत कि आदमी पहले शरीर है, झूठ है। अब तक कोई आदमी मैंने नहीं देखा, जो शरीर पर समाप्त हो। जघन्य से जघन्य अपराधी भावना से मुक्त नहीं होता। भावना, यानी मनकी भूख। तन की भूख तो भी घास से आदमी शान्त कर लेगा, लेकिन मन से अपमान उससे नहीं सहा जायगा। कहाँ ऐसे उदाहरण नहीं हैं, जहाँ खुशी से लोगों ने भूख सही है, अपमान नहीं सहे हैं। भूख यह गहरी है, यह असली है। और समस्या यहाँ है।

इन्सान को शरीर की भाषा पर उतार कर उसकी समस्याओं का निपटारा टटोलना बेकार है। इन्सान को न समझने से ऐसी कोशिश का आरम्भ होता है। सहानुभूति का उसमें अभाव होता है। इससे जितनी ही यह चेष्टा वैज्ञानिक होती है, उतनी ही व्यर्थ होती है।

आशय कि मैं उनसे सहमत नहीं हो पाता हूँ, जो संस्कृति को दूर की, ऊपर की, कोई भव्य वस्तु मानकर सन्तोष मानते हैं और बुनियाद में ही उसे नहीं लेना चाहते।

संस्कृति जो नींव नहीं है, सिर्फ शिखर है, एक आडम्बर है। राजनीति जो संस्कृति को साध्य के रूप में आगे रखकर साधन के रूप में साथ नहीं रखती है, भ्रम और प्रपञ्च ही उत्पन्न कर सकती है।

संस्कृति एक रुझान है, एक वृत्ति, जिसको अंगीकार हम नहीं करते तो आवश्यक अर्थ होता है कि विकृति को हम स्वीकार करते हैं।

या तो विवेक पूर्वक संस्कार की ओर हम बढ़ते हैं, नहीं तो रागपूर्वक विकार की ओर हटते हैं। केवल स्थिति इस जगतमें नहीं है। चढ़ेंगे नहीं, तो गिरना हमारे लिए लाज़मी है। उन्नति का अभाव अवनति है। जीवन सतत गतिशीलता है। संस्कृति की ओर है, वह प्रगति; अन्यथा अवगति है, जो विकार में से आती और विकृति में पहुँचाती है।

संस्कृति, जो विद्वानों और विज्ञानों की वस्तु है, अनन्त शाखा-रूप है। वहाँ मूलाधिष्ठान पाना कठिन होता है। चुनांचे ऐसी विविध संस्कृतियाँ आपस में ले-दे मचाती देखी जाती हैं, वैसे ही जैसे कि आँधी में शाखाएं आपस में उलझ पड़ती हैं। आंधी से अपने को अभिन्न समझ लें, तो शाखाओं के लिए यह कठिन नहीं है कि अपनी बदाबदी में वृक्ष के मेरुदण्ड से अपने सबके सम्बन्ध को वे भूल जायँ, भूल चाहे जायँ, पर उनकी स्थिति का आधार वही है। उस आधार से ही कहीं वे छूटीं, तो तत्क्षण धूल पर उन्हें आ पड़ना होगा। फिर हरियाली के वहाँ से उड़ने और सूखकर उनके ईंधन बनने में देर न लगेगी।

संस्कृति और शेखी परस्पर विमुख तत्त्व हैं। हाल की-सी बात है कि यहाँ दिन-दहाड़े क़त्ल हो रहे थे और शौर्य मानो उफान खा रहा था। एक ओर से 'अल्ला-हो-अक़बर' का नारा उठता था, तो दूसरी तरफ़ से 'हर-हर महादेव' का निनाद। यह पराक्रम पुरुष का पुरुषार्थ न था, उसकी विडम्बना था। दोनों तरफ़ इसमें शेखी थी। 'अल्ला-हो-अक़बर' और 'हर-हर महादेव' पवित्र-से पवित्र उच्चार हैं; लेकिन शेखी पर चढ़कर एक शैतानी तमाशे के सिवा वे कुछ नहीं रह जाते। तब वे इन्सानियत के दिवाले की घोषणा हो जाते हैं।

'अपनी' संस्कृति का दर्प—यह भाव ही मिथ्या है। इसमें 'पराई' संस्कृति की अवज्ञा समाई ही है। जहाँ अपनी-पराई संज्ञाओं के प्रयोग में यह अभिमान-एवं-अपमान का भाव आ जाता है, वहाँ स्व-पर की भाषा और स्व-पर का बोध भ्रान्त मानना चाहिए। यह आत्म-बोध में साधक

नहीं, बाधक होने वाला है। अभेद की भूमिपर भेद स्वयं स्वीकरणीय और आदरणीय बनता है। लेकिन भेद जो मूल के अभेद को खाने चले निरी मूर्खता है। इसी से शेखी से उपहास्य वस्तु दूसरी नही और पागल वह है, जो अपने को सब से अक्लमन्द गिनता है। अतः संस्कृति का लक्षण है : विनय, भक्ति।

हम अहन्ता लेकर जीते हैं। जो हमको एक ओर इकट्ठा रखती है, वह हमारी अहन्ता ही है। किन्तु उस अहन्ता को व्यक्तित्व गिनना भूल होगी। अहन्ता यद्यपि होने की भूमि है, पर वही होने की व्याधि भी है। इसीसे बार-बार होना, जिसे धार्मिक भव-बाधा या आवागमन कहते हैं, कुछ उपादेय नहीं समझा जाता है। मुक्ति इस होने, यानी होते रहने, से मुक्ति है। आवागमन से निकल कर फिर क्या होगा, यह प्रश्न प्रस्तुत नहीं है। सार बस इतने में ही है कि स्वयं होकर होने में सुख नहीं है, पूर्णता नहीं है, प्रत्युत निरन्तर बन्ध का बोध है। अर्थात् अहंभाव द्वारा हम जीते हैं, तो भी उससे अधिकाधिक छूटते जाना उत्तरोत्तर सच्चा जीते जाना है। अपने को याद रखे रहना सबसे बड़ा दुःख है, भूल जाना सुख। जो जितना ही कम 'अस्मित्व' है, वह उतना ही महान 'अस्तित्व' है। व्यक्तित्व (या अस्तित्व) सम्पादन के लिए 'अस्मित्व' का संग्रह नहीं, उत्सर्ग चाहिए। इसी से देखते हैं कि जो आगे बढ़ कर मरता है, वह अमर बनता है। यानी जीने की कला, उसकी कुञ्जी, मरने की शिक्षा और साधना में है। इस बात को समझें तो जैसे संस्कृति का सार मिल जाता है।

हम अपने को जगत का केन्द्र मान कर जीते हैं, यह है विकृति।
हम जगत में शून्य भाव से जियें, यह होगी संस्कृति।

अहन्ता से शून्यता की ओर जाना विकार से संस्कार की ओर उठना है।

ऊपर की बात को तात्विक से व्यावहारिक बनाकर लिया जाय। उसे मानव-सम्बन्धों पर घटित कर देखा जाय। तो जब मेरे लिए सामने का व्यक्ति प्रधान और मैं स्वयं उसकी अपेक्षा में गौण बनता हूँ; यानी उसे आदर देता हूँ, चाहे उधर से अपमान ही पा रहा होऊँ; सौदे में उसका लाभ प्रथम देखता हूँ और अपने लिए यथावश्यक पर सन्तोष करता हूँ; उसको सुख देकर अपने दुःख को भूल जाता हूँ; संक्षेप में उसके कल्याण में स्वयं काम आता हूँ—तो यह संस्कृति की दिशा की साधना है। इस तरह की प्रवृत्ति से समस्याओं का धरातल उठेगा (क्यों कि समस्या निबटने के लिए नहीं है, केवल उठते जाने के लिए है); बन्धन टूटेंगे और जो विष मानव-सम्बन्धों को कुटिल और कठिन बनाए रखता है और मद-मत्सर, ईर्ष्या-लालसा और द्वेष-दुर्भाव पैदा करके बौद्धिक से मारक-दर्शन और वैज्ञानिक से संहारक-शस्त्रास्त्र का आविष्कार करवाता है—वह विष कटेगा। स्नेह की कुण्ठा उससे दूर होगी और सहानुभूति का प्रकृत प्रभाव खुलेगा।

दूसरे सिद्धान्त से हम सामने वाले को अपने स्नेह के बजाय स्वार्थ का उपादान बना सकते हैं। तब हम अपने को उसके लिए नहीं, उसे अपने लिए मानेंगे—अर्थात् उससे अपना प्रयोजन साधने का सदा और प्रमुख ध्यान रखेंगे। अपने लाभ को इतना देखेंगे कि उसको ठगने से नहीं कतरायँगे। स्वयं उसमें से अपना सुख निकाल लेंगे, चाहे फिर उसके भाग में दुःख ही रह जाय। अपने सम्मान की भरपूर चिन्ता रखेंगे, फिर चाहे हमसे कितनों का भी अपमान होता रहे। अपने लिए पद रखेंगे और दूसरे के लिए सिर्फ वोट; दूसरे को आशा देंगे, अपने को प्राप्ति। तो जीवन की यह पद्धति दूसरी दिशा की ओर ले जाती है। मैं मानता हूँ कि इस दिशा की प्रवृत्ति निश्चित रूप से संकट को ओर विकट करने वाली है। वह शोषण की है, हिंसा की है। अब दीखने वाले काम-धाम—उपकार, सुधार, व्यापार, शासन, व्यवस्था, सभा-

संगठन, समाज-साधना आदि सब तरह के सब काम—ऊपर की दोनों वृत्तियों से किए और चलाए जा सकते हैं। पहली अवस्था में ही वे साधक हो सकते हैं, अन्यथा वे सब बाधक और बंधन कारक होने वाले हैं।

संस्कृति का अतः बाह्य कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। काम की भाषा, या उस प्रकार की आग्रह-आकांक्षा, विकार का लक्षण मानी जा सकती है। कर्म रचनात्मक वह है, जो संस्कृति-निष्ठा, यानी अहिंसक प्रेरणा में से आता है। कर्म से संस्कृति या अहिंसा नहीं है, संस्कृति में से कर्म को होना है। अर्थात्, धर्मपूर्वक कर्म।

जहाँ 'मैं' प्रधान हूँ, और दूसरा मेरे प्रयोजन की अपेक्षा में ही है, वहाँ का समस्त कर्म संस्कृति मूलक न होने से व्यर्थ और अनिष्ट कर्म है। मानना होगा कि 'पालिटिक्स', जहाँ उसका रंग मन तक पहुँचा हुआ हो, स्पष्ट ही विकृत और रुग्ण कर्म है। वह मानवता को दहका सकता है, दमका नहीं सकता; जला सकता है, उजला नहीं सकता।

निश्चय ही वे मान, वे मूल्य, जिन पर जगत का समग्र कर्म-व्यापार कला और परखा जायगा, या घटनाओं से बनने वाले समूचे इतिहास से जिनकी पूर्त्ति और सिद्धि माँगी जायगी, वे मूल्य साँस्कृतिक हैं अथवा मानवीय हैं।

मूल्य का आशय लक्ष्य नहीं, कि जिसको आगे रखना काफी हो। उसका मतलब है वह घड़ी, वह तुला, जिसको हर वक्त साथ रखना ज़रूरी है। उस पर सही उतरे वह तो रखना और बाकी सब-कुछ फेंक देना होगा।

बृहद् कर्म का मोह इसमें अक्सर बाधा डालता है। सिर्फ इसलिए कि डाका बहुत बड़ा है, हम डाकू के प्रशंसक बन सकते हैं। प्रशंसा में डाकू की जगह दूसरा बढ़िया नाम तक उसे दे सकते हैं। लेकिन यह

केवल मोह की महिमा है और मन को भुलावा है। छोटे व्यक्तिगत सौदे में जो नफ़ाखोरी बुरी दीखती है, बड़े सांस्थानिक या राष्ट्रीय पैमाने पर वही हमें गौरवशाली दीखने लग सकती है। गाय की हत्या पर जुगुप्सा हो सकती है, पर चमड़े के व्यापार में करोड़ों की कमाई ठीक लग आती है। हत्या से जी घबराता है, लेकिन युद्ध वाली हिंसा, या उत्पादन के और पूंजी के अमित केन्द्रीकरण से होने वाली व्यापक और सूक्ष्म हिंसा, हमको प्रिय लग सकती है। यह सिर्फ़ 'बृहत्ता' की माया है। स्थूल आँख गुण तक नहीं पहुँचती, परिमाण पर भटकती है। मशीन इसी से मोहती है और मनुष्य पर विजय पाती है। इससे बचना जितना कठिन है, उतना ही आवश्यक भी है। राजनीतिक नेता उसी मोह को मनमें जगाकर, खुशहाली और तरक्की के बड़े-बड़े नक्शे देकर, बहुमत को साधता और अपना नायकत्व बाँधता है। परिमाण (Quantity) के ज़ोर से अक्सर गुण (Quality) की त्रुटि ढँक जाती है। परिमाण की भाषा इसलिए सांस्कृतिक इष्ट के लिए बिल्कुल विदेशी है। अर्थ-गणित, जो व्यक्ति को अंक में आँकता है, अन्त में स्वार्थ को प्रतिष्ठा देता है। वह शोषण का अस्त्र बनता है।

आर्थिक आँकड़े आधुनिक शिक्षित के मन पर इस कदर बैठते हैं कि उनके तलकी पारमार्थिक भूमिका के बारे में सावधान होने का अवकाश नहीं सूझता। प्लानिंग बड़ा हो, तो छोटों मोटों की सुख-सुविधा इतनी तुच्छ लगती है कि उसपर अटकना मूर्खता प्रतीत हो आती है।

इसी से भाव से अधिक प्रभाव का महत्व हो बनता है। राजनीति आदमी को नहीं देखती, उसके प्रभाव को देखती है। प्रभाव में उसका बाज़ार-भाव है। उसका अन्तरंग भाव क्या है, यह विचार अनावश्यक होता है। तब प्रभाव बढ़ाना इष्ट होता और भाव-शुद्धि व्यर्थ होती है। लौकिक प्रतिष्ठा आत्म-निष्ठा से बड़ी और गौरव की चीज़ बन जाती है।

संस्कृति के लिए यह भारी खतरा है। यह आंकिक और पारिमाणिक

दर्शन। भौतिक क्या, इसे ऐन्द्रियिक दर्शन कहना चाहिए। मन मारकर तन सजाने की बात समझदारी की तो समझी नहीं जा सकती। फिर भी उधर दौड़ दीखती है।

पर मानवात्मा अपने विरुद्ध अधिक काल जा न सकेगा। संस्कृति विकृति की जकड़ से छुटकारा पायगी और राष्ट्रवाद मानवता को बहुत काल छावनियों में 'बाँटकर कटा-फटा नहीं रख सकेगा। प्रकृत मानव अपने को और अपनी एकता को पहचानेगा और बनावटी गर्व उसके प्रयास की राह से सहज भाव में गिर रहेंगे।

: ३ :

संस्कृति और संकट

२१ फरवरी को यहाँ दिल्ली में अ० भा० कांग्रेस कमेटी की बैठक
हुई। राजनीति राज चलाने या पाने की नीति है। राज शक्ति से बनता
और चलता है। इसलिए शक्ति की ही वह नीति है। पर, गाँधी जी
गए तो ऐसा मालूम हुआ कि एक नई ताकत की राह बना गए हैं। वह
कमजोरी में से निकली हुई ताकत; बल नहीं, उल्टी अबलता की ताकत।
यह विरोधाभास लगता है, पर अहिंसा वैसी ही ताकत नहीं तो और क्या
है? गाँधीजी से मालूम हुआ कि निर्बलों को भी अपनी निर्बलता पीछे
रखने की जरूरत नहीं है। बलशाली के मुकाबले शायद आगे निर्बल
को ही आना और जमना होगा।

वह जो हो, बैठक के हाल के बाहर ही भाई राजाराम जी मिले।
टोक कर बोले—"जनवाणी के लिए कुछ तुम्हें लिखना है।" मैंने अपने
को बचाया। एक तो इधर कुछ लिखते बना नहीं है, दूसरे जो
लिखा है या लिख सकता हूँ वह आत्मापेक्षी है। वास्तव की
ओर से उसका मूल्य शून्य हो सकता है। जिसको आब्जेक्टिव
कहते हैं, वह कुछ मेरे पास नहीं है। यथार्थ वस्तुता से अनजान भी
हूँ। अब 'जनवाणी' तो समाजवादी पत्रिका है। समाजवादी
सत्य मुझ पर या तुम पर निर्भर नहीं है, वह अपने आप में सत्य
है। वह समाज सम्बन्धी वैज्ञानिक सत्य है। लोग कहते हैं, यदि सचमुच
वैज्ञानिक हो तो वह समाजवाद, सोशलिज्म नहीं; साम्यवाद, कम्यू-

निर्मम होगा। लेकिन उस भेदाभेद की परख मुझे नहीं है। जिसका सत्य निरपेक्ष है और वस्तुस्थित है, वह निर्मम और वैज्ञानिक क्यों न होगा? इस तरह मैंने माना था कि 'जनवाणी' के लायक मैं क्या लिख सकूंगा।

फिर हाल के अन्दर गए और सामने कार्रवाई शुरू हुई।

वहाँ काम-काजी लोग थे, जिनके समय का मूल्य है और व्यक्तित्व का वजन। देश की बागडोर जिनके हाथों में है, वे जन प्रायः सभी वहाँ थे। ऐसी कामकाजी बैठक में श्री जयप्रकाश नारायण के मुंह से 'संस्कृति' शब्द सुना तो मैं चौंका। कारण, वह शब्द हवाई है। उसमें भव्यता है और कविता है। इस तरह उसमें भला-भोलापन है, जो काम के वक्त ढीला साबित होता है। ठोसपन नहीं है, जो चोट ले और चोट दे। मैंने सोचा, इस कामकाजी जमाव में संस्कृति जैसे निष्काम शब्द का कहीं से अनर्गल प्रवेश तो नहीं हो गया?

देखा, जयप्रकाश जी धीर और लीन भाव से बोल रहे हैं। बात में आग्रह हो तो मैं समझ सकता था, आवेश हो तो भी शायद यथास्थान होता। पर मानों वे सुनने वालों के विवेक से बात कर रहे थे। यह मुझे कुछ अजब पर अच्छा लगा। और मैंने मान लिया कि इस भाषण में आई संस्कृति निरी नारे की नहीं है, शायद लगन की भी हो। नहीं तो बात ऐसे भी कही जाती है कि मक्के-सी मुस्तैद और तीर-सी तीखी लगे। राजनीति की बात अक्सर ऐसी होकर तुरन्त फल वाली हुआ करती है। पर वैसा विशेष आभास न पाया, और जयप्रकाश जी को ऐसे ही बोलते पाया जैसे हम आपस में बोलते हैं, हौले और धीमे, तो मेरे लिए यह मानने से बचने का अवसर न रहा कि इनके मुँह से निकली संस्कृति शायद काम-काज साधने की ही युक्ति नहीं है बल्कि विचार और विवेचना के योग्य भी हो सकती है।

जयप्रकाश जी के कहने का आशय था कि यह जो गांधी जी को हमने गँवा दिया है, सो निरी घटना नहीं है। यह तो संस्कृति का ही

संकट है। यह साम्प्रदायिकता का विष है, जो गहरा घर करता जा रहा है। जात-पांत पर, अलग-अलग फिरकों पर ऐसे जोर पड़ता गया तो सब खंड-खंड ही न हो रहेगा ? हमारी इकट्ठी संस्कृति कहाँ रह जायगी ? यानी, साम्प्रादायिकता की तरफ से आने वाला प्रहार गहरे संकट का सूचक है।

शब्द और हों, भाव यही था। अर्थात् जात-पाँत के सहारे जीवन चले तो राज का और राजनीति का क्या होगा ? सब तीन-तेरह ही न हो जायगा ? और, ऐहिक (सेकुलर) स्टेट के लिए जो आर्थिक प्रोग्राम करने वाली पार्टियाँ होंगी, उनको कहाँ मौका रह जायगा ? यों भारत में ऐहिक लोक-राज्य (डेमोक्रेटिक सेकुलर स्टेट) फिर कैसे बन पायगा ? इसमें तो सन्देह नहीं कि साम्प्रदायिकता संकट है। उत्कट होने पर उसके अन्दर की नफरत बाहर रिवाल्वर लेकर बढ़ती है और हत्या को राजनीतिक प्रगति का साधक उपाय ठहराती है। इस तरह हिंसा एक पद्धति बनती है और उसका उपयोग बहादुरी का लक्षण। सम्प्रदायों के पृथग्भाव में से फिर और छोटे-मोटे वर्गों की पृथकता निकलती है और वे स्पर्द्धा के आधार पर अपने दल बाँधते और नारे उठाते हैं। यों जीवन सचमुच छिन्न-भिन्न हो जाता और समाज एक जंगल बन जाता है।

साम्प्रदायिकता की तरफ का संकट बेशक छोटा नहीं है। किन्तु शायद वह असली संकट नहीं है। वह तो निदान नहीं है, निशान भर है। इसलिए जो आन्तरिक है, जो मूलभूत है, शायद असली है, वह संकट चिंतनीय होना चाहिये। पूरे निदान और इलाज के लिए उसे ही पाना होगा।

अर्थात् साम्प्रदायिकता की ओर से जो जहरीला प्रहार संस्कृति के प्रतीक गांधी जी की हत्या के रूप में हुआ, संस्कृति की दृष्टि से वह संकट हो सकता है। पर संस्कृति की ओर से परीक्षा इसमें है कि उस प्रहार

का उत्तर कैसे दिया जाता है। मेरे देखते संस्कृति का प्रश्न ठीक इसी जगह विचारणीय है।

संगठित धर्म, यानी सम्प्रदाय। उसके मुकाबले संगठित राजनीति, यानी पार्टी अथवा दल। जैसे सम्प्रदाय वैसे दल भी ऊपरी प्रहार द्वारा अपनी इच्छा का सुधार या परिवर्तन लाने में विश्वास कर सकते हैं। प्रश्न है कि क्या एक का प्रहार संस्कृति पर संकट, और प्रत्युत्तर में दूसरे का प्रति-प्रहार क्या संस्कृति का समर्थन होगा? धार्मिक सम्प्रदायों को राजनीतिक दलों के पक्ष में समाप्त करना क्या सही समझा जाएगा?

मेरे देखते संकट शायद यह नहीं है कि हिंसा है। वह तो सदा से है, आगे भी शायद रहने वाली है। प्रश्न है कि हिंसा पर क्या प्रति-हिंसा से काम लेते जाना होगा? ऐसे क्या चक्कर कटेगा? क्या कोई भी अलग होकर यह कहने वाला न होगा कि हिंसा हमें झेल लेनी है और फिर लौटा कर नहीं देनी है, हिंसा का अहिंसा से मुकाबिला करना है?

शायद जड़ का प्रश्न ऊपर आ जाता है। यह तो सदा से सुनते रहे हैं कि देखो वहाँ से तुमको, तुम्हारी संस्कृति को, जान-माल को, इज्जत-आबरू को संकट है। इसलिए आओ, वह दुश्मन मजबूत और हमलावर हो उससे पहले ही हम उस पर चढ़ दौड़ें और उसे नेस्त-नाबूद कर दें। वह दुश्मन है, आओ, उसे कुचल दें। इस तरह इधर से ललकार उठाई, कि उधर वालों ने भी देख लिया कि वे संकट में हैं और इधर उनका दुश्मन मौजूद है। ऐसे पहले दुश्मन देखकर, फिर अपने को उसका दुश्मन बना कर, जो दुश्मनी का विष-चक्र चला दिया गया है वह सारे इतिहास को छाती पर कुण्डली मार कर ऐसा बैठा है कि उसकी जकड़ से मनुष्य की जिन्दगी खुल नहीं पाती है!

ठीक है कि एक ने गांधी जी को मार डाला! कोई नहीं कह सकता कि गांधी जी गफ़लत में थे। क्या वह अपने को नहीं बचा सकते थे?

क्या सारी हकूमत इस काम में काम नहीं आ सकती थी ? पर नहीं आई, और
नहीं आने दी गई। कारण कि यद्यपि हत्याकारी और उसके से विचार वाले
अमुक दल की ओर से आने वाली हिंसा अवैध थी, और हकूमत की फौज
और पुलिस वैध है—पर वैध माने जाने वाली हिंसा से भी गांधी जी
अवैध हिंसा का सामना करने में स्वयं विश्वास नहीं करते थे। छोटी हिंसा
को बड़ी से और अवैध को वैध से रोका जा सकता है। पर इससे चक्कर
नहीं कटता, बल्कि मज़बूत ही होता है। अवैध हिंसा से संस्कृति को
संकट है, लेकिन वैध हिंसा में भी संस्कृति की सेवा नहीं है।

ऊपर की बात सैद्धान्तिक और व्यवहार से अछूती लग सकती है,
लेकिन संस्कृति के संकट का यदि प्रश्न है तो वह नितांत विचारणीय है।
बल्कि वही एक बात विचारणीय है।

दल धार्मिक मतवादों को ऊपर उठा कर जुट सकते हैं, जैसे भारत में
हुआ है। इसी धर्मवाद के आधार पर यहाँ विभाजन हुआ और पाकिस्तान
बन गया। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सदा एकराष्ट्र का सिद्धान्त माना
था। लेकिन नीचे व्यवहार हुई की भावना लेकर चला, और कौमें दो नहीं तो
हकूमतें दो बनी हीं। सदियों से हिन्दुस्तान में बसनेवाले सब लोगों के बीच
इकट्ठापन बढ़ता चला आ रहा था, जो अनिवार्य ही था, कि अंग्रेजों
के आने से यह काम रुक गया। अंग्रेज उनके बीच मुंसिफ़ बनकर रहा
और हिन्दु-मुसलमान की गैरियत जो बराबर कम होते जाने को लाचार थी
उन अंग्रेज के सहारे हरी ही बनी रही। फिर भी यह पराया-पन ऊपरी था,
वहीं तक जहाँ तक राजनीति की पहुँच थी। धरती से और मेहनत से
लगकर रहने वाला औसत इन्सान, हिन्दु या मुसलमान, मिल जुल कर
रहता था। उन दोनों के दरमियान हर तरह का लेन-देन का रिश्ता था।
छोटे-मोटे किस्से खुद सबूत थे उस रिश्ते के। यानी तरह-तरह के रीति-
नीति के, मेल-व्यौहार के नातों से सारा हिन्दुस्तान एक तरह की हिन्दुस्ता-
नियत में निखरता जा रहा था। अंग्रेज के जाते-जाते हिन्दुस्तान के

टुकड़े जो हुए, तो यह सदियों से चली आती हुई कुदरत की कोशिश के खिलाफ काम था। हकूमत में और सियासत में रहने वालों के दिमाग़ कुछ इस दुई के आदी और हिमायती हो भी गए हों, मुल्क का दिल इसके लिए तैयार न था। वहाँ से जो गुस्सा और तनाव, मुसीबत और तबाही, बरपा हुई उसे कौन नहीं जानता। यह संस्कृति के खिलाफ काम था, वह संस्कृति जिससे इन्सानियत छूट नहीं सकती और जिसकी टेक पर मानव-जाति को बढ़ना होगा। उस कसौटी पर सियासतें और हकूमतें कसी जाएंगी और फेंक दी जायेंगी। वही इतिहास के लिये कसौटी बनेगी और सब राज-नीतियों का फैसला करेगी। हिन्दुस्तान में धर्म के आधार पर, तो यूरोप में जातियों के आधार पर काम काज चलाया गया। मगर वहाँ लड़ाइयाँ ज्यादा हुई, कत्ल और खून ज्यादे हुआ, और कही जाने वाली सभ्यता भी शायद ज्यादे हुई। वहाँ की जिन्दगी सियासत को लेकर उसमें अलग-अलग नाम और नारे ईजाद करके जुटाई और समेटी जाती है। हिन्दू और मुसलमान के बीच की नफ़रत फासिस्ट और कम्यूनिस्ट की आपसी घृणा से क्या कुछ अलग तरीके की चीज़ है? राजनीतिक होने से क्या उस नफ़रत की संभावनाएं मीठी बन जाती हैं? क्या वह कम नृशंस और कम भीषण होती है?

संस्कृति का यदि प्रश्न है, तो क्या धार्मिक, क्या राजनीतिक, या क्या दूसरे तात्विक, सब मतवादों के लिए एक सी स्वतंत्रता और एक-सी मर्यादा होनी चाहिए। धार्मिक होने के कारण एक मतवाद अधिक प्रभावक और गहरा हो सकता है, इसी से किसी नये फैशन के प्रचलित राजनीतिक मतवाद को सामने करके उसे अधिक स्वच्छन्दता देने का कोई मौका नहीं होना चाहिए। मानव सम्बन्धों को लेकर संस्कृति बनती है। उन सम्बन्धों में जब हिंसा आती है तभी विकृति आती और संस्कृति के लिऐ संकट उपस्थित होता है। धर्म-क्षेत्र के विद्वेष और विग्रह को राज

और समाज क्षेत्र में लाकर रोप देने से ही संस्कृति की रक्षा और सेवा हो जायेगी, इसे भ्रम ही मानना चाहिए।

इसलिए प्रश्न नहीं है राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिन्दू महासभा या काँग्रेस का, अथवा राष्ट्रीयता और सम्प्रदायिकता का भी। क्या अपने में स्वयं सिद्ध धर्म ठहर कर राष्ट्रीयता एक उथली साम्प्रदायिकता ही नहीं रह जाती ? और सम्प्रदाय, फिर वे धर्म के आधार पर ही बने हों, क्या कानूनन नाजायज़ होने लायक समझे जायेंगे ? ऐसा होगा तो सचमुच वह संस्कृति के लिए बड़े भारी संकट का दिन होगा।

गाँधी जी राष्ट्र के पिता थे, सो क्यों ? क्योंकि वे सबको—सब व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं और संगठनों को—पूरा अवकाश देते थे। डिमोक्रेसी का यही नहीं, तो दूसरा क्या अर्थ है ? डिमोक्रेसी के सार को अन्दर लेकर चलने वाली भारतीय संस्कृति गांधी जी के हाथों पूरी तरह मान्य और प्रतिष्ठित हुई। कारण, उन्होंने वैर की राजनीति के बीच निर्वैर की धर्म-नीति को प्रतिष्ठित किया।

क्या हम मानें कि हिंसा जीती, गाँधी जी हारे ? गाँधी जी की मृत्यु इसका जवाब है। वह मृत्यु उनके लिये अमरता की मुहर बनी है। और उससे बड़ी पराजय हिंसा के लिए दूसरी हो नहीं सकती।

तो संस्कृति का सवाल इस जगह है कि हम घृणा को, द्वेष को कैसे जीतें ? अपने से बाहर के द्वेष और घृणा को अपने अन्दर की निर्वैरता से जवाब देने लायक हम नहीं हैं, और एक तरह के वैर से ही उसे काटने चलते हैं, तो यह संस्कारिता की हार और विकार और संहार की जीत है।

सचमुच गांधी जी के बाद भारत कसौटी पर है। उनकी उत्तराधिकारी और उनके नाम से स्फूर्ति और सहारा लेने वाली राजनीतिक पार्टियां मान लें कि उनकी परीक्षा है। गांधी जी की टेक थी कि हकूमतें चाहे दो हो गई

हाँ, हिन्दुस्तान के दिल दो नहीं हो गए हैं। कांग्रेस के द्वारा संस्कृति की सेवा या रक्षा होनी है, तो उसको वह बनना होगा जो हिन्दुस्तान के समूचे संयुक्त हृदय की प्रतिध्वनि दे। उसमें सब के लिए समाई हो। अहंकार में अपने को इतना सही मानने वाले हो सकते है कि जिन्हें सत्ता हथियाना इतना जरूरी मालूम हो कि अपनी राह के विघ्न को हिंसा से दूर करना वे पुण्यकर्म गिनें। उनका इलाज हकूमत जो चाहे करे। यों हर मत और हर व्यक्ति को होने का, और अपना मान रखने का, अधिकार है और हर संस्था अपने तन्त्र में स्वाधीन है। इस तरह डिमोक्रेसी को अपना सार हमेशा के लिए अहिंसा को जान और मान लेना है।

किन्तु व्यवहार की राजनीति का तर्क अपना है। वह शक्ति का तर्क है। विचार और व्यक्ति तात्कालिक शक्ति की अपेक्षा से ही वहाँ विचारणीय बनते है। वह दलबद्ध प्रवृत्ति है। दलों में वह अपना हिसाब बिठाएगी और उनके बीच जय-पराजय की युक्तियाँ रचेगी। अमुक दुर्घटना उसके लिए अमुक वर्ग या दल को मिटाने का अवसर ही देने वाली दीखेगी। यह व्यावहारिक राजनीति, पावर-पालिटिक्स, पहले तो भारत का ही मेल नहीं साध सकती, फिर हिन्दुस्तान और पाकिस्तान का मेल, जो कि असली और दिली समस्या है, वह तो उसके गुमान में भी आ नहीं सकता है।

राजकीय समस्या भारत की अलग देख ली जावे, किन्तु सांस्कृतिक समस्या उस तरह पाकिस्तान को और फलतः मुसलमान को अलग कटा हुआ मानकर चैन नहीं पा सकती। यहां संस्कृति को निर्विशिष्ट और समग्र भाव में लिया है। विशिष्ट और सीमित और नामधारी संस्कृति, जो इन्सान से अधिक विद्वान की है, उसकी चर्चा यहां नहीं है।

गाँधी जी ने भारत की राष्ट्रीयता को उस बुनियाद पर रखा जहाँ जाति, धर्म, और वर्ण आदि भेदों का महत्व नहीं है। वहां सब समान हैं और सब के लिये समाई है। धर्म के विविध रूपों अथवा शरीरों

की रक्षा करते हुए उसकी अखंडता, उसकी आत्मा की एकता, को उन्होंने जगाया और चलते चलते गुहार दी :—

'ईश्वर अल्लाह तेरे नाम'

हिन्दू मुसलमान की, कांग्रेस कम्यूनिस्ट की, मेरी तेरी यदि यह लड़ाई थी कि हिन्दुस्तान (का राज) तेरा नहीं मेरा है, तो गाँधी ने कहा कि हिन्दुस्तान के मालिक तो वे हैं जो धरती में पसीना डालते और वहाँ से सब के लिये अन्न उगाते हैं। वे बस उत्पादन ही अपना भाग मानकर बाकी लूट-खसोट का काम बाचालों के लिये छोड़ देते हैं। इसलिए हिन्दुस्तान किसी का है तो उसका है जो इन मूक महनती जनता का अकिंचन सेवक है, जो यह सेवा मानो प्रायश्चित की भावना से करता है। इसी तरह धर्म के मामले में ईश्वर और अल्लाह को एक पुकार में मिला कर उन्होंने बता दिया कि भगवान किसी का नहीं है, सबका है। और जो अपनी कुरबानी देता है उसे पाता है।

संक्षेप में संस्कृति को संकट किसी दल अथवा मत से नहीं हो सकता, क्योंकि वह वस्तु दल-गत या मतवादी है ही नहीं। जिन्दगी की प्रवृत्ति आर्थिक योजनाओं के अधीन चले, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टिकोण से चले, या फिर कोई अपने किसी दूसरे दृष्टि बिन्दु से या दूसरे कार्यक्रम से चलाये—उस सब के सम्बन्ध में संस्कृति का कुछ मतामत नहीं है। बल्कि आदमी का आदमी पर प्रहार न हो, दबाव न हो, असम्मान न हो; बल्कि हर दो के बीच सहानुभूति, सम्मान और सहयोग का सम्बन्ध हो; हर दो पड़ौसी भाईचारा रखें; अर्थ-सम्बन्ध सहकार के आधार पर हो, समाज स्वेच्छित-सहयोग पर बने और व्यक्तित्व की निजता को अवसर और अवकाश हो—ये संस्कृति की आवश्यकताएं और लक्षण हैं। बेशक हर एक की निजता अलग और अनोखी होने के कारण समस्याएं होंगी और संघर्ष होंगे, लेकिन यदि उन संघर्षों में भी सद्भाव रह सका तो जिन्दगी को और भरपूर, विविध और सुन्दर बनाने वाले वे होंगे। इस तरह

भेद बड़ी पवित्र और मूल्यवान वस्तु होगी, क्योंकि वह अपनी अपनी ईमानदारी की पहचान होगी। हरेक का व्यक्तित्व अपने में पुष्ट और इसलिए किसी कदर दूसरे से भिन्न होगा, तभी परस्पर सहयोग और सहकार कीमती भी हो सकेगा। और तभी डिमोक्रेसी केवल संख्या की और वोट की, भीड़ की, चीज़ न रहेगी, बल्कि वह होगी जो कि होनी चाहिए। यानी प्रत्येक की स्वाधीन चेतना को वह बल देगी और उसकी आवाज शुद्ध विवेक की यानी संश्लिष्ट मानवता की होगी।

★

: ४ :

रोटी का मोर्चा और संस्कृति

एक लेख मेरे देखने में आया, "रोटी के मोर्चे पर संस्कृति के गीत"। अपना शीर्षक मैंने वहीं से लिया है। उसके लिए लेखक का आभार मानना और उनसे क्षमा मांग लेना जरूरी है।

वह तो लेख क्या एक गद्य काव्य ही है। सुन्दर और भावुक। कला और भावुकता के योग से कठोर भी मनोरम दीख पड़ता है; लेकिन इस जगह मनोहर मुझे प्रयोजनीय नहीं है। प्रयोजनीय है मोर्चा, यानी उसको समझना। मोर्चे पर जा डटने से पहले मैं उस मोर्चे को जान लेना चाहता हूँ। रोटी को तो मैं जानता हूँ, भूख और भोग दोनों के द्वारा ही। लेकिन उसका मोर्चा क्या चीज है, यह शायद गवेषणा की वस्तु है। यह भी पाना होगा कि फिर संस्कृति से उसकी क्या संगति है।

रोटी का एक मोर्चा तो मेरे यहाँ भी कायम है। उसका नाम है चौका। एक थाली में कक्कू, कुम्मो, और कुन्ने बैठते हैं तो अक्सर मोर्चा गरम देखता हूँ। छीन-झपट होती है, ले-दे मचती है, फिर मीठा उनहार-मनुहार भी होता है। उस चौके के और भी पहलू हैं। एक, गृहिणी जो कि खाना बनाती है। दो, स्वामी जो सादर पहले जिमाये जाते हैं। तीन, कहारिन जो रोटी के जूठे बर्तन माँजती और बचा-खुचा पाने की जुगत में रहती है। फिर सबके बाद मेहतर जो बासी और जूठन बचने पर अपना हक जमाता है। चौका यदि मोर्चा है तो इन सबके लिए उसका रूप अलग-अलग है। पति महाशय के लिए वह रूप पैसा है, पत्नी के लिए सेवा, कहारिन के

लिए चाकरी और मेहतर के लिए भीख । बच्चों के लिये वह एक ही साथ क्रीड़ा और कुश्ती का अखाड़ा है ।

लेकिन मैं जानता हूँ कि प्रश्न व्यक्तिगत नहीं है, पारिवारिक भी नहीं है । इस पद्धति से सब का अपना-अपना होकर तो प्रश्न बिखर जाता है और शायद तब गंठीला भी वह उतना नहीं रहता । पर नहीं, प्रश्न का वह रूप निर्वैयक्तिक नहीं है । निर्वैयक्तिक ही वैज्ञानिक होता है । अतः मोर्चा असल वह है जो निर्वैयक्तिक है, सामाजिक है, सार्वजनिक है । इस लिए वह राजनीतिक और तात्विक है ।

निस्संदेह दिमाग पर वहाँ तक जाने में जोर पड़ता है जहां रोटी का मोर्चा इस क़दर क्रांतिकारी है कि स्थूल रोटी का वास्ता उससे नहीं रहता, खालिस मोर्चा ही मोर्चा रह जाता है । जोर पड़ता है इसी से वह महत्वपूर्ण है ।

उस रोटी को जानना आसान है जो गेहूँ से बनती है, बनाने में जिसके तरह तरह की मेहनत लगती है, और जो भूख भरती है । पर वह रोटी, जिसका सम्बन्ध न तो गेहूँ से है, न श्रम से है, बल्कि सीधा सम्बन्ध क्रांति से और मोर्चे से है, इतनी गहन और सूक्ष्म हो जाती है कि उसे मुट्ठी में लेना और पेट में डालना संभव नहीं हो पाता । वह दिमाग की चीज मालूम होती है । अगर वह किसी की भूख मिटाती या बढ़ाती है तो शायद दिमाग वाले के दिमाग की ही ।

रोटी का मोर्चा इस तरह उनका नहीं मालूम होता जो पेट के भूखे हैं, वह उनका है जो भूखे दिमाग के हैं । वह मोर्चा दिमागियों का है ।

एक मन्दिर के द्वार पर अक्सर देखते हैं कि भुखमरों की पाँत लगी है । भूखों को पांत में लाना छोटी बात नहीं है । उनके लिए भीड़ और झुण्ड ही प्रकृत है । लेकिन वह लाला, जो गिनती की रोटी लाते हैं और गिन-गिनकर ही उन्हें दे सकते हैं, हो-हल्ला पसन्द नहीं करते, तरतीब

पसन्द करते हैं। इसलिए एक को एक ही रोटी मिले, यह सुभीता अपनी ओर से लाला जी को देने के लिए भुखमरों ने पाँत बाँधना सीख लिया है। जब तक पंक्ति है, तब तक शायद मोर्चे का पूरा मजा हमको उस दृश्य में नहीं दीखेगा। पर बहुधा पांत टूट जाती है और छीन-झपट चल पड़ती है। रोटी के मोर्चे का चित्र उससे हूबहू और कहाँ मिलेगा, मैं जानता नहीं हूँ।

रोटी को चौके से तोड़ लीजिये और मोर्चे से जोड़ दीजिये। चौके से जुड़कर वह श्रम की और व्यवस्था की वस्तु हो जाती है। लेकिन इसमें मोर्चे की हानि है। क्रांति मोर्चे के सिवाय कहीं और से नहीं निकलनी है। इससे रोटी के सवाल को श्रम से जोड़ना खतरनाक है। यों रोटी बनेगी पर मोर्चा टूटेगा। मोर्चे को मजबूत रखने के लिए वह नहीं होने देना होगा। इसलिए भूख की बात को इतना ऊंचा उठाना होगा कि भूख का काम हो ही न सके। कौलाहल में शक्ति है। भूख है, तभी तक कोलाहल की प्रवृत्ति है। भूख मिटने पर शोर मचाने का चाव धीमा हो सकता है। इस-लिए बौद्धिक का यह कभी कर्त्तव्य नहीं है कि श्रम करे या श्रम करावे। उसका कर्त्तव्य इससे कम नहीं हो सकता कि वह क्रांति करे और क्रांति कराये। कारण, वह बौद्धिक है, दूर की सोचता है, सूक्ष्म को पकड़ता है। भूख में से क्रांतिकारी शक्ति जगाने का जो काम है वह उसका है। उसके लेखे क्या बुरा है कि भूख बढ़े। पेट की आग को राजनीति की आग बनाना उतना कठिन नहीं होगा। उस आग के जोर से ध्वंस होगा और उससे तख्ता उलट-पलट होगा। तब नये राज्य को होना होगा! और वह नया राज किन का होगा? सिवाय उनके और किनका, जिन्होंने मोर्चा बांधा था और जिन्होंने मोर्चे से कम का कोई काम नहीं किया था। बौद्धिक की बुद्धि आसपास क्यों रहे, वह शक्ति के स्रोत, उसके मंत्र-तंत्र-यंत्र को हस्तगत करने की सोचने तक क्यों न जाय। अतः कोई मजबूरी नहीं है कि बौद्धिक श्रमिक बने। अंग्रेजी भाषा, उसके द्वारा

विश्व का इतिहास, उसकी राजनीति और उसका अर्थशास्त्र उसने व्यर्थ ही नहीं पढ़ा। वे पढ़ा रहता तो कदाचित् श्रमिक उसे बनना पड़ भी सकता था। पढ़-लिखकर भोला किसान मजदूर बननेवाला वह नहीं है। हाँ, नेता उनका बन सकता है। श्रमिक तो अब वह बनेगा ही क्यों। अलबत्ता धनिक न बन सका, तो धनिक का दुश्मन बनना तो उतना असंभव कार्य नहीं है। उस पद्धति से एक दिन धनिक के सिर पर प्रभु बनकर बैठने की तरकीब निकल आ सकती है। बौद्धिक बनकर, बुद्धि पैनाकर वह इतना भी नहीं कर सका तो उससे और क्या आशा की जा सकती है? नहीं, वह प्रचार करेगा, संगठन करेगा और क्रांति करके ही छोड़ेगा—क्रांति, कि जिसमें आज का बड़ा आदमी पामाल दीखेगा और जनता के भूख के मोर्चे पर झंडा लेकर, घोष देकर, ऊँचा उठने वाला नायक बहाल होगा। श्रमिक की ओर से उसकी सहानुभूति में बौद्धिक वर्ग को ही तो नये राज्य का अधिनायकत्व सम्हालना होगा। इसके लिये खुद रोटी से ज्यादे रोटी के मोर्चे पर आँख रखनी होगी।

मैं मानता हूँ कि रोटी के मोर्चे पर संस्कृति नहीं चाहिए, संस्कृति का गीत नहीं चाहिए। मेरे विचार में वहाँ रोटी और रोटी का श्रम भी उतना नहीं चाहिए। वहाँ मोर्चा चाहिए, गीत भी मोर्चे का ही चाहिए और मोर्चे को चेताने के लिए रोटी से ज्यादे उसका अभाव चाहिए। वहाँ तीखी और बाँकी राजनीति चाहिए। रोटी के लिये प्लान बन सकते हैं, स्कीमें बन सकती हैं, लैक्चर बन सकते हैं, और मार्च-कूच के नक्शे बन सकते हैं। क्योंकि इन सबकी मोर्चे से संगति है, और स्वयं रोटी से संगति नहीं है।

रोटी के मोर्चे मुझे इस तरह दो ही दिखाई देते हैं। घर-घर जो उस के लिए मेहनत हो रही है, नाज उगाया जा रहा है, चक्की पीसी जा रही है, वह तो ठंडे श्रम की बात है। इसलिए वह तो मोर्चे के नाम पर उतनी विचारणीय नहीं है। उसके लिए विचार से अधिक लगन और

ात से अधिक काम चाहिए। उसके लिए राज की वात करने और राज
की चाह करने से अधिक स्वयं कम में काम चला लेने और अधिक-से-
अधिक उपजाने की दरकार होगी। इससे उसमें मोर्चा कम बनेगा, काम
अधिक वन चलेगा। अतः उसकी वात वृथा है। मोर्चे असल में दो हैं—
(१) जिस पर उपकारी है, (२) जिसके ऊपर क्रांतिकारी है।

१—उपकारी रोटी का सफल मोर्चा वना पाता है।
हो यह भी सकता था कि भिखारी भिखारी न रहता, वह
नागरिक होता और अपने हक और श्रम में से रोटी पा
जाता। उपकारी उस संभावना पर जाना नहीं चाहता। रोटी ब
लिए उसके आगे हाथ पसारने वाले नहीं होंगे, तो वह रोटी बाँटने क
काम कैसे कर सकेगा? वह काम तो अच्छा है न। इससे उसको तसल
मिलती है। स्वयं तो उसे भोग और आराम में रहना पड़ता है। इस
काम में लगता है कि वह धर्म कर रहा है। धर्म का अवसर खोने की
वात उस भावनाशील के मन में क्यों आने लगी। इसलिए उसका मुख्य
लाभ यह नहीं है कि भूखे को रोटी मिल जाय, उसमें यह भी शामिल है
कि उसके अपने हाथों से वंटकर वह रोटी उनको मिले। वह धन के रूप
में रोटी उनसे खींचता है, फिर दान के रूप में वही उन्हें देता है। इसमें
लाभ यह होता है कि मोर्चा पैदा होता है। प्रकृति से जो दो आदमी थे,
इस व्यवस्था से एक उनमें दानी और दूसरा दयनीय बनता है। अमीर
और गरीब का लोप होने से मोर्चे का मजा कम न हो जायगा!

२—दूसरा मोर्चा जो उससे बड़ा है राजनीतिक विचारक और क्रांति
के कर्मचारी की कला-सृष्टि है। 'ऐ भूखे लोगो, तुम भूखे हो न? आओ मैं
तुम्हें स्वर्ग की राह बताता हूँ। वहाँ रोटी ही नहीं है, मन चाहा सब कु
है।·· वह देखो···दीखा? उसके लिए, बोलो, कुछ करोगे? तो लाओ, मु
वोट दो।···ओ प्रतिपक्षी, सुन, मेरी वोट भूखे की रोटी की वोट है,
कि तेरा बेईमानी की।'···वह अवश्य चाहता है कि सब को रोटी मि

लेकिन उसके अपने हाथों से बँटकर मिले। अपनी जगह पर अपनी मेहनत से हर कोई अगर अपनी रोटी कमा लेगा तो इस तरह राजनीतिक शक्ति के एकत्र होने का अवसर कैसे आयेगा। वोट के रास्ते से पहले सबकी रोटी एकत्र करके अपने पास करली जाय; तब फिर उनको बराबर बराबर बाँटने का काम हम कर ही लेंगे। ऐसे पार्टी स्टेट के माध्यम से सब में एकता रहेगी और रोटी केन्द्र से बँटी होने के कारण समता भी सब जगह समतल रहेगी। रोटी अपने हाथ से दूसरे को दी जाय, इसका स्वाद एक अलग ही चीज है। सब को सहज भाव से रोटी मिलते जाने से वह स्वाद पूरा नहीं हो पाता, इसके लिए मोर्चा बनाना ज़रूरी होता है। जिसको कहते हैं राष्ट्रीयकरण, सरकारीकरण, वह बहुत कुछ यही मोर्चाबन्दी है। दस हजार मिल मजदूर एक मिल-मालिक से अपनी रोटी पाते हैं। पाँच लाख कलम के मजदूर क्लर्क एक सरकार से रोजी पाते हैं। लाखों-करोड़ों प्रजाजन शासनासन पर बैठे राजन्य जनों की कृपा से साँस लेते और पेट पालते हैं। इस अधिकार-भोग का सुभीता मोर्चा खड़ा किये बिना कैसे बन सकता है। इससे 'ऐ नागरिको! पार्टी अनुशासन में पाँत बनाकर बैठो। नम्बर आये तब अपना नाम बोलना और वोट देना। उसके बाद तुम्हारी तरफ से हम जायेंगे और सब रोटी जहाँ जमा हैं, वहाँ से लाकर बराबर बराबर तुम में बांट देंगे। जानते हो तुम क्यों भूखे हो? क्योंकि अव्वल तो एक रोटियों का ढेर नहीं है। कुछ अपने चौके चलाते हैं। रोटी, जो किसी की निजी सम्पत्ति है, वही तो मुसीबत है। तुम हमें मौका दो कि छीनकर पहले सबकी रोटियों का एक बड़ा ढेर लगा दें, फिर देखना कि हम सबको पूरी तरह पेट भर कर देते हैं कि नहीं। पर सावधान! हम ही हैं जो तुम्हारा पेट भरेंगे। उस अधिकार की जगह कहीं दूसरों को पहुँचने दिया तो गजब ही हो जायगा!'

यह रोटी का दूसरा मोरचा उसके हाथ नहीं है जिस के हाथ में पकी पकाई रोटी है। यह उनके पास है जिन के हाथ खाली हैं, इससे जिनके

बात से अधिक काम चाहिए। उसके लिए राज की बात करने और राज की चाह करने से अधिक स्वयं कम में काम चला लेने और अधिक-से-अधिक उपजाने की दरकार होगी। इससे उसमें मोर्चा कम बनेगा, काम अधिक बन चलेगा। अतः उसकी बात वृथा है। मोर्चे असल में दो हैं—(१) जिस पर उपकारी है, (२) जिसके ऊपर क्रांतिकारी है।

१—उपकारी रोटी का सफल मोर्चा बना पाता है। हो यह भी सकता था कि भिखारी भिखारी न रहता, वह नागरिक होता और अपने हक और श्रम में से रोटी पा जाता। उपकारी उस संभावना पर जाना नहीं चाहता। रोटी के लिए उसके आगे हाथ पसारने वाले नहीं होंगे, तो वह रोटी बाँटने का काम कैसे कर सकेगा? वह काम तो अच्छा है न। इससे उसको तसल्ली मिलती है। स्वयं तो उसे भोग और आराम में रहना पड़ता है। इस काम में लगता है कि वह धर्म कर रहा है। धर्म का अवसर खोने की बात उस भावनाशील के मन में क्यों आने लगी। इसलिए उसका मुख्य लाभ यह नहीं है कि भूखे को रोटी मिल जाय, उसमें यह भी शामिल है कि उसके अपने हाथों से बंटकर वह रोटी उनको मिले। वह धन के रूप में रोटी उनसे खींचता है, फिर दान के रूप में वही उन्हें देता है। इसमें लाभ यह होता है कि मोर्चा पैदा होता है। प्रकृति से जो दो आदमी थे, इस व्यवस्था से एक उनमें दानी और दूसरा दयनीय बनता है। अमीर और गरीब का लोप होने से मोर्चे का मजा कम न हो जायगा!

२—दूसरा मोर्चा जो उससे बड़ा है राजनीतिक विचारक और क्रांति के कर्मचारी की कला-सृष्टि है। 'ए भूखे लोगो, तुम भूखे हो न? आओ मैं तुम्हें स्वर्ग की राह बताता हूँ। वहाँ रोटी ही नहीं है, मन चाहा सब कुछ है।··· वह देखो···दीखा? उसके लिए, बोलो, कुछ करोगे? तो लाओ, मुझे वोट दो।···ओ प्रतिपक्षी, सुन, मेरी वोट भूखे की रोटी की वोट है, जब कि तेरा बेईमानी की।'···वह अवश्य चाहता है कि सब को रोटी मिले,

लेकिन उसके अपने हाथों से बँटकर मिले। अपनी जगह पर अपनी मेहनत से हर कोई अगर अपनी रोटी कमा लेगा तो इस तरह राजनीतिक शक्ति के एकत्र होने का अवसर कैसे आयेगा। वोट के रास्ते से पहले सबकी रोटी एकत्र करके अपने पास करली जाय; तब फिर उनको बराबर बराबर बाँटने का काम हम कर ही लेंगे। ऐसे पार्टी स्टेट के माध्यम से सब में एकता रहेगी और रोटी केन्द्र से बँटी होने के कारण समता भी सब जगह समतल रहेगी। रोटी अपने हाथ से दूसरे को दी जाय, इसका स्वाद एक अलग ही चीज है। सब को सहज भाव से रोटी मिलते जाने से वह स्वाद पूरा नहीं हो पाता, इसके लिए मोर्चा बनाना ज़रूरी होता है। जिसको कहते हैं राष्ट्रीयकरण, सरकारीकरण, वह बहुत कुछ यही मोर्चाबन्दी है। दस हजार मिल मजदूर एक मिल-मालिक से अपनी रोटी पाते हैं। पाँच लाख कलम के मजदूर क्लर्क एक सरकार से रोजी पाते हैं। लाखों-करोड़ों प्रजाजन शासनासन पर बैठे राजन्य जनों की कृपा से साँस लेते और पेट पालते हैं। इस अधिकार-भोग का सुभीता मोर्चा खड़ा किये बिना कैसे बन सकता है। इससे 'ऐ नागरिको! पार्टी अनुशासन में पाँत बनाकर बैठो। नम्बर आये तब अपना नाम बोलना और वोट देना। उसके बाद तुम्हारी तरफ़ से हम जायेंगे और सब रोटी जहाँ जमा हैं, वहाँ से लाकर बराबर बराबर तुम में बांट देंगे। जानते हो तुम क्यों भूखे हो? क्योंकि अव्वल तो एक रोटियों का ढेर नहीं है। कुछ अपने चौके चलाते हैं। रोटी, जो किसी की निजी सम्पत्ति है, वही तो मुसीबत है। तुम हमें मौका दो कि छीनकर पहले सबकी रोटियों का एक बड़ा ढेर लगा दें, फिर देखना कि हम सबको पूरी तरह पेट भर कर देते हैं कि नहीं। पर सावधान! हम ही हैं जो तुम्हारा पेट भरेंगे। उस अधिकार की जगह कहीं दूसरों को पहुँचने दिया तो गजब ही हो जायगा!'

यह रोटी का दूसरा मोरचा उसके हाथ नहीं है जिस के हाथ में पकी पकाई रोटी है। यह उनके पास है जिन के हाथ खाली हैं, इससे जिनके

पास रोटी के बड़े वायदे और नक्शे हैं। वायदे छोटे होने की वजह नहीं है, इससे मोर्चा भी बड़ा है। धन की कूत हो सकती है, आशाएँ अकूत हैं। इसलिये आशाओं पर भूख को और भूखों को पालने वालों का रोटी का यह मोर्चा सचमुच ही उपकारियों के मोरचे से बहुत जबर्दस्त और ताक़तवर होता है।

इन दोनों से बाहर तीसरे मोरचे की मुझे खबर नहीं है। तीसरे जन शायद वे हैं जिन्हें रोटी के लिये सहयोग और श्रम करना पड़ता है। तीसरे इसलिये कि कोलाहल में भूख और भूखों के नाम पर पेटभरों के जो दो पक्ष सामने आते हैं, मोर्चाबन्द तौर पर वे ही सामने दिखाई देते हैं। असल भूख और असल रोटी की उपज और माँग के लोग तो ओट में पड़कर तीसरे बनने को ही रह जाते हैं। वे मोर्चा नहीं रोटी चाहते हैं और अपने श्रम में से रोटी निकालने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है। वे शब्द के नहीं श्रम के लोग हैं, नेता जाति के नहीं जनता-बिरादरी के हैं।

अतः प्रश्न मोर्चे का नहीं है। प्रश्न यह है कि बिना मोर्चे सीधे सात्विक श्रम में से रोटी मिलना क्या संभव न बन सकेगा ?

निश्चय ही रोटी अगर मोर्चाबन्दी में से मिलनी है तो श्रम का शोषण कभी समाप्त न होगा। तब चालाक ही होंगे जो श्रमिक का पेट भरने वाले बनकर उनपर हुकूमत जमायेंगे। अगर शोषण को मिटना है तो जीवन में श्रम को अपना स्थान पाना होगा और मोरचावादियों को मोर्चे से छुटाकर असल काम में लगाना होगा।

राजनीति की लफ्फाजी गूंगे और अपढ़ मेहनती को कब तक भरमाती और बहकाती रहेगी ? क्या मोर्चा सुलगा कर उस पर अपनी हाँडी पकाने वालों के लिये ईंधन बनना ही जनता का काम रहे चला जायगा ?

समय है कि राजनीति का भूत हम पर से उतरे। सब दल सोचते हैं कि सत्ता आ भर जाय हमारे हाथ में एकबार, तो बस हम यह और वह

करके धरती पर स्वर्ग चुटकियों में ला विठायेंगे। ऐसे उटोपियों के पीछे चलाकर शब्दवादियों ने जगत में त्राहि-त्राहि मचा दी है।

बस यहीं संस्कृति की संगति है। राजनीतिक क्या शिकारी ही रहेगा? वह संस्कारी न बनेगा? अपनी वासनाओं को वह खुली छुट्टी ही देगा कि उन्हें लगाम भी देना वह जानेगा? सच यह है कि संस्कृति के सिवा यह किसी और का काम नहीं है कि होड़बाजों और स्पर्द्धावादियों के गिरोहों और मोर्चों के बीच वह उस निरीह मानव की प्रतिष्ठा करे जिस के पास स्नेह का हृदय और काम-काज के हाथ हैं। मानव-व्यक्तित्व और मानव-श्रम की प्रतिष्ठा यदि संस्कृति की ओर से ही नहीं आयेगी तो फिर किस ओर से उसकी आशा की जा सकती है? मतवादों और राष्ट्रवादों के दर्पोद्धत उन्मादों के बीच मानव को और मानव-जाति को भुनते मरते ही नहीं रहना है। इसलिये कहीं कोई और मोर्चा नहीं है, मानव व्यक्ति स्वयं ही वह मोर्चा है और रचनात्मक और सर्जनात्मक सब शक्तियों को वहाँ ही लगना है। शेष व्यर्थताओं पर कान न देकर एक मानव पर टेक रखने वाली श्रद्धा का नाम संस्कृति है। उसके सिवा संस्कृति भी और कहीं नहीं है। और कहीं यदि उसकी दुहाई है तो मान लीजिये कि वह उस ओढ़न में इस या उस तरह की दलबन्दी ही है।

मूल में इस सांस्कृतिक आधार के बिना रोटी के मोर्चे सिर्फ़ ताक़त हथियाने और अस्त्र-शस्त्र बढ़ाने का साधन होंगे। तब सिर्फ़ दो कौमें होती जायेंगी; एक जो खायेगी और हुकूमत करेगी, दूसरी जो उपजायेगी और भूखी रहेगी। सरकारों के बजट का असल भाग फौज और युद्ध और बचाव के लिये होगा और बनाना नहीं बिगाड़ना बड़ा काम होगा। वह रंक होगा जो बनाता उपजाता है, राजा वह होगा जो बिगाड़ता और लुटाता है। संस्कृति की सावधानी के अभाव में शिकारी हमें आदर्श होगा और श्रमिक हमारे लिये नगण्य। मोर्चे की बातें जाने-अनजाने वहीं दिन लायेंगी। संस्कृति की तत्परता शायद उसे बचा सके।

★

: ५ :

शान्ति : युद्ध

: १ :

शान्ति और युद्ध

दुनिया एक युद्ध से मुश्किल से पार हुई है कि दूसरा उसके सिर पर आ मँडराया है। इससे दुनिया की आज की समस्या है शान्ति। जगह-जगह शान्ति के लिए सभाएँ हो रही हैं। उन लोगों की तरफ से जो सोचते हैं, और उनकी तरफ से भी जो करते हैं। ऐसा मालूम होता है कि सभी चाहते शान्ति हैं; पर पाते हैं कि जाने-अनजाने, अपने से या अपने बावजूद, वे युद्ध में बढ़े चले जा रहे हैं।

निश्चय ही कोई युद्ध नहीं चाहता। युद्ध होगा, तो शस्त्रास्त्र की तैयारी में लगे पक्ष उसकी जिम्मेदारी सदा दूसरे पर डालेंगे। लड़ने वाले दोनों दल अपने-अपने को शान्ति वाला बतायेंगे। और उन्हें झूठ भी नहीं मानना होगा। कारण, लड़ाई सचमुच उन्होंने चाही नहीं है, सिर्फ बनाई है। इस बात को समझ सकें तो समस्या पकड़में आ जाय। जो लड़ते हैं, वे लड़ना (शुरू करना) नहीं चाहते। लेकिन उनमें हर एक मानता है कि दूसरा हमला करे तो जवाब में लड़ने के सिवाय उपाय नहीं रहता। मरना जब धर्म नहीं है, तो धर्म जीना है। इससे जीने पर जब आ बनती हो, तब जान बचा लेना ही धर्म ठहरा। इस तरह सुरक्षा में शत्रु को मारना या अपनी तरफ से उसको जान का खतरा पैदा कर देना भी आवश्यक धर्म बन आता है। हम देखें कि लड़ाई यों जीने की अनिवार्य शर्त्त के रूप में हमारे बीच आ जाती है।

जंगल में प्राणी का जीवन कैसे चलता है? वहाँ हरएक स्वतन्त्र है कि जिसको बने मारे-खाये और जैसे हो अपने को मारे और खाये जाने से

बचाये। इस प्रकार की निर्बाध स्वतन्त्रता का नाम है जंगली जीवन। आदमी उसी में से आया है। शायद आज भी उसमें ही रहता है, लेकिन अपने रहने के ढंग को सभ्य कहता है। जानवर को जंगली और अपने को सामाजिक बताता है। लेकिन अगर जीने का तरीका उसका यही है कि जो हो हथियाये और जैसे बने अपने को बचाये, तो उसको जानवर से कुछ दूसरा कैसे कहना होगा?

वन्य पशुओं की लड़ाई जिन्होंने देखी है, बताते हैं, कि अद्‌भुत होती है। कमाल की पैंतरेबाज़ी वहाँ देख लीजिए। इधर शेर के पास नहँदार पंजे हैं, तो सूअर के पास तीखे दाँत। इस तरह अलग-अलग खूबियों के हथियारों से मुकाबले में वह चोटें चलती हैं कि सौन्दर्य का विलक्षण चमत्कार उपस्थित होता है। बड़े लोगों के बैठकखानों में इसीसे विलास की नहीं, तो अधिकांश वैसी ही तस्वीरें आपको मिलेंगी। इस तरह युद्ध प्राणियों का सबसे प्रिय खेल रहा है। उसके दबाव के तले कला-कौशल और ज्ञान-विज्ञान वेग से खिल उभरे हैं। जीवन मानो उस समय रस से आ भरता है। नसें फरफरा उठती हैं और मन उमंग की पैंगें ले उछलता है। ज़िन्दगी सूखी नहीं रह जाती, जैसे सार से भर आती है। मारने के उछाह में आदमी अपनी जान हथेली पर ले खुद मौत में बढ़ चलता है। प्राण लेने की कोशिश में प्राण पर खेल जाना उसे असल जीना लगता है।

युद्ध से यह सब होता है। इससे युद्ध को छोड़ना सहसा उसके वश की बात नहीं है। इतना उत्कृष्ट रस वह दूसरी किस चीज़ से पा सकता है? इसलिए जान पड़ता है कि हम थोड़े-बहुत जो शांतिकाल में रहते हैं, सो इस ढंग से कि उसके फल में युद्ध जल्दी अनिवार्य हो आये। युद्ध मानो घटना नहीं है, वह हेतु है। हमारी जीवन-विधि का वह फलित फल है, मानो वह हमारी सिद्धि है। इसलिए शान्ति के सवाल को इस रूपमें देखना ठीक न होगा कि युद्ध से कैसे बचा जाय। युद्ध द्वारा आखिर कुछ तो हम चाहते हैं। उस आशा को एकदम शून्य नहीं किया जा सकता। केवल अभाव तो

टिकता नहीं। इससे अभावात्मक होकर शान्ति कभी आने वाली नहीं है। वैसी तो कब्र की शान्ति है। उसके लिए चैतन्य को खोकर जड़ बनना धर्म हो जायगा। वह निष्क्रियता चाहती दीखेगी। वह शान्ति मानो माँगेगी कि हम अपने को ह्रस्व करें, नाना निषेधों से प्राण-प्रवाह को जकड़ बाँधें। वह निरन्तरता की जगह स्थिरता चाहेगी और गति-मात्र, कर्म-मात्र, उसके लिए भीति के कारण होंगे।

आदि-काल से शान्ति के साधक सन्त हमको मिलते आये हैं। हमसे मतलब विश्व के सभी देशों को। अपने भारत को लें, तो वह बात और भी सच है। लेकिन उन महात्माओं ने अपनी जो शान्ति और मुक्ति साधी, तो क्या वह असल इष्ट वस्तु थी? क्या समाज में व्याप्त युद्ध के प्रति उसमें हठात् विमुखता न थी? या समाज-मान्य युद्ध-नेता का सहारा भी न था? युद्ध-जेता राजन्यों के प्रश्रय में रहकर क्या उन्होंने अपनी शांति को युद्ध का एक तरह प्रार्थी और शरणार्थी ही नहीं प्रमाणित किया? किन्तु अपने भारत में हम देखते हैं कि ऋषि-मुनियों और सन्त-तपस्वियों की लम्बी परम्परा को प्रेरणा देनेवाले महापुरुष हुए राम और कृष्ण, जिन्होंने युद्ध लिया ही नहीं, युद्ध किया। किया और जय साधी। राम और कृष्ण क्या राजा और योद्धा नहीं थे? और पश्चिमके मसीह ईसा को क्या इसलिए सूली देना जरूरी हुआ होगा कि वे नितान्त एवं एकान्त शान्ति-साधना में रहे? फाँसी निश्चय ही उसको लगेगी, जो चुप और निष्क्रिय न होगा, वरन् प्रबल और पराक्रमी होगा। योद्धा उसे होना ही चाहिए। मुहम्मद साहब, जिनका धर्म ही शान्ति कहलाया, क्या लड़ाइयों के लड़ने से तनिक आराम पा सके? इसलिए शान्ति की बात सोचने योग्य है, तो इस कारण नहीं कि युद्ध से बचना है। बचानेवाली शान्ति तात्कालिक रूप से कायर की और अन्तिम रूप से शव की है। वह विचार की वस्तु ही नहीं। घर-गिरस्ती बाँध-कर बैठनेवाला हर आदमी वैसी सुख-शान्ति की सेज अपने यहाँ सजाता और वहाँ भोग को प्रतिष्ठित करता है। इस शान्ति-भोग और उसकी

सुरक्षा के लिए जाने फिर क्या-कुछ नहीं हो सकता। मोटे पत्थर के किले की
लंबी-चौड़ी प्राचीरें क्या इसीलिए नहीं उठायी जातीं कि अन्दर महलों की
शान्ति अक्षुण्ण रहे? युद्ध इसी सुख-शान्ति में से होते हैं।

हम सब उस अपनी सुख-शान्ति को पक्की दीवारों से और पक्के हिसाब से
घेरकर ऐसा सुरक्षित बना लेना चाहते हैं कि कोई उस पर न झपट सके, न
कोई साझे को आ सके। इसीका करिश्मा है कि सब कहीं हाय-हाय और
नोंच-खसोट मची हुई है। यही चाह समहों के नाम पर संगठित होकर खुल
खेलती है, तो युद्ध का रंग भर लाती है। अपनी छोटी-मोटी शान्तियों की
चिन्ता और रक्षा ही वह बारूद है, जो इकट्ठी होकर और चिंगारी पाकर
आसमान को अपने स्फोट से रंगारंग और लाल कर उठती है। तब खूब-
सूरतियाँ खिलती हैं कि जिनको लेकर इतिहास के वर्क जगमग हो रहते हैं।
यानी युद्ध से विमुख होकर अपनाई जानेवाली शान्ति खुद उस युद्ध के
लिए ईंधन है। हम नहीं लड़ते, यह कहने से लड़ाई कम नहीं होती, सिर्फ
हम कम होते हैं, और हमारी लड़ाई का बोझ दूसरे कन्धों पर जाकर स्थायी
और पक्का ही बनता है। ऐसे तनखादार सिपाही पैदा होता है जिसका
पेशा लड़ना बनता है। और युद्ध सबसे ऐश्वर्यशाली उद्योग और व्यव-
साय बनता है। फिर आधुनिक सेनापति कभी लड़ते सुना गया है? वह
उल्टे शान्त रहता है, जबकि सिपाही उसी की लड़ाई लड़ाते हैं। बल्कि
और पीछे जाइए, तो घर में बैठा या सभा में बोलता युद्ध-सचिव और भी
ब-आराम और शान्त है। इसका मतलब है कि लड़ाई उसकी रचना
है, इसीसे उसका लड़ना दूसरों पर है। पेशेवर सिपाही क्यों लड़ते हैं? क्यों
कि एवज़ में मिलने वाले वेतन-भत्ते से अपने चौथेपन में वे कुछ घर-बारी
सुख-शान्ति अपने लिए जुटा पाने की आशा रखते हैं। हम सबकी अपनी
अपनी शान्तियों की चिन्ता ही युद्ध की सामग्री और अवसर बनती है।

इसलिए प्रश्न पर ऐसे विचार करना बेकार हो जाता है जैसे युद्ध का
अभाव शान्ति हो या दोनों परस्पर विरोधी हों। ऐसे एकान्ती और सिद्धान्ती

विचार से दुनिया युद्ध के लिए खुला खेत हो रहती है, जिससे सिर्फ शान्तिवादी किनारा खींचने की अपने लिए छुट्टी पा जाते हैं। लेकिन ये दोनों सूरतें सही जिन्दगी की नहीं हैं। शान्ति यदि इष्ट है, तो सबकी और सबके बीच होकर इष्ट है। अन्यथा वह छलना है। इससे प्रश्न यह होता है कि हम जो मारकाट के जरिये पाना और बचाना सोचते हैं, क्या उस पाने और बचाने की पद्धति कुछ दूसरी भी हो सकती है ? क्या अहिंसा का उपाय भी कुछ हो सकता है ? हर वस्तुस्थितिमें किंचित् अन्याय और असत्य गर्भित है। उसीके निराकरण के अर्थ जीवन है और जीवन में गति-बोध है। काल, जिसका लक्षण परिणमन है, नहीं तो फिर होता ही क्यों ? उस गर्भित असत्य और अन्याय पर रुककर, उसे यथावत् अपने में स्वीकार करके, तो जीवनका और कालका प्रवाह सार्थक हो नहीं सकता। उस अन्याय और असत्यको इसलिए उभारते और उखाड़ते ही चलना होता है। इसीसे है कि चैतन्य का प्रतीकपुरुष विद्रोही दीखता और शहीद बनता है, दूसरा कुछ हो नहीं सकता। उसके द्वारा परिस्थिति पर जो चैतन्य अवतरित होता है, वह स्थिति में जड़ जमाये स्वार्थों को विचलित और क्षुब्ध कर उठता है। विकास इस तरह स्थिति और गति के परस्पर प्रतिघात और प्रत्यावर्त्तन द्वारा ही सम्पन्न होता है। साफ ही युद्ध इसमें एक अनिवार्य प्रक्रिया है। वर्त्तमान यदि अतीत की पीठ ही है, तो भविष्य को उसपर आघातके रूपमें ही पड़ना होगा। अन्यथा वर्त्तमान भविष्य का आवाहन भी हो सकता है। वर्त्तमान पर बन्धन और अवरोध बननेवाले अतीत से जड़ित तत्व भविष्य के अवतरण को आघात मानकर उसे प्रत्याघात पूर्वक ही लेनेको लाचार होंगे। यों संघर्ष में से प्रगति सधेगी। द्वैत में से ही अद्वैत यात्रा को बढ़ते चलना होगा।

शब्द अद्वैत ऊपर आ गया है। यह शब्द श्रद्धा का है। इसलिए भाषा में उसे कम आना चाहिए। लेकिन संहारमें ही अगर जीवन के अर्थ और इति को नहीं देख लेना है, यदि उसमें से आगे किसी अर्थ अथवा इष्ट की

निष्पत्ति पाना है, तो श्रद्धा को उतना असंगत नहीं मान लेना होगा। और शान्ति का प्रश्न श्रद्धा का प्रश्न है, वह ऐक्य की निष्ठा का प्रश्न है। जो अपने लिए निज की शान्ति रच बैठना चाहता है, वह काल के प्रवाह में अड़चन बनता है। वह मरने से बचना और आराम से जीना चाहता है। इन सब कारणों से वह महाकाल का आखेट बनता है। डरते-रोते उसे जीना और वैसे ही मरना होता है। ऐसा ही व्यक्ति है, जो अपने चारों ओर पदार्थ जोड़ता और उसकी ओट में मानो गतिसे और नियति से बचने की युक्ति में चतुर स्वार्थ की स्थापना करता है। काल-गति ढाहती-धड़धड़ाती हुई उसकी छाती पर से जब चलती है, तो उसे लगता है, जैसे शान्ति का और धर्म का अपलाप हो रहा है। पर वह अप्रतीति है। कारण, शान्ति का धर्म हिंसा के अधर्म से मोर्चा लेता हुआ ही चलने को बाध्य है। उससे किनारा काट चलनेवाली शान्ति क्योंकि प्रवंचना है, इससे यज्ञारम्भ में सबसे पहले वही स्वाहा होती है।

शायद ऊपर ख़तरनाक भाषा आ गई। पर खतरे से बचकर सत्य की तरफ चलना कैसे होगा? 'शान्ति के लिए' नहीं, 'शान्ति के द्वारा' हमें जीना है। साध्य को साधन में गर्भित और तत्सम रहना होगा। फिर उस संकल्प का आदमी सुरक्षा कभी खोजेगा ही नहीं। उसे मृत्युसे बचना नहीं है। उसे किसीसे, कुछसे, बचना नहीं है। उसे सबसे तदाकार होना है। उसे सर्वात्मय से तादात्म्य पाना है। इसलिए जहाँ युद्ध है, वहाँ भी वह है, यद्यपि अहिंसक होकर है। युद्धसे अलग होनेवाली शान्ति हिंसाके लिए जबकि ईंधन है, तब युद्ध के समक्ष रहनेवाली अहिंसक कर्मपरायण शान्ति उस हिंसाके लिए भयावह ललकार है। ऐसी शान्ति से बचने का प्रश्न स्वयं युद्ध के लिए उपस्थित होता है, युद्ध से बचने का प्रश्न उस शान्ति के लिए नहीं उठता। यही नहीं, बल्कि शान्ति का तो सतत प्रश्न है कि युद्ध कहाँ है, कि जहाँ हो वहीं वह पहुँचे और कहे—'भाई, तुम जानते हो, तुम्हारी वीरता सिर्फ कायरता है। तुम्हारे शस्त्रास्त्र का भय मुझे कैसे हो

सकता है? बल्कि उस कारण तुम पर दया होती है! तुम पर संहार सवार है, तो लो, यह मैं हूँ। मुझ पर प्रहार कर शायद तुम पहचानो कि मैं दुश्मन नहीं हूँ, बल्कि वह हूँ, जिसके लिए तुम भटक रहे हो।' ऐसी जो शान्ति है, वह संसार के सर्वश्रेष्ठ योद्धा से अलग कहीं रह नहीं सकती। वह योजना की वस्तु नहीं, साधनाकी वस्तु है। इसीसे आज की शान्ति-योजनाएं युद्ध-योजकों की नक्शेबन्दी का भाग बनी देखी जाती हैं। योजना में शान्ति नहीं है, जैसे कि फार्मूला में आग नहीं है। सूरज होकर ही कोई धूप दे सकता है और शान्त होकर ही कोई शान्ति बढ़ा सकता है। अर्थात् जमाव-जुटावसे, संख्या-गणनासे, तंत्र से और यंत्र से उसका सम्बन्ध नहीं है। उसका सम्बन्ध आत्मासे और आत्म-संस्कार से है।

ऊपर तत्त्वकी बात आ गई। उसे ही व्यवहारमें उतारकर देख लेना है। उदाहरण के लिए हालका विश्व-युद्ध लें। सब जानते हैं, उससे पहले की वर्साई की सन्धि के नीचे शुद्ध न्याय नहीं था, शक्ति-न्याय था। शुद्ध न्याय प्रेम का नियम पालता है। प्रेम का नियम है कि असमर्थ को वस्तु-जगत की अधिक सुविधा चाहिए। समर्थ छोड़ सकता है, इसलिए शक्तिमान अशक्त को अधिक देगा और स्वयं कम लेने को तैयार होगा। अंत में तो उसे निरीह निपट हो रहना है। यह है सिद्धान्त प्रेम का, धर्म का, यज्ञ का, क्रास का। पर वर्साई-सन्धि ने पराजित जर्मनी के अंग-भंग को न्याय माना, अपमान को उसका पुरस्कार बनाया। जर्मनी क्या उस राष्ट्रीय अहं-भावना का ही नाम न था, जो अमुक प्रदेश और अमुक-संख्यक लोगों को परस्पर मिलाए और उठाये रखे हुए थी? उसको कृतार्थता की ओर न ले जाकर दूसरे विशिष्ट राष्ट्रीय अहंकारों के जुटाव के ज़ोर से तोड़ने और तिरस्कृत करनेकी कोशिश क्या मानवीय न्याय हो सकती थी? तो उसका परिणाम ही न्याय कैसे आता! कुछ ही वर्षों में हिटलर में मूर्त्त होकर क्या वह राष्ट्र-चेतना, उद्‌बुद्ध और उद्धत, यूरोप के लिए चुनौती नहीं बन उठी? वर्साई वह समय था कि जब हम राष्ट्रीय अस्मिताओं का विष हर सकते और राष्ट्र-

भावना को संस्कार दे सकते थे। पर अहंकार ने अहंकार को चोट दी, तो परिणाम में उत्क्रुद्ध अहंकार को जन्म लेना ही था। तिरस्कार में से अहंकार छोड़ और क्या फलने वाला है?

वर्साई का उदाहरण फिर दोहराया जा रहा है। एक बार फिर शस्त्रों की बहुलता और प्रबलता के हाथ जय आई है। जय में से न्याय-निर्णय का अधिकार आया है। जय शस्त्र की है, तो निश्चय न्याय को भी शस्त्र में ही होना होगा। हम देख चुके हैं, और आगेके लिए भी ध्यान रखें, कि शक्ति का न्याय वह नहीं है जो समाधान ला सकेगा। वह दानवी न्याय है, यानी वह अन्याय का बीज बोकर अगली पीढ़ीके नाम युद्ध की फसल काटने का काम दे जाता है। ठीक है, युद्ध को तो होना होगा। अन्याय मानवताकी आत्मामें बिना धड़के बैठ नहीं सकता। उस विकार को फटना और मिटना होगा। युद्ध विकार का विस्फोट है। पर विकार पके और फूटे, तो फिर अपने बीज मनुष्यता के अंतरंग में और गहरे डाल जाय—क्या चिरकाल तक यही होता रहेगा? क्या संस्कार आगे आकर विकार से मोर्चा न लेगा? क्या हिंसाओंमें ही युद्ध होगा? क्या एक भी पक्ष कभी मारने से इन्कार करके मरने की प्रतिज्ञा लेकर आगे न बढ़ेगा कि युद्ध की ही अन्त्येष्टि हो?

एक आदमी हमारे बीच होकर गया है। महात्मा नहीं कहता, अवतार नहीं कहता, मैं उसे आदमी कहता हूँ। वह आदमी के सिवा और उससे ज़्यादे कुछ न था। उसने प्रकृति से बदला नहीं निकाला कि मुझे नुकीली दाढ़, नाखून और पंजे क्यों नहीं दिये? शरीर का वैसा बल क्यों नहीं दिया? नहीं, उसने अपने इन्सान होने को विनम्र और कृतज्ञ भाव से स्वीकार किया। सींगों, पंजों और दाढ़ों की जगह काम देनेको उसने तरह-तरह के हथियार गढ़ने में पुरुषार्थ नहीं माना। उसने जानवर से बराबरी नहीं ठानी। उसने माना कि जानवरसे कम हूँ, इसीसे मैं इन्सान हूँ। इस कमी में ही मेरी भलाई है। इन्सान में जिस्म कम है कि जिससे दिल ज़्यादे हो।

सके। और दिमाग़ भी उसे ज्यादे है। उस ज़्यादा दिमाग़ से क्या वह जानवर से जिस्म की ताकत में कम नहीं, ज़्यादा होना चाहता है? अरे, यह खुद जानवरपन है, जो दिमाग को उस काम में लगाता है। यह जो इन्सान को दिल मिला है, दिमाग़ क्या उस नेमत को नहीं समझेगा, नहीं सँवारेगा? इस तरह उस आदमीने अपने दिमाग को, उसकी रत्ती-रत्ती शक्ति को, अपने या दूसरे की दरिंदगी को नहीं, इन्सानियतको बढ़ाने में लगाया।

वह आदमी अब उठ गया है। जीया तब कभी पल-भर वह शान्ति से न रह पाया। कौन आफत थी जो उसके सिर न टूटी। एक हंगामा चारों तरफ रहा और उसके बीच वह चला किया। बड़े-बड़े उसने मोर्चे लिये और लड़ाइयाँ लड़ीं। आराम की एक सांस, उसके भाग न आयी। कर्म-लेख ही उसका ऐसा रहा। क्या-कुछ उसके पास न पहुँचा? सब विभूति, जो दुनिया चाहती है, उसके इर्द-गिर्द घूमती रही। पर उसने एक कनपर भी हाथ नहीं डाला, मुट्ठी नहीं बाँधी। कुछ अपने तईं वह न ले सका। चार हाथ कपड़े से आगे उसे यहाँ जरूरत न हुई। खाने को साग-पात और रहने को बाँस-फूँसकी झोंपड़ी उसे नेमत बनी। यह आदमी शान्ति के एकान्त में नहीं गया। युद्ध के घमासान की तरफ ही उसके क़दम रहे। या कहो, जहाँ पहुँचा, वहाँ उसके साथ आँधी पहुँची। देहात आया, तो वहाँ भी राजों और राजधानियों की राजनीति झपट लपकी। लेकिन जैसे राज के और युद्धके जोड़-तोड़ और दाँव-पेंच उसके पास विनती करते आये और उसने उन्हें पुचकार कर लिया। शान्तिको उसने कहीं भी बाहर नहीं खोजा। सुबह-शामकी प्रार्थना के सहारे वह उसे अपने अन्दर सँजोए रहा। फिर युद्ध उसका कर्म था, क्योंकि शांति उसका धर्म था। इस धर्म-युद्ध में मुसकराहट उसकी ललकार बनी और प्रेम उसका अस्त्र। शत्रु इसमें मित्र हुआ और सगा उसे शत्रु।

यह आदमी निपट आदमी के ढंग से अभी हाल हमारे बीच जी गया

है। एकदम आदमीका था, इससे वह ढंग हमें समझ नहीं आया। बहुत अनोखा वह हमें लगा और कभी तो अचरज हुआ कि यह देवदूत तो नहीं है। लेकिन कुछको दानव भी उसमें दीख आया। शायद अपने हिले स्वार्थ के क्षोभ में से उन्होंने उसे देखा हो। वह, जो हो, अपने सीनेपर हमारी गोली खाकर हमें हाथ जोड़ता, मानो हमसे क्षमा माँगता, अपनी विदा ले गया है। अब वह आँख से ओझल है और उसके भारत में स्वराज है। स्वराज में उस आदमी के ही कुछ साथी सरकार बनाकर बैठे हैं। वे उसीकी राह चलना चाहते हैं। उसकी वह चली-चलाई राह तो बिछी दीखती है, पर आगे उसे बताने के लिए वह खुद पास नहीं है। ऐसे वे साथी बड़ी उलझन में हैं। तरह-तरहके दुश्मनों से घिरकर वे फौजें बढ़ा रहे हैं, पकड़-धकड़ कर रहे हैं, कारखाने बिठा रहे हैं और इस तरह हिन्दुस्तान को सुरक्षित, लैस और मालामाल बनानेकी कोशिश में लगे हुए हैं। वह आदमी उघाड़े बदन, पाँव-पाँव चलता था। अपनी श्रद्धा में उसे जल्दी न थी। लेकिन जमाना जाने कैसा है? इसलिए उससे सीखे साथियों को हवाकी गति से और विद्युत् के वेगसे चलना हो रहा है। कारण, पश्चिम आगे है और पूर्व को पश्चिम के बराबर होना है!

और इधर पश्चिमी गोलार्द्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ की बैठकें चलती हैं, जो सरगर्म होती हैं। वाद-प्रतिवाद ही नही, शस्त्रास्त्र का उत्पादन भी तत्परता से हो रहा है। जर्मनी, जिसने सिर उठाया था, बिछा पड़ा है और मालूम होता है कि मित्र लोगों में, शत्रु के खतम होते ही, आपसी मित्रताकी जरूरत भी खत्म हो गई है। बल्कि बीच से शत्रुता उठकर दोनों मित्रों को अपनी तरफ ललचा रही है। शत्रु मिटा, पर उसके कारण जैसे और नवेली बनी शत्रुता अँगड़ाई लेकर दोनों को मोह रही है।

ऐसे में वह आदमी याद आता है, जो इस पूर्णता और अकिंचनता से जीया कि हमारे शब्दोंकी दुई उसकी सचाई घेर नहीं पाती। वह सौ-फी-सदी युद्ध का आदमी था, जैसे कि सौ-ही-फी-सदी वह शान्ति का आदमी

था। सच यह कि वह सौ-फी-सदी आदमी था। इसलिए इस या उसमें कम-अधिक बँटकर वह नहीं हो सकता था। जिसका था, पूरा-का-पूरा था, और अचरज कि वह सबका था। अनेकता यहाँ वस्तुओं, विधानों और विवादों की है। धारणाएँ और कामनाएँ अनेक हैं; पर वह अखंड एक था—इससे निर्धारण और निष्काम था। लौकिक विविधताओं में एक-सा व्याप्त या विमुक्त था। शायद वह केवल चिन्मय था। ऐसे को दल-मत आपस में कैसे बाँटकर बैठें? लेकिन भला है कि अब बाहर वह कहीं नहीं है और हम लाचार हैं कि उसे अपने भीतर से ही पायें। वहाँ के सिवा उसे कहीं देखा, रखा और पाया नहीं जा सकता। ग्रंथों में नहीं, म्यूज़ियमनें नहीं, समाजों-संघोंमें नहीं। शायद अपने अंतर में ही उसे जगा कर हम आसन्न युद्ध को अवसन्न और शान्त करने की राह बूझ और बना-बता सकते हैं।

: २ :

युद्ध की जगह शांति का उद्योग

हाल का वह शाँति-सम्मेलन, जिसकी पहली बैठक शाँतिनिकेतन में और दूसरी सेवाग्राम में हुई, गांधी जी के अभाव में उनके सिर्फ सिद्धांत और सहयोगियों को बीच में लेकर शांति पर चर्चा-विचार कर सका। बाहर से उसमें शामिल होनेवालों में चौतीस देशों के तिरेसठ ऐसे लोग थे जिनकी निष्ठा उस तरह के काम में परखी हुई बताई जाती है। सम्मिलित सभी की अहिंसा में आस्था थी।

उसके आसपास के दिनों में दूसरी तरह की भी शाँति-परिषदें हुईं। उनमें शायद संख्या के बल पर भी ध्यान था और उनका रूप-रंग भी दूसरा था। मालूम हुआ कि उनमें शामिल होने के लिए बहुतेरों को उन देशों की सरकारों ने सुविधा नहीं होने दी। अनुमानतः वे परिषदें अराजनीतिक न होंगी।

शाँति का सवाल इस तरह सभी के मन को मथ रहा है। कुछ उसको लेकर दौड़-धूप और संगठन में लगे हैं, दूसरे आत्मनिरीक्षण और विश्लेषण में। पर शांति के इन सब प्रयत्नों के साथ सर्वसामान्य में एक शंका बनी ही रहती है। वह यह कि या तो उनके पीछे दायाँ पक्ष है, जिसमें रूस और उसके प्रभाव के देशों का योग नहीं है; या सिर्फ बायाँ है, जिसमें अमरीका और ब्रिटेन नहीं है।

यह दुर्भाग्य हो, पर तथ्य है। मानव जाति एक है और दुनिया एक है, यह सबको मान्य होने पर भी सच यह है कि मानव की वह

जाति और उसका वह जगत् राष्ट्र नाम की इकाइयों में और तद्‌गत् राष्ट्र-वादों में बटा-कटा चल रहा है। मानव चेतना के पास दूसरी कोई निष्ठा नहीं है, जो इस राष्ट्र-राग को अंकुश में रखे। यों दो मतवाद हैं, साम्यवाद और लोकतन्त्रवाद। पर ये भी राष्ट्र-एकांत (नेशनल सॉवरेंटी) को मान और उभार कर चलते हैं, उससे समर्थ और उत्तीर्ण वे नहीं हैं।

शांति के लिए यही सबसे बड़ी और जड़ की बाधा है।

गांधीजी में दुनिया को तो भी ढाढ़स था। वह एक समूचे राष्ट्र के नेता थे, पर उस राष्ट्र से सीमित न थे। यानी आज जबकि दुनिया इतनी छोटी बन गयी है कि अन्तर्राष्ट्रीय होकर ही हमारा काम-काज चल सकता है तब किसी भी पूरे राष्ट्र का बल जिसकी कृति में नहीं है, ऐसा व्यक्ति, या ऐसी नीति, क्या शांति या क्या युद्ध, किसी में कुछ कर-धर नहीं सकते। गांधीजी इसीसे भारत-राष्ट्र को लाँघकर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में नहीं उतरे। वह जानते थे कि काम-काज के क्षेत्र में केवल तत्त्व-विचार की ओर से किसी नई नीति का प्रयोग आरम्भ नहीं होनेवाला है। इसलिए वह तत्त्वदर्शन या विचार-विवेचन का प्रश्न नहीं है। प्रश्न अधिक घनिष्ट और समग्र है; वह अन्तर्राष्ट्रीय है। इसलिए उसके घटक किसी एक राष्ट्र को आत्म-प्रयोग से आरम्भ करना और उस नीति का प्रवर्त्तक बनना होगा। उनकी श्रद्धा थी कि वह भाग भारत का है। सर्वांश में अखंड सत्य के होने पर भी (बल्कि, ही) मानो पूरी तरह वह खंड-राष्ट्र के बनकर रहे। जब भी अवसर आया, उन्होंने यही कहा कि भारत द्वारा ही उनका काम सब दुनियां को पहुँच जानेवाला है। यही दृष्टि थी जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस, और उसके बाद राष्ट्रीय सरकार, से भेद रखकर भी उन्होंने अपना अभेद बनाये रक्खा।

शांति कौन नहीं चाहता है? जो युद्ध ठानते हैं, वे स्वयं कब शांति नहीं चाहते? बल्कि वे तो प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं कि राष्ट्र-नायक होने के नाते उन पर शांति-रक्षा का दायित्व अधिक है। उस दायित्व-पूर्ति में ही

उन्हें युद्ध स्वीकारना और ठानना पड़ता है। जहाँ तक उनकी इस मान्यता की बात है, उन्हें गलत नहीं ठहराया जा सकता।

इसलिए शांतिवादी को यह चुनौती है कि वह शांति की नीति को कहीं किसी इकाई पर, किसी मानव-समुदाय पर लागू करके बतावे। शांति से युद्ध को हराना है तो किसी देश की समूची नीति को, विदेश-नीति को भी, शांतिवाद पर ढालकर और चलाकर दिखाये। ऐसा नहीं होता तबतक लोग क्यों न कहें कि शांतिवादी स्वप्नवादी हैं, आदर्शवादी हैं। व्यवहार-जगत् के नहीं, वे तो विचार-विहारी अल्पसन्तोषी लोग हैं। उनके कन्धों पर जिम्मेदारी जो नहीं है, इसलिए वे कल्पना में और आदर्श में ऊँचे ठहर सकते हैं। पर बोझवाला अपनी जानता है और चलना-चलाना उसका काम है।

इस पद्धति से शान्ति की बात शून्य हो जाती है। वह अनसुनी कर दी जाती है और लड़ाई की तैयारियाँ ज्यों-की-त्यों अनिवार्य बनी रहकर लोक-मानस को घेरती चली जाती हैं।

यह सवाल नहीं, चुनौती है। इसका उत्तर स्वयं उत्तर बनकर ही दिया जा सकता है। चुनौती शांतिवादी के लिए न भी हो, अहिंसावादी के लिए है। क्योंकि शांति वादी शाँत रहकर जी जाय और मर जाय, इतने में शायद साथक हो सकता हो। लेकिन अहिंसा की सार्थकता कोरी शांति में नहीं है। बाहर जग की हिंसा से जिसकी आत्मा भीतर चोट न खाय, वह अहिंसक कैसा? अतः प्रतीकार अहिंसक का धर्म है। अपने पर अनात्मको न सहना आत्म का धर्म है। गांधी की शांति और गांधी की अहिंसा की यही विलक्षणता है। अर्थात् हिंसा और अशांति सदा गांधी को अपनी ओर खींचती रही है; क्योंकि अहिंसा बन्द होकर न बैठ सकती है, न बैठा रहने दे सकती है। कारुण्य क्या कहीं समाया रह सका है? उसे तो बाहर सब कहीं पहुँचे और रमे बिना चैन ही नहीं है।

अहिंसा की चर्चा तो बहुत है। निश्चय उसमें अहिंसा की हानि है।

तर्क के तार फैलाकर अहिंसा को उसमें ऐसे उलझा दिया जा सकता है कि वह निष्प्राण हो जाय। जो स्वयं शक्ति है वह इस तरह जड़ बना दी जा सकती है। पर उन सब के लिए जो या तो पुरातन परम्परा की श्रद्धा में अपने को जैन और वैष्णव कहकर अहिंसावादी गिनते हैं, या आधुनिक गांधी-अनुगामी होकर अहिंसा-धर्मी बन गये हैं, सवाल है कि और सब कहीं हथियारों की तैयारी देखते हुए और सभी को द्वेष और दुश्मनी की राह पर कटिबद्ध जानते हुए भी क्या वे अपने इस भारत देश को, एक अकेले, अहिंसा की नीति पर चलने को कह सकते या चलाकर दिखा सकते हैं? अगर नहीं तो क्यों न कहा जाय कि अहिंसा व्यक्ति-धर्म ही है, जगत्-धर्म होने की उसमें क्षमता नहीं है।

मेरा मानना है कि शांति की सीमा यहीं आती है और शांति पर आरोप भी इसी जगह आता है। भारत के भीतर शाँति सबकी समझ में आ जायेगी; पर वहाँ सीमा पर कि जहाँ से विदेश शुरू हो जाता है, और शायद जहाँ से दुश्मनी शुरू हो जाती है, वहाँ पर भी क्या शाँति का ही धर्म लागू होगा? वहाँ यदि शांति का धर्म नहीं चल सकता तो निश्चय रखना होगा कि अन्दर-अन्दर की शान्ति केवल बाहर की लड़ाई की सहायक ही बन रहने वाली है।

युद्ध यदि तत्त्व-चर्चा का विषय नहीं है तो शान्ति को भी उसी तरह का विषय बनकर नहीं रहना है। दोनों उससे अधिक दुर्द्धर्ष हैं। युद्ध एक महान् उद्योग है! संसारव्यापी उद्योग एक वही है। जाने-अनजाने हम उसके यंत्र और अवयव बने हुए हैं। युद्ध किसी खास हिस्से में किसी खास अरसे तक चिनगारियाँ देकर फूटता दीखता है तो उसको हम वहीं तक सीमित न मान बैठें। जो चीज लहू के लाल रंगों में वहाँ फूटती दीखती हैं, उसको तिल-तिलकर बनाते और जमा करते तो हम कहे-जाने-वाले शांति-के-काल में है।

शान्ति कैसे हो सकती है, जबतक कि युद्ध से बड़ा उद्योग बनकर

वह न उभर सके ? करोड़ों व्यक्तियों को लाखों तरह का काम युद्ध देता है। हमारी समस्त और सतत क्रिया उस लक्ष्य को एकाग्र रखकर चलती हैं। शांति को अगर आना है तो हमारी समस्त और सतत क्रिया का उसे श्वास बनना होगा। उस शान्ति को करोड़ों-करोड़ को नित्यप्रति का रचनात्मक धंधा देना होगा। उसी का प्रयोगात्मक रूप गांधी जी का रचनात्मक कार्य-क्रम है। पर ध्यान रहे, रूप में शांति नहीं है। अगर कहीं किसी ओर से भी आत्मा की श्रद्धा न्यून होकर पदार्थ की निर्भरता प्रवेश कर जाय तो रूप वही रहकर भी अशान्ति ला सकता है।

अन्त की ओर कर्म से अधिक श्रद्धाभाव पर गांधी जी का बल हो गया था। पीछे तो राम नाम ही एक टेक रह गया। और वह सही था। क्योंकि श्रद्धा बिना किया-धरा सब जंजाल हो जाता है; बन्धन काटता नहीं, वह बन्धन सिरजने लगता है। श्रद्धा से जो चलता है, वह पदार्थ पर और पदार्थ से नहीं रुकता। उसकी गति अमोघ होती है। इसलिए धन से और सत्ता से, या उन दोनों की दृष्टि और अवलंबन से, निकला और बना हुआ काम मुक्ति की जगह बंधन लानेवाला हो जायगा। यही स्थल है, जहाँ आत्मश्रद्धा, और अनात्म-मोह की कसौटी हो जानी चाहिए।

आज की अवस्था जन और धन की खींच और उलझन के कारण संकटमय बन गई है। जन असंख्य हैं और यों प्रकृति की ओर से धन भी उसी तरह अटूट और अतोल है। पर विनिमय और व्यवस्था के लिए मुद्रा का प्रचलन हमने किया है, उससे गड़बड़ पड़ी है। आदमी में श्रम तो है, पर धन को कहीं से चलकर पास आना होता है। परिणाम यह कि श्रम में धन की अपेक्षा हो गई है, और धन में उस कारण श्रम के प्रति उपेक्षा। नतीजा देखते हैं कि सिक्का जब कि स्वयं मूल्य है, तब श्रम मूल्यहीन है और सिक्के द्वारा उसे मूल्य दिया जाता है। आवश्यक है कि ऐसी अवस्था में लोभ और यत्न सिक्के के प्रति हो और मानव के

लिए वह शेष न बचे। मैं मानता हूँ कि हिंसा की अनिवार्यता इसी जगह पैदा हो जाती है और युद्ध की भी जन्म-भूमि यही है।

आज क्या हम अनुभव नहीं करते कि सारी ताक़त का स्रोत वह है, जिसे हम सरकार कहते हैं? शास्त्र बताता है कि सरकार के पास उतनी ही ताकत पहुँचती है जितनी जनता देती है; लेकिन वह बात शास्त्रीय है। यानी जनता, उसके जन-जन, अपने में वह ताकत बिल्कुल अनुभव नहीं करते। सिर्फ वही जन सामर्थ्य का अनुभव और भोग करते हैं जो सरकार बने हुए हैं। शेष, यानी प्रजाजन, सरकारी जनों से सदा ही अधिकार की, अनुमति की, कृपा की आशा और भिक्षा करते रहते हैं! यह स्थिति आज मानों हद तक पहुँची हुई है। टोटेलिटेरियन जो नहीं भी है, वह भी स्टेट मानों किसी अन्तर्गत लाचारी से उसी सर्वसत्तात्मकता की ओर बढ़ी चली जा रही है!

इसका त्राण सिक्के के अवमूल्यन के सिवा मुझे तो और कहीं नहीं दीखता। अवमूल्यन ऐसा नहीं कि जैसा हाल में डालर की अपेक्षा में स्टर्लिंग और रुपये का हो गया है। नहीं, अवमूल्यन खुद सिक्के का हो, और वह श्रम की अपेक्षा में। यानी मूल्य श्रम का इतना बढ़ जाय कि सिक्के का वह लगभग रह ही न जाय। यानी श्रम की क़दर हो, मुद्रा की बेक़दरी।

जब तक मूल्यों में यह क्रांति नहीं होती, अहिंसा हिंसा से बाजी नहीं ले सकती। जब तक औसत आदमी लाचार है कि वह धन के लिए श्रम करे, या धन उसके श्रम-फल को उठा ले जाय, तब तक श्रम पीछे और धन आगे रहेगा ही। यानी तब तक परिमाण का महत्त्व होगा, गुण की अवगणना होगी; वस्तु की पूजा और व्यक्ति की अवज्ञा होगी; चातुर्य चलेगा और सहानुभूति भूखी रहेगी; उत्सर्ग मूर्खता समझा जायगा और उपार्जन कुशलता का प्रमाण होगा—तब तक जिन्दगी हमारी आँधी रहेगी और शान्ति युद्ध की सामग्री बनने के लिए रची जाया करेगी।

मेरा मानना है कि गाँधीजी हमको उसी तरफ लिए जा रहे थे। उत्पादन का और शासन का विकेन्द्रीकरण वह उसी निमित्त से चाहते थे। चहुँ ओर दूर-दूर फैली धरती में पसीने के रूप में पड़ी हुई असंख्यों की श्रम-साधना सिक्के के जादू से जो गिनती के कुछ शहरों में चुसी और खिची चली आती है, यह दृश्य उन्हें मानवता का पातक जान पड़ता था। सिक्के का वह जादू हमारे सिर चढ़ा था और चढ़ा है। जरा समझ आते ही हमारी आंख मुद्रा में बस जाती है और श्रम से जी हटने लगता है। यह तो कृपा है कि यह समझदारी सब तक नहीं पहुँच पाती और श्रमिक श्रम में अपने को सार्थक करते ही चले जाते हैं। लेकिन मानों कुछ ने प्रण किया है कि वे सबको 'सद्ज्ञान' पहुँचाकर ही रहेंगे, यानी मानव-चिंता को आर्थिक और आंकिक बनाकर ही छोड़ेंगे। मार्क्स को आदि लेकर कम्यू-निज्म ने यह बीड़ा उठाया दीखता है। उसके इस अर्थ ने, मानव-जाति की भाषा में कहें, तो बड़ा अनर्थ किया है। क्योंकि जिसका मूल्य ढहना है, उसी में नये सिरे से मूल्य डाल दिया है। श्रमिक की भाषा श्रम की न रहकर अर्थ की बन गई है और आदमी को असहाय करके स्टेट को सर्व-सहाय बनाया जा रहा है!

शान्ति की समस्या उत्पादन के बढ़ जाने से या सम्पत्ति के निर्वैयक्तिक हो जाने से, या विनिमय और वितरण के द्रुत और नियमित कर दिये जाने से उतनी सीधी-संलग्न नहीं है। कारण, इस ओर से मनुष्य में आत्म-निर्भरता और आत्म-गौरव का भाव नहीं जगनेवाला है। वह तो उपाय मुख्यता से इसमें है कि मानव-चेतना का भार-केन्द्र धन से श्रम की ओर बढ़े और क्रमशः अवस्था वह आये कि श्रम ही एक धन हो जाय और उससे पृथक मूल्य का कहीं अधिष्ठान ही न रहे।

इस दिशा में समझ-बूझकर चेष्टा हो, और सब देशों की उदासीनता पर भी एक भारत देश की राष्ट्रनीति उधर चले तो मेरी प्रतीति है कि

अन्तर्राष्ट्रीय दबाव उसपर कम होना आरम्भ हो जायगा और विश्व-संकट भी कुछ ढीला होगा।

आज तो भारत के पूर्व और पश्चिम, दोनों तरफ़, पाकिस्तान है जिस के साथ सम्बन्ध मीठे नहीं हैं। परिणामतः देश की सारी इकानामी (अर्थ-नीति) उस दुश्चिन्ता के अधीन चलने को लाचार है। सेना और सैनिक का महत्व ऊँचा रखना होता है; सरकारी आय का बड़ा भारी भाग उसमें जाता है; श्रम की सार्थकता जैसे श्रमिक के पास न होकर सैनिक के पास हो जाती है, जिसका सीधा काम बनाना या उगाना न होकर बिगाड़ना और नष्ट करना है। सारी दृष्टि को हमें तदनुकूल बनाना पड़ता है और उत्पादन से अधिक व्यय की महिमा बढ़ती है! सैनिक से सेवा लेने और ज़रूरत पर उसकी जान लेने के लिए दूसरी दिशाओं में उसे भोग की सुविधा देनी होती, बल्कि भोग की आदत उसमें डालनी होती है। ऐसे जान-बूझकर संस्कारिता से उलटा यानी बर्बरता का क्रम चलाना होता है।

क्यों? क्योंकि अपना तर्क दूसरे के व्यवहार से लेने की भूल से हम आरम्भ करते हैं। कोई हमें दुश्मन मानता है तब हमारे लिए भी दुश्मनी ही एक नीति रह जाती है, ऐसा हम मान लेते हैं। गाँधीजी ने कहा कि ठीक इसी जगह अपनी गलती हमें पकड़ लेनी चाहिए और साहसपूर्वक दूसरी नीति का प्रयोग कर चलना चाहिए। मित्र को मित्रता देने में क्या बड़ाई, या क्या पराक्रम? शत्रु को मित्रता से जीतना है। शत्रु का सच्चा नाश इसी में है; क्योंकि शत्रुता के बीज मिटते हैं और शत्रु सदा के लिए मित्र बनता है। पाकिस्तान कुछ भी करे तो भी क्या भारत भलेमानस की तरह दबता चला जाय?—गाँधी की नीति ऐसी ही पोच थी और कांग्रेस उसी दब्बूपने से चल रही है; संघी और महासभाई मानों यह कह कर हिन्दू-पराक्रम को जगाना चाहता है।

पराक्रम तो ठीक; लेकिन पराक्रम हिन्दू बनकर क्या अहिन्दू को उसी के लिए ललकारता नहीं है? ऐसे इन्सानी पराक्रम का घात और राष्ट्रीय

कहे जानेवाले परस्पर-विरोधी पराक्रमों के विग्रह की ही प्रदर्शिनी होती है। युद्ध वही नुमाइश नहीं तो क्या है? इसलिए समय है कि अब एक अनोखे पराक्रम का उदय हो, जो अहिंसक और प्रसन्न सदा इसलिए रह सके कि उसका राग किसी सीमितता में नहीं है; कि उसकी श्रद्धा उस असीम में है, जो सब कहीं है, इसलिए जिसमें शत्रुता के लिए स्थान नहीं है। वह अडिग और अटूट रह सकता है, क्योंकि रोष ही है जो डिगता और टूटता है। उत्कट और उद्दीप्त राष्ट्रवादों के घमसान में अगर कोई राष्ट्र, समग्र मानवजाति की ओर से, इस भव्य और मौलिक, इसलिए आध्यात्मिक, पराक्रम का पक्ष लेकर खड़ा नहीं हो सका तो भविष्य क्या होगा, कहना मुश्किल है।

गाँधीजी तो गये। उनमें धर्म कर्म से और कर्म धर्म से जुदा न था। लगता है कि उनकी परम्परा कहीं बँटकर खंड-खंड तो नहीं हो गयी! ऐसा तो नहीं कि धर्म विनोबा में और कर्म जवाहरलाल में टिकने को रह गया और उन सिरों के बीच का गाँधी-सूत्र कुछ क्षीण पड़ गया? ऐसा है, तो शान्ति के लिए शायद मानव की ओर से आशा का स्थान नहीं है। लेकिन अगर ऐसा नहीं है, और वह आत्म-सूत्र दोनों को अभिन्न एकता में गूँथकर भारतीय जीवन में सक्रिय कर दे सकता है, तो हम निश्चय रखें कि उमड़ते काले बादल कट जायँगे और भारत के भावी को बालसूर्य के रूप में उदय होने से कोई न रोक पायेगा। तब पूर्व से प्रकाश जागेगा और एक नई विश्व-संस्कृति का आविर्भाव होगा।

*

: ३ :

युद्ध और भारतीयता

युद्ध के बाद की हिन्दी-कहानी के बारे में कुछ कहने को मैं राज़ी तो हो गया हूँ; लेकिन सच यह है कि साहित्य काल से कटता है, ऐसा मुझको नहीं लगता। युद्ध से पहले साहित्य एक था और युद्ध के बाद उसको दूसरा होना होगा, यह बात समझ में नहीं आती। हजारों वर्ष पहले और हजारों मील दूर की कथा अगर हमारे मर्म को आज भी छू जाती है, तो मानना होगा कि कुछ है, जो देश-काल में बँटा नहीं है। साहित्य मानो उसी का प्रतीक है। यह नहीं कि वह बदलता नहीं, या नये-नये रंग नहीं लेता। पर रूप और विधान-परिधान बदलता है, अन्तरंग नहीं बदलता।

यह तो नाप-जोख का आज का ढंग बना है, जो चलते इतिहास में जीवन-दर्शन की कड़ियाँ जोड़ता और खोजता है। काल के नियम से विभाजित करके वह हर चीज में विकास के सिद्धान्त की सिद्धि देख लेना चाहता है। मानव-बुद्धि का यह हठ बहुत उपयोगी हुआ है। ऐसे ज्ञान विज्ञान निपजा है। लेकिन इधर उस एकान्त कर्म की अनुपयोगिता भी खुल रही है। सत्य को मुट्ठी में कर ले, इसमें उतनी मानव की सार्थकता नहीं है; जितनी इसमें है कि वह अपने को सत्य के हाथ में दे दे। सत्य जानने से सत्य होना अवश्य ही बड़ी परिपूर्णता है। ऐसे यद्यपि प्रतीत नहीं होता कि युद्ध विषय-सामग्री देने से अधिक साहित्य के सम्बन्ध में कुछ

कर सकता है, तो भी वह उपलक्ष्य बनकर हमें अपने को देखने-बूझने का अवसर दे सकता है। और यह इस समय के लिए जरूरी भी है।

युद्ध मानव-समुदाय को दो दलों में बाँट देता है। बाँटने के साथ उन्हें अलग दायरों में एकत्रित भी कर देता है। जो अन्यथा बिखरे रहते हैं, तीव्र विरोध-भाव को लेकर वे परस्पर विमुख दिशा के केन्द्रों में मुड़कर इकट्ठे हो जाते हैं। यानी उससे चेतना में दो केन्द्र, कहिए शरीर में दो मन, बन उठते हैं, जिनके बीच खींच-तान चलती है। अंग्रेजी के 'पोलराईज़ेशन' शब्द में यही भाव है। पिछला युद्ध तो समुदाय क्या समूची मानव-जाति का ही था। मानव की जाति यों कितनी भी बिखरी हो, है तो अन्त में एक कुटुम्ब ही। अतः युद्ध यूरोप में छिड़ा, तो एशिया का, या कहीं का, कोई मुल्क चैन से रह सका, सो नहीं। युद्ध का ताण्डव जहाँ नहीं मचा, उस देश का भी पिंजर युद्ध के अधीन बुरी तरह हिल आया। लोक-चेतना दलगत भावों से क्षुब्ध हो रही और साहित्य की राह वह क्षोभ, जिसको प्रचार नाम दिया गया, खूब ही उतरा और उभरा।

दुश्मन यों गिनती में दो होते हैं, पर दुश्मनी में वे एक बनते हैं। यानी एक-सी फौजें, एक से अस्त्र, एक-सा क्रोध और एक-सा उनका साहित्य होता है। झण्डे पर यदि चिन्ह भिन्न होते हैं, तो कहानियों में भी उसी तरह नाम अलग हो जाते हैं। एक जगह राक्षस फासिस्ट है और वह जर्मन है, तो दूसरी जगह दानव कम्युनिस्ट है और वह रूसी है। तदनुसार कुछ दूसरे ब्यौरों में फर्क है। शेष में एक है, वैसा ही दूसरे को बनना होता है। युद्ध-जनित साहित्य की यह विशेषता है कि उसमें आग्रह दल का है, और अपने-अपने दलका, लेकिन आग्रह-वाद सब कहीं एक-सा है। इस दलवाद की प्रतिष्ठा में व्यक्ति की निजता डूब जाती है, मौलिक पात्र और चरित्र की अवतारणा कहानी में दुर्लभ हो जाती है। पात्र जैसे पात्र नहीं तो परिस्थिति के हाथों सधे-बँधे चलते हैं।

तब साहित्य व्यक्ति के महत्व की कीमत पर वर्ग को गौरव और सत्यता देने लगता है। संक्षेप में तब समस्या हार्दिक की जगह बौद्धिक होती है। कहानी में गहनता और सघनता की जगह परिचय-विस्तार और रूप-वैचित्र्य का आकर्षण डाला जाता है और वह व्यथा से अधिक बोध देने लगती है।

पहले के युद्ध तो भी सीमित थे। मैदान में वह लड़े जाते थे और लड़ने वाले इसी धन्धे के क्षत्रिय लोग होते थे। जिन्दगी का एक बड़ा हिस्सा उससे अछूता बच रहता था और जनता अपने काम और स्वभाव से उखड़ती न थी। मगर पिछला युद्ध सूक्ष्म और व्यापक था। उसकी भूमिका मानसिक ज्यादा थी। वह सिर्फ मैदान में और मोर्चों में नहीं, घर-घर में और मन-मन में लड़ा जाता था। सब व्यापार जैसे उस युद्ध के उद्योग के अंश बन आये थे। रेडियो और अखबार उनके अस्त्र थे। कला को भी उसका त्रिशूल बनना हुआ था। चित्तोत्कर्ष के उपयोग के ऐसे सब साधन तब युद्ध के काम के बने। कारण, युद्ध संकट न था, आदर्श और लक्ष्य के साथ जुड़ गया हुआ एक मिशन था। संघर्ष एक धर्म बन उठा था। उस संघर्षवाद ने मानो साहित्य को भी आत्म-प्रयोजन का दान दिया—अर्थात् कहानी से आवेश और द्वेष का उभार प्राप्त किया गया।

कहानी परम्परा से कथा-रूप में लोगों के जमावों में गाई और बाँची जाती थी। वही लीला और नाटक रूप में खेली और देखी जाती थी। वह माध्यम थी, जिससे मानवता परस्पर को, और ऐसे अपने को, प्राप्त करती थी। वह संस्कृति के और मर्यादा के निर्माण का आधार थी। धर्म उसके सूत्रों से बनता था और नीति व्याख्या पाती थी। वह अहंता को निखारती और प्रसन्नता में लोगों को मिलाती थी। मनोरंजन और सहज शिक्षा का वह साधन थी। ऐहिक और घटनात्मक जो-कुछ है, सब ताना-बाना बनकर उस कथा में बुन जाता था और उसके पटपर आत्मदर्शन लिख आता था। इस भाँति धर्म-ग्रन्थ सब कथा-आख्यान

हैं और महाकाव्य मानव-आत्मा की पराक्रम-गाथाएँ। यों महापुराण
(Epics) सब युद्ध को लेकर बने हैं, पर युद्ध वहाँ सामग्री है, सिर्फ
रंग कि जिससे चित्र बनें और नीति फलित हो। कपास और कपड़े में,
स्याही और चित्र में, जो अन्तर है, वही वहाँ युद्ध और दर्शन में है—
अर्थात् युद्ध में कृतित्व नहीं बताया है, वह तो उसकी निष्फलता जान
लेने में है। साहित्य में युद्ध के लिये उत्तेजना नहीं हैं, उसका उपशमन है।
इसी से ऐहिक युद्ध वहाँ आत्मिक बन जाता है। जैसे वह अतिमानवों
का, देवों और दानवों का ही युद्ध हो, मानव को तो साक्षी-भर रहकर
सिर्फ वहाँ से ज्ञान प्राप्त कर लेना हो।

कह सकते हैं कि आधुनिक युद्ध ने कहानी पर अपने को तात्कालिक
प्रयोजन से जोड़ देने का भार डाला। बहुत ऐसी कहानियाँ लिखी गयीं
और उनको बाजार भी मिला, यद्यपि पाठक के अन्तर्मन के साथ उन्होंने
कितना तादात्म्य बना पाया, यह कहना कठिन है। पहले साहित्य में
प्रयोजन था तो निर्वैयक्तिक। प्रकट में जैसे साहित्य प्रयोजनातीत था।
आनन्द उसका प्राण था और दायित्व अलग से उसके कन्धे पर नहीं
बैठता था। प्रसाद की उससे माँग थी, और अधिक माँग न थी। इससे
वह अपने को बचाता न था, बल्कि लुटाता चलता था। वह हर दुखिया
की बैसाखी हो सकता था। पर कमची या कतरनी बनना उसका काम न
था। लेकिन जब लड़ाई आयी, तो जैसे इस वायव्य वस्तु पर भी दूसरों को
हराने और अपनों को जिताने का जिम्मा डाला गया। ऐसे कहानी
आनन्द से अधिक चिन्ता की चीज बनी। रचना से अधिक उसमें
आलोचना हुई। प्रगति के नाम पर एक वाद ही तब उठा, जो प्रयोजन
के अंकुश से साहित्य को, और उस साहित्य के अंकुश से जन-मानस को
अमुक दिशा में गढ़ देना चाहता था। ऐसे कहानी की निर्द्वन्द्वता कम
हुई और उसने कुछ द्वन्द्वात्मक रूप पहना। निश्चित और नैतिक होने
की अपेक्षा वह समस्यामूलक और संशयजनक बनी। मानो डिगाना
उसका काम है, जमाना उसका काम नहीं है।

साहित्य यदि निर्माण करता है, तो कल्पना के बलपर। स्वप्न को श्रद्धा में खींचकर, जीवन का मर्म डाल, साहित्य उसे शब्दों के मनोरम में मूर्त्त करता है। मूर्त्त बना वह स्वप्न फिर यथार्थ को प्रेरणा देता है। किन्तु युद्ध के लिए प्रेरणा और चाहिए थी। आत्म-प्रेरणा नहीं, संघ-प्रेरणा चाहिए थी। आनन्द की नहीं, भय की प्रेरणा। परिणाम यह हुआ कि रोमांस की शक्ति घटी, यथार्थवाद उभरा। यथार्थवाद जो ऊपर प्रकट फूल की सुन्दरता की ओर न जाकर जड़ों को, जहाँ खाद लगता है, कुरेदता है। यह जरूरी काम था, मगर विज्ञान का काम था। पर कहानी का भी वह काम बना, मानो कहानी प्रकृत न होकर वैज्ञानिक बनी। सृष्टि की नहीं, मानो कारीगरी की वह वस्तु हुई।

इस प्रकार बौद्धिक विश्लेषण और व्यवच्छेद के रास्ते से कहानी धीरोदात्त नायक से चलित-चित्त चरित्र तक आ गई। मानो महत्ता सन्दिग्ध हो और क्षुद्र में ही महत्व हो। बहुत कहानियां लिखी गई, जिनमें संयम पर व्यंग्य था, यथेच्छाचार पर स्पृहा। सब पुरातन में तब प्रतिगामिता दीख आई और सब नूतन में प्रगति। परम्परा का इन्कार क्रान्ति का स्वीकार बना। युद्ध का यह अवश्यम्भावी परिणाम था। वर्त्तमान भावी तक उठे, इसके लिए आवश्यक समझा गया कि वह अतीत से टूटे। पूर्व की स्थिति छूटकर ही पश्चिम की उन्नति सम्भव दीखी। अनेकानेक हिन्दी-कहानियों ने इस मुहिम को लिया। मन्दिर, ब्राह्मण, साधु आदि संस्थाओं और संयम, तप, त्याग आदि मूल्यों की गर्हणा कहानी की उत्कृष्टता बनी।

विवाह की पवित्रता और परिवार की मर्यादा भारतीय समाज के मूल में घुले-मिले तत्व हैं। इन संस्थाओं ने इतिहास के आक्रमणों के बीच भारत को थामे रखा है। लेकिन कहानियाँ लिखी गईं, और कम संख्या में नहीं, जिनमें इन मर्यादाओं को गिरा देने की खुली स्पर्द्धा थी।

विवाह मानो विकास में और प्रगति में बाधक है और परिवार व्यक्ति को समाज से काटता है, क्योंकि वह एक सीमित स्वार्थ सेउससे जोड़ता है; ऐसे इन कहानियों का मन्तव्य था कि विवाह व्यभिचार का पोषक है और प्रेम के प्रवाह पर बाहरी अवरोध डालकर केवल समस्या उत्पन्न करता है। मानना होगा कि युद्धोत्तर-कालमें नये लेखक समाजमान्य मर्यादाओं का बहुत आदर लेकर मैदानमें नहीं आए और उनकी रक्षाके प्रति उन्होंने अपना दायित्व नहीं माना। बल्कि उन्हें तोड़ना भवितव्यता के प्रति अपना कर्त्तव्य माना।

लेकिन युद्ध के बाद अब धीरे-धीरे हिन्दी-कहानी में कुण्ठा आ रही मालूम होती है। अब तक चलनेवाले विश्वास मानो लँगड़े पड़े जा रहे हैं। जैसे नये सिरे से नई श्रद्धा प्राप्त करने की आवश्यकता हो आई है। मानों प्रचलित मूल्य काम न देते हों, लेकिन असल और सनातन भी एकाएक हाथ न आते हों। दुनिया तेजी से बदल रही है और घटनाओं की गति द्रुत हो गयी है। राष्ट्र अपने में होकर कोई जी नहीं पाता है और शेष दुनियासे लेन-देन हर किसी का लाचार बढ़ता ही जाता है। नये रंग-रीति और नई चाल-ढाल के लोग हर मुल्क में आये दिन दीखते हैं और हवाई-जहाज सब कहीं के लोगों को उड़ाकर यहाँ-वहाँ पहुँचाते रहते हैं। ऐसे राष्ट्र-प्रेम कोई बड़ा ऊँचा आदर्श अब नहीं रह गया है। यद्यपि राष्ट्र का मान मन से सहज नहीं छुटनेवाला है, पर मूल्य और वैल्यू के तौर पर राष्ट्र तेजी से हमारे हाथ से निकला जा रहा है। वह राष्ट्र, जिसको लेकर हम जीने और मरने का लक्ष्य पाते थे, और दूसरे वे शब्द, जो लड़ाईमें नारे बनकर धन्य भाव से हमें मोत तक भेज देते थे, अपनी शक्ति खोते जा रहे हैं। एण्टी-फासिस्ती नाम की अब कोई प्रेरणा नहीं बची है—मानो एंटी शब्द की ही प्रेरणा समाप्त है। डेमोक्रेसी और सोशलिज्म और कम्युनिज्म अब वे शब्द नहीं रहे, जो स्फूर्ति जगायें। वे विवेचन के काम के हैं, बलिदान के नहीं। ऐसी अवस्था में यदि हिन्दी-कहानी की गति कुछ

ठिठकी दीखती हो, तो विस्मय नहीं है। यों तो धड़ाधड़ पत्र निकल रहे हैं और कहानी होना सब में अनिवार्य है। औसत डेढ़ से दो सौ तक कहानी रोज की खपत होगी। अधिकांश उसमें मरने वाली कहानी हैं। जीनेवाली कहानी की संख्या हिन्दी में इस समय सन्तोषप्रद है, यह नहीं कहा जा सकता। देश अभी नया जन्मा है और कष्ट में है। युद्ध के ध्वंस को समेटने में भी समय लगता है। शरीर-कष्ट में मानसिक उर्वरता की आशा भी क्या की जाय? मूल्यान्तरीकरण का भी कालयोग है। खासकर भारत में मन्थन गहन है। क्रान्ति से पहले रूस ने हमें डास्टाविस्की, टालस्टाय, तुर्गनीव, चैकफ़, गोर्की लगभग एक साथ दिये। भारतमें इस वक्त उससे भी गहरा आत्मालोड़न है। वह गाँधी-जैसे विस्मय-पुरुष की कर्मभूमि रहा है, मार्क्स का अध्ययन भी यहाँ कम नहीं है, और अँगरेजी किसी भी प्रान्तीय भाषासे यहाँ की समृद्ध भाषा है। ऐसी स्थिति में सब प्रभावों को आत्मसात् करके एक महासमन्वयका नया रूप प्रस्तुत करनेमें भारतको समय लगे, तो अनहोनी बात नहीं है। लेकिन यह निश्चय है कि हिन्दी में अब भारत की मौलिक प्रतिभा का स्वर उभरेगा।

विवाह मानो विकास में और प्रगति में बाधक है और परिवार व्यक्ति को समाज से काटता है, क्योंकि वह एक सीमित स्वार्थ सेउसे जोड़ता है; ऐसे इन कहानियों का मन्तव्य था कि विवाह व्यभिचार का पोषक है और प्रेम के प्रवाह पर बाहरी अवरोध डालकर केवल समस्या उत्पन्न करता है। मानना होगा कि युद्धोत्तर-कालमें नये लेखक समाजमान्य मर्यादाओं का बहुत आदर लेकर मैदानमें नहीं आए और उनकी रक्षाके प्रति उन्होंने अपना दायित्व नहीं माना। बल्कि उन्हें तोड़ना भवितव्यता के प्रति अपना कर्त्तव्य माना।

लेकिन युद्ध के बाद अब धीरे-धीरे हिन्दी-कहानी में कुण्ठा आ रही मालूम होती है। अब तक चलनेवाले विश्वास मानो लँगड़े पड़े जा रहे हैं। जैसे नये सिरे से नई श्रद्धा प्राप्त करने की आवश्यकता हो आई है। मानों प्रचलित मूल्य काम न देते हों, लेकिन असल और सनातन भी एकाएक हाथ न आते हों। दुनिया तेजी से बदल रही है और घटनाओं की गति द्रुत हो गयी है। राष्ट्र अपने में होकर कोई जी नहीं पाता है और शेष दुनियासे लेन-देन हर किसी का लाचार बढ़ता ही जाता है। नये रंग-रीति और नई चाल-ढाल के लोग हर मुल्क में आये दिन दीखते हैं और हवाई-जहाज सब कहीं के लोगों को उड़ाकर यहाँ-वहाँ पहुँचाते रहते हैं। ऐसे राष्ट्र-प्रेम कोई बड़ा ऊँचा आदर्श अब नहीं रह गया है। यद्यपि राष्ट्र का मान मन से सहज नहीं छुटनेवाला है, पर मूल्य और वैल्यू के तौर पर राष्ट्र तेजी से हमारे हाथ से निकला जा रहा है। वह राष्ट्र, जिसको लेकर हम जीने और मरने का लक्ष्य पाते थे, और दूसरे वे शब्द, जो लड़ाईमें नारे बनकर धन्य भाव से हमें मौत तक भेज देते थे, अपनी शक्ति खोते जा रहे हैं। ऐण्टी-फासिस्ती नाम की अब कोई प्रेरणा नहीं बची है—मानो ऐंटी शब्द की ही प्रेरणा समाप्त है। डैमोक्रेसी और सोशलिज्म और कम्युनिज्म अब वे शब्द नहीं रहे, जो स्फूर्त्ति जगायें। वे विवेचन के काम के हैं, बलिदान के नहीं। ऐसी अवस्था में यदि हिन्दी-कहानी की गति कुछ

ठिठकी दीखती हो, तो विस्मय नहीं है। यों तो धड़ाधड़ पत्र निकल रहे हैं और कहानी होना सब में अनिवार्य है। औसत डेढ़ से दो सौ तक कहानी रोज की खपत होगी। अधिकांश उसमें मरने वाली कहानी हैं। जीनेवाली कहानी की संख्या हिन्दी में इस समय सन्तोषप्रद है, यह नहीं कहा जा सकता। देश अभी नया जन्मा है और कष्ट में है। युद्ध के ध्वंस को समेटने में भी समय लगता है। शरीर-कष्ट में मानसिक उर्वरता की आशा भी क्या की जाय? मूल्यान्तरीकरण का भी कालयोग है। खासकर भारत में मन्थन गहन है। क्रान्ति से पहले रूस ने हमें डास्टाविस्की, टालस्टाय, तुर्गनीव, चैकफ़, गोर्की लगभग एक साथ दिये। भारतमें इस वक्त उससे भी गहरा आत्मालोड़न है। वह गाँधी-जैसे विस्मय-पुरुष की कर्मभूमि रहा है, मार्क्स का अध्ययन भी यहाँ कम नहीं है, और अँगरेजी किसी भी प्रान्तीय भाषासे यहाँ की समृद्ध भाषा है। ऐसी स्थिति में सब प्रभावों को आत्मसात् करके एक महासमन्वयका नया रूप प्रस्तुत करनेमें भारतको समय लगे, तो अनहोनी बात नहीं है। लेकिन यह निश्चय है कि हिन्दी में अब भारत की मौलिक प्रतिभा का स्वर उभरेगा।

: ४ :

तोप और हम

पिछले दिनों मैंने अखबार में एक तस्वीर देखी। उसमें सरदार पटेल कांग्रेस कार्यकर्त्ताओं के बीच में विराजमान उन्हें परामर्श दे रहे हैं। मुलाकात का स्थान एक जंगी जहाज का डेक है। सरदार कुर्ते और धोती में सीधे साधे ढंग से बैठे हैं, कार्यकर्त्ता जन फर्श पर। दृश्य घरेलू और सुहावना है। कोई बनावट नहीं है, सजावट नहीं है और वातावरण में आत्मीयता है। यह सब अच्छा लगा।

लेकिन सरदार के सिर पर, मानो छत्र की छाया देती हुई, मुँह आगे निकाले ये चीजें क्या हैं? एकाएक समझ नहीं आया कि वे क्या हो सकती हैं? लेकिन पल भर बाद ही मालूम हो गया कि वे तोपें हैं। काले दिखते हुए सिर उन्हीं के मुँह हैं। जंगी जहाज की वे तोपें रक्षा का हाथ बढ़ा कर नीचे बैठे हुए लोगों को अभय का दान दे रही हैं, इसी से उनके तले गंभीर मंत्रणा चल रही है! अवश्य मंत्रणा शक्ति और सुव्यवस्था के लिए है, क्योंकि तोपों की सूरत चाहे जैसी हो, एकत्र व्यक्ति उस कांग्रेस के कार्यकर्ता हैं जो गांधी-नीति को अब तक मानती आई है।

सहसा तो कुछ विलक्षण जान पड़ा। पर तत्क्षण प्रतीत हुआ कि चित्र अयथार्थ नहीं है, वह व्यंग नहीं है। घटना से अधिक वह चित्र स्थिति का है। मानो जो है, कुल का कुल वही इस चित्र में प्रतिबिंबित हो आया है।

अभी सन्, ५० है। गांधी जी को गये दो ही वर्ष से कुछ ऊपर हुआ है। हम गांधी जी के वारिस निश्चय ही गांधी नीति से काम चलाना चाहते हैं। इसी लिए खादी है, सादगी है और सहजता है। ये सभी चीजें लोक-राज्य की शोभा बढ़ाने वाली हैं। परिवार के बीच बुजुर्ग बैठे हों, ऐसे सरदार बैठे हैं। आनबान का दिखावा कहीं नहीं है। गांधी-परम्परा का पूरा पालन है।

फिर जो तोपें हैं, उनपर ध्यान जाने की क्या आवश्यकता है? वे तो परिस्थिति की मर्यादा की सूचक हो सकती हैं। नीति अहिंसा की है, पर परिस्थिति में हिंसा हो तो अहिंसा की नीति तोप को साथ लेने से डर नहीं सकती। मन में अहिंसा चाहिए, फिर बाहर साथ में तोप-तलवार भी हो, तो क्यों असम्भव है कि वह मन की अहिंसा की रक्षा के लिए न हो?

आदर्श से सिर्फ काम नहीं चलता। यथार्थ को पहचानने की शक्ति चाहिए। यथार्थ की मर्यादा का उल्लंघन नहीं हो सकता। देश में हम शांति चाहते हैं, समाज की अहिंसक पुनर्रचना चाहते हैं। तो पहले दुश्मन से देश को बचाना और उन्नति के मार्ग को निष्कंटक करना होगा कि नहीं? वह इस तरह अहिंसा की दिशा का ही प्रयत्न क्यों न समझा जाये?—इत्यादि तर्क वर्तमान राज्याधिकारी का हो सकता है।

उस तर्क का उत्तर वृथा है। निर्भयता यदि शस्त्र होने से ही आती है, तो शस्त्र के अभाव में भय आ जायगा। शस्त्र के अभाव को अहिंसा मानें, तो भय भी अहिंसक हो जाता है। इसलिए तलवार के विरोध में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता है। कारण भय को दूर करने के लिए शस्त्र आया है। भय को तो दूर करना ही है। यदि किसी भी ओर से निर्भयता नहीं आ सकती है, तो शस्त्र को अवश्य आना होगा और नीति का कोई भी उपदेश न उसे टाल सकेगा, न अनुचित कह कर स्वयं सार्थक हो सकेगा।

अतः प्रश्न यह नहीं है कि तोप असुन्दर और अपवित्र है और वह न हो। किन्हीं को वही बहुत सुन्दर लग सकती है। अमुक परिस्थिति में वह इतनी महिमा-मण्डित हो सकती है कि वेदी पर देवता रूप में विराजी जाय।

प्रश्न है केवल यह कि हमारी श्रद्धा क्या है? और यह प्रश्न अमोघ है। इस बारे में थोड़ी भी चूक घातक हो सकती है।

अहिंसा एक समग्र नीति है। समय पर वह एक शस्त्र भी है। वह हर जगह काम देने के लिए है। वह धर्म है, जो कहीं हार या टूट नहीं सकता है।

अब दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो हम उसमें विश्वास करते हैं, या विश्वास नहीं रखते। श्रद्धा में बीच की स्थिति कोई नहीं है। या तो श्रद्धा है, या नहीं है। अहिंसा की श्रद्धा से हिंसा का जीवन में से लोप नहीं हो जाता, लेकिन जो होता है वह यह कि उसको आत्म-समर्थन नहीं मिलता। सम्यक दर्शन का बस एक यही लक्षण, यही खूबी है।

आज की स्थिति संकटग्रस्त इसलिए नहीं है कि उसमें हिंसा अधिक है, बल्कि आज तो उन्नति और सभ्यता ही ज्यादा है। पहले जैसी बर्बरता और नृशंसता नहीं है। सब चीज को आज कानून का और व्यवस्था का रूप मिला है। हिंसा भी पहले जैसी अनगढ़, क्रूर और दारुण नहीं दीखती है।

संकट का कारण यह है कि दर्शन में से हिंसा-अहिंसा की विवेक-रेखा हमें क्षीण हो गई है। दर्शन को व्यर्थ का सामान मान कर उस बारे में असावधानता को उचित मान लिया गया है। जैसे हिंसा-अहिंसा सूखे तत्व का प्रश्न है, अनिवार्य विवेक का प्रश्न नहीं है!

यह स्थिति घातक है। धर्म की, अर्थात् विवेक की, अपेक्षा में प्रत्येक क्षण हम में आत्म-मन्थन और आत्म-निरीक्षण चलते रहना चाहिये। करने-धरने की बदहवासी में आत्मावलोकन से असावधान होना सीधे नरक

की ओर बढ़ना है। काम-काज का आवेश अगर हमें धर्म के निर्देश से अलग डाल देता है, तो काम काज का वह समारोह ही हमें फंसा देने वाला है। मशीनों और मिलों के सहारे होने वाला भीमोद्योग संकट को बढ़ा ही सकता है, अगर उसके साथ सम्यक्-दर्शन का योग हमें न मिल सके। केवल तेजी से चलने की हड़बड़ी से न चलेगा, सोचना होगा कि चलना किधर है।

गांधी जी अभी हमारे बीच हो गए हैं। अद्भुत और प्रचण्ड उनकी कर्मठता थी। प्रथम कोटि के कर्म-प्रतिष्ठाता पुरुषों में उनकी गणना है। लेकिन जब कर्म के कूच का अवसर आया, तब ही तब धर्म-चिन्तन की आवाज उन्होंने ऊंची की। युद्ध के अवसर पर गीता का उपदेश वृथा न था! कुरुक्षेत्र ही धर्मक्षेत्र है। जब करना सामने है, तभी का सोचना सार्थक है। ऐसे ही मन्थन में से धर्म की प्राप्ति और सृष्टि होती है। गांधी जी ने प्रत्येक कूच और प्रत्येक मोर्चे पर बढ़ने से पहले हिंसा-अहिंसा संबंधी सूक्ष्म धर्म-विचार को कांग्रेस कार्य-समिति के, या अपने दूसरे साथियों के, सामने रखा। वहीं वह विचार अनिवार्य और अमोघ होता है।

राजनीति में हर महत्व के क्षण पर धर्मनीति की बात उठाने वाला गांधी जो आज नहीं रह गया है, इससे राजनीति अपने ही व्यूह में फंसी दीखती है। समूचा कर्म केवल एक दुश्चक्र की रचना करता दीख रहा है। कर्म एक वह चक्र है कि जिसमें धर्म की सृष्टि न हो तो वह केवल संहार और युद्ध की रचना करेगा। धर्म की दृष्टि डाल कर हम उसी युद्ध क्षेत्र को धर्मक्षेत्र बना दे सकते हैं। तब संघर्ष को भी रूपान्तरित करके उसमें से त्राण की राह निकाल सकते हैं।

धर्म-कर्म का वियोग आज त्रास का कारण है। एक उनके संयोग में ही रक्षा है। दूसरा कोई उपाय संभव नहीं है। आज के अखबार का चित्र उस संयोग का चित्र नहीं है, वह उसका विद्रूप उपहास हैं। तोप के मुंह के नीचे की खादी अहिंसा की शोभा नहीं हैं। उस तोप से भुनता

हुआ खादी पहिनने वाला होता, तो उस खादी को मैं समझ सकता था। अन्यथा हिंसा के पेट में दुबक कर बैठने वाली अहिंसा कोई नई चीज नहीं है। उसे सदा से लोग जानते हैं और उससे किसी को कुछ आशा नहीं है।

हम जो यहां लोक-राज्य बना कर बैठे हैं, सो सचमुच ही खादी उस की सही प्रतीक हो सकती है। सादगी उसका लक्षण और भाईचारा, जिस में छोटा बड़ा नहीं है, उसका सही रूप हो सकता है। लेकिन तोप तो तानाशाह तानता है! लोकशाही और तानाशाही सिर्फ चहरे नहीं हैं कि सुविधा से बदले जा सकें। पर आज ऐसा ही मालूम होता है। लोकशाही अपने भीतर से तानाशाही के लिए तैयारी करती हुई देखी जाती है। एक यहाँ नहीं, सब कहीं ऐसा है। इसलिए शब्दों के आलजाल के नीचे रोग के बीज को पकड़ने की जरूरत है। अन्यथा किया कराया सब चौपट होगा और लोकशाही तानाशाही का आसन बनने को रह जायगी।

आज जैसे विश्व की सभ्यता और उसका विज्ञान अनी पर खड़े हैं, उनको कसा और परखा जा रहा है। केवल सदियों का समर्थन होने से कोई चीज़ रक्खी जाने वाली नहीं है। खरी होने पर ही वह ठहरेगी, अन्यथा फेंक दी जायगी। बड़प्पन, बड़े शब्द, बड़े वायदे, बड़े नक्शे, अब मानवता को अधिक काल रोक नहीं सकेंगे। राज-नेता का धंधा अविश्वास की वस्तु बन उठा है। शासन और शासक आतंक की वस्तु भले हो, अब हृदय के आदर का पात्र वह नहीं रह गया है।

गांधी ने गंभीर और आन्तरिक एक क्रांति जो कर दी है, उससे अब शासक प्रत्यक्ष में जब तक सेवक नहीं बन पायेगा, तब तक वह अपने को सुरक्षित भी अनुभव नहीं कर सकेगा। गांधी जी ने जीवन के प्रकृत मूल्य को हमें दे दिया है। बता दिया है कि शहर की सभ्यता के कंगूरे पर बैठा समृद्ध नेता केवल अभिनेता है। केन्द्र वहां नहीं है, न मूल्य वहां है। वहाँ केवल माया है, जिसने मन को मोह रखा है। उस मोह पर ही

राज्यशाही और साम्राज्यशाही चला करती है। उसकी रक्षा के लिए युद्ध होते हैं, और उसकी मोहनी डालकर युद्ध के लिए ईंधन जुटाया जाता है। नहीं, केन्द्र है वहाँ जहाँ श्रम का पसीना धरती में डाल कर अन्न उगाया जाता है जो हमारा पोषण करता है। शासन समझा जाने वाला काम न ऊंचा है, न आवश्यक है। इस माया मोह ने ही उसको महिमा दे रखी है और श्रमिकों का श्रम उसे ऊंचा उठाये रखने के काम में चूस लिया जाता है। यह सब किस तरह से सिक्के के जादू से होता है, उस सिक्के के तिलिस्म को समझना लगभग असंभव बना दिया गया है।

इसलिए जरूरी है कि जीवन की प्राथमिक बातों को ओझल बनाकर व्यर्थ शब्द का आडम्बर हम न रचे। कर्म में से धर्म के विचार को निकाल कर फेंकें नहीं, वरन् धर्म में से कर्म की प्राप्ति करे। अन्यथा आकांक्षा जगाकर उस ज़ोर से जो कर्म की सृष्टि होगी वह हमें ही खा जायगी। रुपये से चलने वाली सरकार और उस जोर से होने वाले काम ऐसे ही आत्म-घातक होते हैं। वे सदा अधिकाधिक रुपया माँगते हैं और समाज में तनाव डालते हैं। सरलता उसमें पिसती और कुटिलता फैलती है।

कर्म को धर्म के ऊपर रखने पर फिर धन का मन के ऊपर दबाव न होना असंभव है। सरकार आज उसी रुपए को ऊंचा उठा कर उसी की छड़ी को मान बनाकर चल रही है। वेतन की ऊंचाई के माप में व्यक्ति की योग्यता समझी जाती है। इसलिए व्यक्ति की निगाह व्यक्तित्व पर नहीं वेतन पर है। ईमानदारी नहीं, तिकड़म वहाँ की नीति बनती है।

अब समाज एक है। सरकार में जो मान चलता है, उसी की समाज में प्रतिष्ठा होती है। वहाँ मान ऊंचे वेतन का है, यहाँ भी धन दौलत का है। मूल में मान वह रख कर भ्रष्टाचार और घूंसखोरी को रोका या मिटाया जा सकता है, यह थोथी कल्पना है। रिश्वतखोरी का फल बिना डंठल के पेड़ पर नहीं लगता। रुपये की भाषा में सोचना और चलना

स्वयं वह डंठल है। मूल वही रखेंगे, तो लगने वाला फल बदल नहीं सकता।

केवल कर्म, फल और उसके परिणाम को, सामने रखकर होता है। अर्थात उसमें आसक्ति और आकांक्षा है, उसमें स्वार्थ और लाभ की दृष्टि है। प्रेरणा वहाँ 'प्राफिट' की है।

लेकिन धर्म स्वयं कर्म को ही प्रतिष्ठित करता है। वह उसको कर्तव्य का रूप देता है। ऐसे फलासक्ति से वह कर्ता को मुक्त करता है। परिणाम में कर्म से सामाजिक बन्धन और वैषम्य उपजने की संभावना कम होती है। छीन झपट रह नहीं जाती और बन्दर-बाँट करने के लिए हठात तराजू लेकर किसी को शासक और व्यवस्थापक बनने का मौका भी कम होता है।

मूल में इस दृष्टि को नहीं रख सकेंगे तो जाने-अनजाने अपने सिरों पर हम एक अधिनायक को ला ही बिठावेंगे।

यदि उस संभावना को हम अनिष्ट और मानव जाति के लिए लज्जा-जनक समझते हैं तो मूल की ओर हमें जाना होगा। देखना होगा कि हमारा उत्पादन और वितरण, और उनके आधार पर बनने वाले हमारे संबंध, क्या हैं और क्या उन्हें होना चाहिए? अगर इन संबंधों में हिंसा और शोषण है तो अन्त में ऊपर अधिनायक को आना ही होगा, जो छत्र को और दंड को लेकर हम पर शासन करेगा। तस्वीर की तोप के मुंह की तरह उसकी बाहें ऊपर होंगी और उसकी छाया के नीचे बैठ कर हम खादी पहनेंगे और शान्ति चखेंगे!

ऐसा यदि नहीं होना है, और नहीं होने देना है, तो मूलभूत दृष्टि को स्पष्ट अपने मन में बिठाना और स्वयं उस पर आरूढ़ होना होगा।

जगह-जगह से सुनता हूँ कि कम्यूनिस्ट दर्शन तो ठीक है, कम्यूनिस्ट उपद्रव ठीक नहीं है। मुझे लगता है कि कम्यूनिस्ट उपद्रव और कम्यूनिस्ट फौजों की तो कोई चिन्ता ही नहीं है। उनमें रत्ती भर शक्ति नहीं है। लेकिन दर्शन के रूप में कम्यूनिज्म हमारे मन में जगह पा सकता है, तो

निश्चय है कि सिर पर एक रोज उसका अधिनायक भी सवार दीखेगा। कारण, वह दर्शन नहीं है, धर्म नहीं है, अ-कर्म नहीं है। वह प्रोग्राम है, वह कर्माग्रह है। धर्म की सिद्धि वहां कर्म में है और दर्शन का फलित भी कर्म में है। ऐसा कर्मवाद अगर हमारी श्रद्धा में बैठ सकेगा तो हम एक दिन कर्म के पुतले (औटोमेटन्स) होंगे और चाबुक लेकर कर्म-कारखाने का मैनेजर अपने असिस्टेंटों की जमात लेकर हमसे कर्म वसूल कर रहा होगा। कर्म जब तक धर्म-प्रेरणा से कर्त्तव्य (अर्थात् अ-कर्म) के रूप में हमारे द्वारा नहीं होगा, प्रत्युत आकांक्षा में आग्रह-पूर्वक फल-भोक्ता बन कर हम उसे कर रहे होंगे, तब तक निठल्ले राजनीतिज्ञों की पार्टियां, आपस में खींचतान और कोलाहल मचाती हुई, अदल-बदल कर हमारे ऊपर स्टेट के नाम पर शासन करने का दंभ रचती ही रहेंगी।

अहिंसा वह नीति है जो समाज को ऐसी आन्तरिक और सहज सुव्य-वस्था तक ले जायगी जहाँ शासन को अतिरिक्त परिग्रह के रूप में टिकने की आवश्यकता न होगी। व्यक्ति स्वेच्छा से श्रमिक होगा। अतः वह स्वतंत्र होगा, सहानुभूतिशील और सहयोग परायण होगा। संक्षेप में व्यक्ति नैतिक नियम से चलेगा और समाज 'स्टेट-विहीन' होगा।

किसी भी दूसरी पद्धति या तर्क से चलकर हम उस अवस्था में भटके बिना न रह सकेंगे जहाँ व्यक्ति केवल एक होगा और वह अधिनायक होगा, और व्यक्तित्वशाली केवल एक दल होगा और वह शासक दल होगा; शेष सब मनुष्य केवल अंक और औजार होंगे।

अहिंसा का नाम हमें विभीषिका से बचा न सकेगा। अहिंसा का काम ही उस दुस्संभावना के स्थान पर हमारे लिए एक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकेगा।

कांग्रेस को और कांग्रेसी सरकार को इस विश्वास के प्रकाश में अपने को कसना और संभालना आवश्यक है।

★

: ६ :

अपरिग्रह

: १ :

सब छोड़ो

धर्म वह जो धारण करता है। उत्पत्ति को, विनाश को, और उन दोनों से युक्त ध्रुव को वही धारण किये हुए है। अणु अखिल के साथ और पिण्ड ब्रह्माण्ड के साथ जिस सूत्र के सहारे अभिन्नता में पिरोया हुआ है वह है धर्म। स्थिति में गति और गति में स्थिति यदि सम्भव है तो धर्म के कारण। जो है उसके होने में कारण-भूत धर्म है।

इससे जो धर्म से छुट्टी चाहते हैं वे धर्म शब्द से नाराज हो सकते हैं, पर धर्म-तत्त्व से छुट्टी कभी किसी को मिल नहीं सकती। यहाँ तक कि नास्तिक अनजाने नास्तिकता को अपना धर्म बना बैठता है। पश्चिम का उपयोगवाद और समाजवाद चर्च से या देवमंदिर से छुटकारा पाले, पर वह भूलता है यदि मानता है कि इस तरह धर्म से ही वह बच जाता है। मंदिर, मस्जिद और गिरजे को तोड़कर उसकी जगह पाठशाला या अस्पताल बना देने से धर्म नहीं टूटता, केवल एक देवता की जगह अनजान में दूसरे देवता की ही प्रतिष्ठा करदी जाती है। पश्चिम का नया धर्म है शासन-धर्म। उनका देवता है स्टेट। उस स्टेट-देव की पूजा में जो आहुति पड़ी उतनी वलि युग-युगाँत से दूसरे किसी देवता पर नहीं चढ़ी होगी। पर इस आधुनिक देवता को कुछ वर्षों में कितने प्रभूत नर-रक्त का अभिषेक मिला और कितने असंख्य नर-मुंडों की अर्चना, इसका हिसाब नहीं है। भाषा के फेर से असलियत में फेर नहीं पड़ जाता। इसलिए अमुक शब्द पर रोष करने की आवश्यकता नहीं है। धर्म नहीं मिटा, नहीं

मिट सकता, इसका सीधा कारण यह है कि होते हुए परिवर्तनों के मध्य वह ध्रुव है। वह उस चिन्मय सिद्धान्त का नाम है जो जीवन की अभिव्यक्ति और उसके विकास को साधता है।

बीच-बीच में जो सुधार के या विनाश के आन्दोलन हुए वे धर्म को नहीं, धर्म के अपलाप को, उसके व्यभिचार को सुधारते या मिटाते थे। असल में वे उन समयों में प्रचलित लोकरूढ़ धर्माभासों के बीच सत्-धर्म को प्रतिष्ठित करने के हेतु से हुए थे।

ऐसा जो धर्म उसी की महिमा हमारे शास्त्रों में जगह जगह गायी गयी थी। जहां धर्म है वहां क्षेम है। धर्म सम्पदा है। धर्म के कण से भय का पहाड़ टलता है। धर्म की रक्षा का हाथ जिस पर है वही सुरक्षित है। इत्यादि।

मेरे लिए सचमुच धर्म से गहरा शब्द दूसरा नहीं है। हमारे जीवन में कई स्तर हैं। हमारी भाषा के अधिकांश शब्द उसके व्यावहारिक स्तर से नीचे नहीं जाते। वे नित्यप्रति के स्थूल व्यापार तक ही संगत हैं। जीवन-मर्म उनके सहारे छुआ नहीं जा सकता। किन्तु धर्म शब्द स्थूल व्यवहार से शुद्ध अध्यात्म तक सब स्तरों में एक सा व्यापक है। मूढ़ वनचारी काले पत्थर पर सिंदूर पोतकर अपना धर्म का काम चला लेते हैं। दार्शनिक हवा से भी बारीक बरीकियों में उतरकर धर्म की थाह नहीं पाते। यही मेरे निकट उस शब्द की विशेषता है। वह सब को सुलभ है, फिर भी अगाध पाण्डित्य के बल से भी उस शब्द की संभावनाओं को चुकाया नहीं जा सकता। इसी से उसकी जगह दूसरा कोई शब्द स्वीकार करने में मुझे झिझक है। पश्चिम से कई इज़्म चले हैं और नये-नये भी निकलते जाते हैं। ये जीवनादर्श के लिए नई नई संज्ञाएँ गढ़कर पेश करते हैं। कोई धर्म की जगह ह्यूमेनिटी (Humanity) कोई यूटीलिटी (Utility) कोई फ्रेटरनिटी (Fraternity) कोई-लिबर्टी (Liberty) विश्वबंधुत्व (World Brotherhood) आदि-आदि संज्ञाओं को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। मेरे मत से इन

शब्दों में समाई थोड़ी है। ये अधूरे हैं, ओछे पड़ते हैं, और बहुत जल्दी उनको किसी विशेषण के सहारे थामने की ज़रूरत हो जाती है। ये शब्द हमें एक-दूसरे से जोड़ते भी हों, समष्टि के साथ उनके सहारे योग बनना नहीं हो सकता। व्यक्ति समष्टि के प्रति जिस अभिन्नता का संवेदन भीतर लेकर जन्म पाता है वह धर्म से नीचे किसी और शब्द से व्यक्त नहीं हो सकती।

इस तरह यदि मैं कायल हूँ तो एक शब्द का और वह है धर्म। लेकिन जहां कोई नास्तिकता नहीं पहुँची वहाँ गीता की यह पंक्ति जाती है:—

सर्व धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज

धर्म नहीं छूट सकता, फिर भी गीता ने कहा कि उसको भी छोड़ दो। किसके लिए छोड़ दो? मेरी शरण में आने के लिये। 'मैं' कौन? 'एकम्' जो एक हूँ। सब (धर्मों) को छोड़ो, एक (मुझ) को लो।

धर्म के विवेचन के बीच गीता की इस पंक्ति को कभी नहीं भूलना होगा। इस पंक्ति के सार को भूलकर धर्म को पकड़ने से अधर्म हाथ लग सकता है।

हम तो जानते थे कि जो अखिलेश है, जो एक है और सर्वव्यापी है, धर्म जितने हैं उसी की राहें हैं। पर गीता ने कहा कि उन्हें भी छोड़ने को उद्यत रहो। मुझे पाना है तो उन्हें छोड़ना होगा।

ध्यान रहे कि यह नास्तिक का वचन नहीं है। नास्तिक का साहस यहाँ तक पहुँच नहीं सकता। वह बेचारा तो अपनी नास्तिकता के धर्म से बंधा है। गीता का यह वचन मुक्त-पुरुष का वचन है। और उसमें जो सत्य है वह इन्हीं शब्दों में आ सकता है, क्यों कि वह भाषातीत है।

आज जबकि पश्चिम से शंका का प्रबल झोंका आया है, जब अहंकृत बुद्धि सब आदर्शों को चीर-फाड़ कर श्रद्धा को असम्भव बना देना चाहती है, तब धर्म के मानने वालों को

जैसे चुनौती ही दी जाती है। पश्चिम को उन्हें जवाब देना होगा। जवाब तर्क का काफी नहीं होगा। क्योंकि तर्क से तो शास्त्र भरे पड़े हैं। और पश्चिम उन सब शास्त्रों को अपनी अलमारी में बन्द दिखला सकता है। जवाब इसलिए जीवन से ही दिया जा सकता है। और मैं मानता हूँ कि जो सच्चा धार्मिक है, यानी 'मामेक' के प्रति जिसका समर्पण सम्पूर्ण है, उसका जीवन पश्चिम को चुप करने वाला जवाब हो जायगा।

गीता की यह वाणी कि सब धर्मों को छोड़ो और मुझे लो, प्रबल-से प्रबल संदेहवादी को भारी पड़ सकती है। वह इसको नहीं, पचा सकता। वह तथा-कथित संदेहवादी और बुद्धिवादी असल में अपने माने हुए मत-विश्वासों से चिपटा हुआ है। गहराई से देखा जाय तो वह अपने मोह में कहीं अधिक अंध है। वह श्रद्धा नहीं है इसी से उसे मोह कहना पड़ता है। वह तो ईश्वर विश्वासी ही है, जो अपने को अथाह में छोड़कर कह सकता है कि मैं कुछ नहीं मानता क्योंकि मैं उस एक को ही मानता हूँ। वैज्ञानिक सत्य की, अथवा आध्यात्मिक सत्य की, उपलब्धि के लिए यदि कोई व्यक्ति अधिकारी और समर्थ हो सकता है तो वही जो कह सके कि मैं सब छोड़ दूंगा; लो, मैंने सब छोड़ दिया! यह शक्ति अपने को बुद्धिवादी, शंकावादी, कहनेवाले लोगों में हो कैसे सकती है? असल में वे अमुक मतवादी ही नहीं होते प्रत्युत अनजान में उस मत को अपनी कट्टरता में 'पंथ' बना लेने वाले होते हैं।

यहाँ एक बात की ओर ध्यान दिलाया जा सकता है। गीता में धर्म को छोड़ने के लिए नहीं कहा, धर्मों को छोड़ने के लिए कहा है। वहां बहुवचन का प्रयोग है। यानी अमुक नामों से चलने वाले अथवा अमुक वर्गों द्वारा माने जानेवाले जो अनेक धर्म प्रचलित हैं, वे अपने आप में मान्य और इष्ट होकर भी एक स्थिति में जाकर मानो पीछे छूट

रहनेवाले है। जिसमें द्विधा है ही नहीं उस एक धम की राह में, द्वैत और अनेकता पर चलने वाले अनेक धर्मों को बीच में ही छूट जाना होगा। गीता के मंत्र का यही अभिप्राय है।

मैं मानता हूँ कि ज़ाहिरा जो धर्म के नाम पर विषमता, अनबन और कलह देखी जाती है उसमें नाम ही धर्म का है। असल में तो उसके भीतर कारण राजनीतिक होते हैं। राजनीतिक से मतलब स्वार्थ-प्रेरित। क्योंकि धर्म में तो सदा स्वार्थ का विसर्जन ही होता है। गीता में ही नहीं सब धर्मों में ऐसे वाक्य मिल जायंगे। परन्तु फिर भी यदि धर्म के नाम पर गिरोह-बन्दी और वैमनस्य मिले तो जान लेना चाहिये कि मूल धर्मादेशों के प्रति असावधानी ही उसका कारण नहीं हैं, बल्कि गहरे में दुबका हुआ कहीं निश्चित स्वार्थ ही उसमें कारण बना हुआ है। जिसके सहारे गुट्ट या गिरोह थाम कर रखे जाते हैं, गीता में ऐसे नाम धारी धर्मों को ही छोड़ने के लिए कहा गया है।

सच यह है कि प्रभु एक है। उसको परम पिता कहें तो भी उसकी निकटता हम पूरी तरह जतला नहीं सकते। वह भीतर रमा हुआ है। वह घट-घट व्यापी है। वह पिता है, माता है, बन्धु है। जो कहो उसके लिए थोड़ा है। वह एक है, क्यों कि वह कुल है। उसके सिवा प्राणी को कुछ और नहीं पाना है। उसको पाना भी भाषा की अपूर्णता के कारण कहना होता है। वह अलग भी नहीं है कि उसे पाने कहीं जाना हो। सच पूछिये तो उसमें स्वयं खो जाना है। वह एक ही साथ परमात्म लाभ है। आत्मा तो दो हैं नहीं। इस तरह शेष में अपने को पाना और अपने में शेष को देखना, यही परमात्म प्राप्ति की साधना है।

मेरे निकट तो यह स्पष्ट है कि किस तरह इसी साधना को वृत्त में समाज सेवा, राष्ट्रसेवा, मानव सेवा इत्यादि सामयिक और ऐहिक सब

कर्तव्य अनायास समा जाते हैं। यह साधना लौकिक कर्म से विमुखता
नहीं बतलाती, प्रत्युत लोककर्म की दक्षता देती है—

"योगः कर्मसु कौशलम्"

किन्तु योग में कर्म-सुकौशल अपने आप में इष्ट नहीं है, वह तो
उसका अनायास प्राप्त फल है। योग में यदि व्यक्ति की ओर से
चेष्टा है, तो वह सीधे समाज के राष्ट्र के या मनुष्य के प्रति नहीं है; बल्कि
समग्रता और एकाग्रता के साथ परमात्मा के प्रति ही है। ईश्वर में
कौन सा समाज कौनसा राष्ट्र कौनसा इतिहास ऐसा है जो समाया हुआ
नहीं है। सचराचर जगत् सब उसकी झाँकी ही तो है। हाँ उस
कल्पनातीत विराट् के समक्ष वह झाँकी अत्यन्त स्वल्प है। और
सचमुच जितना कुछ हम जानते हैं, जान सकते हैं, कल्पना में ला
सकते हैं, कुछ उससे बाहर नहीं, उसी का अंश है। इसलिए धर्म
की भाषा यह नहीं कहती कि समाज के लिए मरो, देश के लिए मरो,
वह तो कहती है कि यज्ञार्थ जीओ। अर्थात् यज्ञ के लिए तो तुम हो
ही, और कुछ सम्भव ही नहीं है। पर उस यज्ञ के समर्थन के लिए
समाज, या राष्ट्र, या विश्व को क्यों अपने अहंकार की बुद्धि से खींच कर
लाते हो। यज्ञ का धर्म तो मैंने ही तुम्हें दिया है। मैंने जो तुम्हें
जीवन दिया है, उसके पीछे तुम्हें विश्राम देने को मेरी भेजी मौत भी
आ ही रही है। सो इस तरह मेरे हाथों आज भी तुम मरने के लिए
ही उद्यत हो रहे हो। पर वह मरना नहीं, मुझमें तुम्हारा लौट आना
है। इसलिए तुम्हारा इसके सिवा कुछ भी और कार्य नहीं रह जाता
कि तुम मेरी ही याद में जीओ कि मुझ में खुशी से लौट आओ।

हमारी लौकिक बुद्धि, तर्क बुद्धि, शायद इस बात को नहीं समझ
सकती। उसे बलिदान के लिए छोटे-मोटे नारे चाहिये। राष्ट्र
चाहिये, इनक़िलाब चाहिये। यज्ञार्थ जीवन अपने आप में कम
समझ में आता है; क्रांति झट समझ में आ जाया करती है। पर

लौकिक बुद्धि को भी इसमें दोष क्या दें, वह अपने बस तक ही चल सकती है। वह धर्म की भाषा को समझ की भाषा से बदलना चाहती है। वह अपने लिए ऐसा कर सकती है—यानी सामयिक आदर्शों की भी उपयोगिता है। पर प्रयोजन की भाषा से अनुभूति की भाषा जब कि भिन्न होती है, तब सदा गहरी और सच्ची भी होती है। तनिक रहस्यमयी-सी तो लगे पर उसमें गम्भीर और प्रचुर अर्थ भरा रहता है। वह इतिहास के युग-युग में जातियों और संस्कृतियों को प्रेरणा देती है। वह तो मानवजाति की अक्षय थाथी है। इससे समझ में न बंधने पर भी उसे श्रद्धा से स्वीकार ही करना पड़ता है।

धर्म की वाणी स्वरूप से अरूप,स्थूल से सूक्ष्म, पदार्थ से आत्मा और जगत् से ईश्वर की ओर बढ़ती है। हम जिन कई धर्मों को अपनी दुनिया में जानते हैं—जैसे हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म—वे भिन्न-भिन्न रूप में अलग काल, परिस्थिति, और देश में उस निराकार सर्वव्याप्त के आकलन के प्रयास हैं, जो मानव-जाति के अन्तःकरण में बहुत गहरे में बसा हुआ है। विविधता देश और काल की पृथकता के कारण उनमें आयी, पर वह एक ही सबका लक्ष्य होने से उन सब में अन्तर्गत एक-सूत्रता भी है। पर जहाँ उन सबमें व्यापा हुआ वह सूत्र दिखाई न दे वहां व्यक्ति क्या करे? इसके लिए गीता ने कह ही दिया;—इसको भी छोड़े, उसको भी छोड़े, और दोनों जिसके लिए बने हैं उस 'मुझ' को ले। वह 'मुझ' है, परमेश्वर। दर्शन की भाषा में उसे ही कहें परम-सत्य। और गीता की उस नीति को मैं अपनी ओर से संज्ञा दूं तो वह है, अहिंसा।

★

: २ :

दिगंबर

मनुष्य आता है तो वस्त्र साथ नहीं लाता। जाता है तब भी वस्त्र उसके साथ नहीं जा जाते। वस्त्रों का उपयोग इसके बीच के काल के लिए ही है।

वस्त्र का समर्थन दो प्रकार के कारणों में है, एक दैहिक, दूसरा सामाजिक। वस्त्र सर्दी-गर्मी से हमें बचाते हैं और लज्जा ढँकने के काम आते हैं।

दैहिक कारण का जहाँ तक सम्बन्ध है वस्त्र की उपयोगिता सापेक्ष है। सर्दी-गर्मी तो ऋतुप्रभाव से आते ही हैं। फिर भी शीत से बचने के लिए किसी को कम और दूसरे को ज्यादा कपड़ों की आवश्यकता होती है। पशु-पक्षी बिना कपड़े के ही काम चलाते हैं। जंगली लोग, या जंगली अवस्था में सभ्य लोग, छाल और खाल से काम लिया करते थे, उनके शरीर की सहिष्णुता और अनुकूलता अधिक थी। पशु-पक्षियों का शरीर ऋतुओं के प्रति अनायास भाव से अधिक सहिष्णु है और प्रकृति उन्हें इसमें मदद देती है। मनुष्य में शनैः शनैः देह की इस क्षमता का ह्रास होता गया है। ऋतुओं को अब वह अपने खुले तन पर सहन नहीं कर सकता। धूप और हवा से बचने के लिए उसे वस्त्र की आवश्यकता है।

इसी को दूसरी भाषा में सभ्यता का विकास कहते हैं। उस विकास के साथ देह का ह्रास हुआ है। मनुष्य, कहते हैं, उस विकास में उत्तरोत्तर

सामाजिकता प्राप्त करता गया है। और सच पूछिये तो वस्त्र की आवश्यकता के पीछे दैहिकता उतनी नहीं जितनी कि सामाजिकता कारण है। ऋतु तो नग्न तन पर सह भी ली जाय, पर सभ्यता तन को नग्न नहीं रहने देती है। वस्त्र इस तरह सर्दी-गर्मी के लिए कम और सभ्य व्यवहार के लिए ही अधिकतर आवश्यक है।

यों भी दीखता तो यह है कि आज की सभ्यता मुख्यता से वस्त्र पर टिकी है। बढ़िया कपड़े सामाजिक उच्चता के लक्षण माने जाते हैं। वस्त्र में कीमत डालने के लिए सोने और चाँदी के तार बिने जाते हैं, चाहे उनका स्पर्श तन को तनिक भी सुखकर न होता हो।

इस वस्त्रमयी लौकिक सभ्यता को गहराई से समझना चाहिये। तब जान पड़ेगा कि उसके जड़ में कीड़ा है। वहाँ सामाजिकता की सिद्धि नहीं बल्कि शोषण की वृद्धि है।

सामाजिकता निःसन्देह व्यक्ति के विकास के लिए आवश्यक है। मिल-जुलकर ही यहाँ काम चल सकता है। सहयोग सदा अनिवार्य है। व्यक्ति एक पैदा हुआ है, पर इसलिए कि यथासम्भव किसी के भी प्रति वह दूसरा न रहे। तभी सूत्रकार ने कहा—"परस्परोपग्रहोजीवानां"। एक दूसरे के काम आना जीव का लक्षण है। मनुष्य के इस स्वभाव में से सामाजिकता को जन्म मिला।

इस सामाजिकता के उदय के साथ वस्त्र का उदय हुआ। पशु-पक्षी वस्त्र की आवश्यकता से मुक्त हैं, क्योंकि उनमें सचेष्ट सामाजिकता नहीं है। उनमें लज्जा और मर्यादा की भावना ही नहीं है। वे स्वच्छन्द हैं। मनुष्य मर्यादाशील प्राणी है। उसका समाज है, जिसमें श्रेणियाँ हैं, छोटे बड़े हैं, मान संभ्रम है। मनुष्य समाज में सबके अधिकार बराबर नहीं हैं, कर्तव्य भेद से उनके अधिकारों में भी भेद है। उनमें परिवार भावना है और सम्बन्धों में दायित्व और पवित्रता की कल्पना है। शिक्षाक्रम से उनमें गुरु-शिष्य का भेद है और एक चरण छूता दूसरा माथे पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देता है।

यह जो मर्यादाशीलता का उद्भव और विकास है, यही क्या मनुष्य जाति की अर्जित संस्कृति और सभ्यता नहीं है ? इसी के साथ वस्त्र की संस्था ने विकास पाया है।

इस दृष्टि से वस्त्र के विरुद्ध कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वह लोक जीवन के लिए अनिवार्य है। उससे मर्यादा-शीलता और शुचिता का रक्षण होता है। वह वासना पर आवरण है। पर नहीं, वस्त्र वहीं तक नही रहा है। वासना को ढंकने नहीं, दिखाने या बढ़ाने तक का साधन वह होने लगा है। वस्त्र की संस्था इधर आकर तो अब रोग की गाँठ ही हो पड़ी है। कारण है मेरी समझ में हम मनुष्यों का समाज को अपनी परिधि मान रहना और समष्टि-दृष्टि को भूल बैठना।

समाज को परिधि मानकर चलना मेरी दृष्टि में भ्रांत है। मेरा मानना है कि उसके कारण हमने बहुत रोग अपने बीच बसा लिये हैं और सभ्यता अपनी मौलिक आवश्यकता से दूर पड़कर इतनी कृत्रिम होती जा रही है कि वह पाखंड बन उठी है। आवश्यकता है कि उस सभ्यता को फिर अपने मूल आदर्श से जोड़ा जाय और उसे स्वस्थ किया जाय।

समाज में मान और मान्यता प्राप्त करना यदि उन्नति का लक्ष्य हो तब तो वस्त्र को आवश्यक रूप में इसका साधन बनाया ही जायगा। तब मनुष्य की चेष्टा वस्त्र की संस्था को जटिल बनाने में लगेगी। यहाँ तक कि वह एक समस्या और शोषण का केन्द्र बन रहेगी। लोग हर क्षण नया फैशन निकालेंगे और बीते क्षण का फैशन पुराना पड़ जायगा। नतीजा यह होगा कि लोग उस दौड़ में वस्त्रों का ढेर पास रखकर भी यह संतोष न रख सकेंगे कि वे काफी आधुनिक हैं। हर कपड़ा क्षण चलने के साथ पुराना पड़ता जायगा और नये की माँग होती जायगी। डिजाइन और कट के नये-नये आविष्कार होंगे और जाने कितने न लोगों की बुद्धि इसी में लगी रहा करेगी। इसके कारण दूसरी ओर वस्त्र का अकाल होगा और लाज और शीत से तन ढकने को भी वे चीथड़ा न पायेंगे।

यह चमक-दमक की आसुरी सभ्यता होगी और वहाँ वैभव के शिखर आसमान को चूमना चाहेंगे, हीरा-मोती और सोना-चाँदी से वस्त्रों को मढ़ा जायगा, कि उधर अनेक नंगे रहें, जिन्हें रहने को ठौर और खाने को कौर न हो !

यह सभ्यता आदमी को परिग्रह के संचय में सुख दिखायेगी और अन्तस्थ सहानुभूति और अहिंसा की भावना को चूसती जायगी। मनुष्य तब अपने स्वार्थ में रत होकर शोषक बनेगा और अपने को सभ्य मानेगा।

सामाजिकता को अन्तिम समर्थन और उसी को चरम धर्म मानकर चलने में यह खतरा है ही। भौतिक दर्शन उसी में हमें ला पटकता है। अगर दीखने वाला पदार्थ ही सच है तो उसका भोगोपभोग जीवन का चरितार्थ बनता है। तब पदार्थ मात्र भोग्य होता है और मनुष्य उनका भोक्ता ठहरता है। इस वृत्ति में से स्वार्थ को महत्व मिलता और संपदा-आडम्बर का संचय होता है।

किन्तु मैं मानता हूँ कि सामाजिकता से घिरी इस वृत्ति में सच्ची समाजिकता का बीज नहीं है। समाज में उससे विषम ग्रंथियाँ पड़ती हैं। विरोधी स्वार्थों को लेकर उनसे वर्ग, समूह, और सल्तनतें बनती हैं जो अपनी अहंता में दूसरों से स्पर्द्धा ठानती हैं। इससे विग्रह और विस्फोट को जन्म मिलता है।

वे लोग जो लौकिकता की परिभाषा में ही धर्म को देखते हैं जाने अनजाने इस स्वार्थ-विग्रह की आंच में ईंधन पहुँचाते हैं। अतः आवश्यकता है कि उस आदर्श को हम सदा स्मरण में रक्खें जो समाज पर आकर नहीं रुकता, आगे समष्टि तक जाता है; जो अपनी अनुभूति में मानवेतर समाज को भी वैसे ही अपनाना चाहता है जैसे मानव-समाज को।

समाज के लिए वस्त्र आवश्यक है, किन्तु समष्टि के पक्ष में उस वस्त्र का भला क्या अर्थ रह जाता है ? सूर्य क्या पृथिवी के प्रति अपने

को ढक ले, या पृथिवी सूरज से घूंघट ले ले ? आकाश के चमकते तारे, बहती वायु, खुला आकाश, झूमते पेड़ और तरंगित सागर—क्या ये सब भी वस्त्र ओढ़े और पहनें ? तब वह पुरुष ही भला कैसे अपने को कपड़ों में मूंदे कि जिसे उन सबमें रसलीन और समस्वर हो रहना है। दिगंत व्यापी अंबर उसे अंबर है। कपड़ा, जो तन को धूप के स्वास्थ्य और वायु की थपक से वंचित रखता, क्यों उसके लिए आवश्यक है ? जिसे वायु के साथ बहना और धूप के साथ खिलना है, जिसके प्राण अपनी व्याप्ति में कोई परिधि नहीं मानते और लोकांत को छुए बिना जिसकी सहानुभूति चैन न पायगी—ऐसा महा अहिंसक पुरुष किससे बचने को कपड़े पहने ? जिसे सब के प्रति खुल रहना है, सब को अपने में ले लेना है, वह कैसे वस्त्र का व्यवधान सहे ? क्या वस्त्र ऋतुओं से और सत्यताओं से अपने को बचाने का निमित्त ही नहीं हैं ? क्या वह भीति का प्रतीक ही नहीं है कि जिसका सामाजिक रूप लज्जा और दैहिक रूप सर्दी-गर्मी है। लेकिन वह कि जिसमें निखिल के प्रति प्रीति है, जो ऋतुओं का आह्वान करता है, और प्राणी मात्र के प्रति जिसका हृदय करुणा से खुल पड़ा है, उसमें किसके प्रति भीति शेष रहे कि वस्त्र की आवश्यकता हो ?

यह दिगम्बरता का आदर्श असामाजिक नहीं है, यद्यपि सामाजिकता से सीमित नही है। सामाजिक होकर मानव प्राणी समाप्त नहीं है। अपने जैसे दूसरे मानवों के साथ संपर्क साधकर ही वह परिपूर्ण नहीं हो जाता। आगे भी उसकी संभावनाओं को विस्तार पाते जाना है। उसे वनस्पति से, वायु से, पृथिवी से, जल से, ऋतुओं से भी सामंजस्य प्राप्त करना है। उसके लिए जगत् मानव जाति तक परमित नहीं है, समूचे ब्रह्माण्ड के प्रति उसमें निमंत्रण है। ऐसा पौरुषमय पुरुष समाज से पार, समष्टि में मिलने का प्रयासी दीखता है, और, मानव को ही नहीं, निखिल जगत को उसका आत्मदान प्राप्त होता है।

यह मुक्ति का आदर्श है। यह आदर्श उपयोगिता की सीमा

रेखाओं से आगे जाता है। यह लोकोपकार की भाषा की पकड़ में नहीं आता और आत्मकैवल्य की भाषा ही इसे छू पाती है। कारण, लोक तो भी ससीम है, आत्म ही असीम है। जिसने आत्म को पाया उसे कुछ पाने से न रहा। जिसने अपने तईं कुछ न रखा उसने सबको सब देकर सबका सब पा लिया। यह आत्म-साधना और आत्म-मुक्ति का आदर्श सच्चे लोक-कल्याण का प्रकाशक है। नहीं तो उपयोगिता-वादी समाज-दर्शन और तदनुसारी लोक-प्रवृत्तियाँ सचाई में विशेष लोक-मंगल नहीं साध पातीं। कारण, जहां वे मानतीं लक्ष्य वहां नहीं उसके पार है, और मानव-समाज पर सत्य समाप्त नहीं, सत्य उससे बड़ा और व्यापक है।

जो दृष्टि सामाजिकता से सीमित है वह दिगम्बरता के आदर्श को नहीं समझ सकती। लेकिन स्पष्ट है कि समाज की सत्ता इतर सृष्टि से स्वतन्त्र नहीं है। विज्ञान बताता है कि कैसे सहस्राब्दियों के अन्तराल में मानव को जन्म मिला और उसमें नाना चेष्टाओं ने विकास पाया। वह बताता है कि किस प्रकार मानव शेष सृष्टि से अलग नहीं, उसका अंगभूत ही है। मानव-इतिहास और मानव-सभ्यता ब्रह्माण्ड की शेष प्रक्रिया से अलग होकर सम्पन्न नहीं होते। मानव-चेष्टा विश्व-व्यापी विराट कर्मचक्र का एक अंग ही है। उससे उच्छिन्न होकर उसका मूल्य कुछ भी नहीं रह जाता।

यह समष्टिमूलक दृष्टि धर्म की है। उसका आरंभ-बिंदु आत्म-चेतना है। उस चेतना को परमात्म-चेतना में रूपांतरित करना है। व्यष्टि को समष्टि होना है। इस साधना के मध्य में ही सामाजिकता आ जाती है। व्यष्टि अपने को समष्टि में लीन करने की साधना में अनायास उत्तरोत्तर सामाजिक होता जाता है। उसका अहंकार शांत होता और उसकी सहृदयता प्रसार पाती जाती है। हिंसा से वह अहिंसा की ओर बढ़ता है। यहाँ तक कि अपने लिए वह कुछ नहीं रहता, कुछ नहीं रखता, और आत्यन्तिक अपरिग्रही बनता है।

आज अभाव की समस्या है। समझा जाता है कि उत्पादन से वह दूर होगी। पर उत्पादन की कमी से वह पैदा नहीं हुई, वितरण की विषमता के कारण वह बन आयी है। इससे उत्पादन के गुणानुगुणित करने से भी वह तब तक दूर नहीं होगी, जब तक वितरण की व्यवस्था समीचीन नहीं होगी। आज तो तृष्णा का अन्त नहीं है। जो जितना पा जाय थोड़ा है। इससे कोरे उत्पादन बढ़ाने से इसके सिवा और क्या होगा कि जिनके पास बहुत है वह और बहुत हो जायगा और जिसके पास कम है वह उससे भी कम रह जायगा। अरे, उद्योगीकरण से यही तो हो रहा है। करोड़पति अरबपति और दीन दरिद्र बन रहा है। प्रचुरता और अभाव दोनों साथ-साथ बढ़ रहे हैं!

ऐसे समय दिगम्बरता का ही आदर्श काम आ सकता है। वह अपरिग्रह-धर्म का चरम उत्कर्ष है। आवश्यकता बढ़ाकर रहम समस्याएं भी बढ़ाते ही हैं। इस तरह बंधन बढ़ता है और मोक्ष हटता है। लखपति और करोड़पति, राजा और सम्राट्, क्या अपने लाख-करोड़ और राज-सम्राज्य के स्वामी होने के बहाने कैदी ही नहीं हैं? क्या वे आजाद हैं, कि जैसे पक्षी आजाद होता है? क्या उनका वैभव जकड़ और बड़प्पन बोझ भी नहीं है? और इधर संत है कि सब घर उसे समान हैं, सब जन उसके अपने हैं, और कोई परिधि उसकी आत्मा पर बाधा बनने के लिये नहीं आ पाती है।

अपरिग्रह का यह आदर्श जितना अनिवार्य है उतना दुर्गम भी है। धन्य हैं वे कि जो उस तक पहुँचते हैं। वे, कि जिनके लिये वह साधना नहीं अनायासता है। वे सचमुच मेरे लेखे धन्य हैं कि दिगम्बरता जिनकी अहिंसा की अभिव्यक्ति है।

अमरीका और जर्मनी आदि देशों में नग्नता के प्रयोग हुये हैं। पाया गया है कि दैहिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए नग्नता गुणकारी है। लेकिन विचार का वह धरातल मेरे लिये अप्रस्तुत और अविचारणीय है। जिस

दिगम्बरता के आदर्श की बात ऊपर कही, उसकी भूमिका एकदम भिन्न है। वह आध्यात्मिक है। कैवल्य की दिगम्बरता स्वास्थ्य के शौकीन नागरिक की नग्नता नहीं है। तीर्थङ्करी दिगम्बरता में अहिंसा की, हृदय की, अपार करुणा की अभिव्यक्ति है। उसमें अभाव तो है ही नहीं, एक परिपूर्णता है। उसमें शौक या आग्रह नहीं है, एक आन्तरिक अनिवार्यता है। आकाश को किस अतिरिक्त वस्त्र की आवश्यकता है? उसी तरह धूप को और चाँदनी को, दिन को और रात को, किस आवरण की आवश्यता है? वह उन्हें नियम नहीं, निजता है। इसी तरह दिगंबर केवल-स्थिति का वेश है। अतः उस दिगंबरत्व के पक्ष में साधारणतल के तर्कों की संगति मुझे तनिक भी नहीं दीखती है। मेरा मानना है कि विदेशों की नग्नता के प्रयोग किंचित् असामाजिक प्रवृत्ति के सूचक हैं, जबकि सच्चे योगी की दिगम्बरता का आदर्श विश्वजनीन हित-साधना में से ही प्राप्त होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श का मूल्य स्वतन्त्र है। वर्तमानता की त्रुटि उस पर आरोप बनकर नहीं आ सकती।

: ३ :

अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप

एक भाई ने अपरिग्रह की बात उठाई। कहा कि संस्था के लिए भी धर्म अपरिग्रह क्यों न हो? व्यक्ति के पास बचा हुआ धन नहीं चाहिए, तो संस्था के पास कोष क्यों चाहिए? महीने के खर्च से ज्यादा होना ही गलत। उपयोगी और प्रिय बनकर जो जीयेगा उसे साधन की चिन्ता न रहेगी। संस्था के लिए भी इस नीति में अपवाद नहीं हो सकता। आगे से हम वर्ष की प्राप्ति को वर्ष में ही खर्च कर देना सोचते हैं, कुछ भी बचा नहीं छोड़ना चाहते। इसमें हमारी श्रद्धा की परीक्षा होगी और जड़ता को जमने का अवकाश न रहेगा।

यह भाई सांस्थानिक हैं और उनकी बात मुझे अच्छी लगी। पर निश्चिन्तता मुझे नहीं हुई। पूछा, 'देखिए आप शाला चलाना चाहते हैं। उसके लिए जगह कहीं तो होगी। वह होगी भी किसी की। वह प्रेम से मिलेगी या दाम से। अब जगह या मकान तो परिग्रह ही है। अपरि-ग्रह में उसके साथ क्या करना होगा?'

भाई को वह प्रश्न शायद बेकार तक मालूम हुआ। उन्हें प्रतीत हुआ कि धन इसी तरह किसी-न-किसी चोर-मार्ग से हमारे विचार में घुस आया करता है। उससे अनर्थ होता है। संस्था स्थापित-स्वार्थ हो जाती है। यानी, संस्था का स्वयं एक स्वार्थ बन आता है। इस तरह अपरिग्रह की कठोर चौकसी से चले बिना गति नहीं। आवश्यक खर्च निकलते ही आना है। नहीं अगर निकले तो मोह क्या, प्रयोग ही तब छोड़ देंगे। इत्यादि।

भाई में उत्साह था। पास पैसा भी था। अपने आदर्श भाव में वह निःशंक थे। इस सबसे मेरे मन में प्रशंसा का उदय हुआ।

यह बात बम्बई की है। बम्बई धन की नगरी है। निर्धन अव्वल तो वहाँ पहुँच नहीं सकता, पहुँचे तो उसका पता नहीं चल सकता। यानी हम दोनों वहाँ अपरिग्रह की बात चला सके, तो इस आधार पर कि धन नीचे था। धन बिना बम्बई पहुँचते कैसे? कंद-फल-मूल जहाँ तरसते हैं कि कोई उन्हें स्वीकार करे, ऐसे वन में तो हम थे नहीं। आज ऐसा वन कहीं बचा है इसका भी निश्चय नहीं। इसलिए जान पड़ा कि अपरिग्रह की बात धन की है, धन के कारण वह धर्म है।

अपरिग्रह में मुझे आस्था है। हो भी कैसे नहीं। कारण, किसी को, कुछ को मैं अपना कहूँ तो वह टिकेगा कब तक? लाया मैं क्या साथ था, और ले भला क्या जा सकता हूँ? जिन्दगी का सफर अकेला है और बे साथ। इसलिए 'मेरा यह' और 'मेरा वह' मानना भ्रम ही है। भ्रम पोस सकता हूँ, पर कै घड़ी? अन्त में तो उसे टूटना है। इससे पहले से भ्रम न रखना क्या समझदारी नहीं है? अपरिग्रह, यानी 'मेरा नहीं'। इस 'मेरे' के भाव को हम क्रम से सब कहीं से उठा लें तो उसे अपरिग्रह की सिद्धि माननी चाहिए। जितना ज्यादा मेरा होगा उतना मैं बिखरा और उलझा रहूँगा; जितना कम रहेगा उतना स्वतंत्र और स्वस्थ रहूँगा। यह बात सीधी है और अमोघ है।

पर फिर भी दिक्कत होती है। उस दिक्कत को पकड़ना है, टालना नहीं है।

धर्म आत्मा की चिन्ता करता है और उसी ओर से चलता है। आत्मा क्या, यह कहते नहीं बनता। कहने चलते हैं, तो नकार की भाषा हाथ रह जाती है। जो है, वह नेति है। इससे धर्म की भाषा विधि-निषेध की हो जाती है। वहाँ निषेध द्वारा विधान करना है, अन्यथा विधि बनती ही नहीं। सत्य से, ब्रह्म से, या उस प्रकार के निर्गुणात्मक स्वयं-भावी किसी

दूसरे शब्द से आगे चलते ही नकार शुरू हो जाता है। जैसे अहिंसा, अपरिग्रह, अस्तेय, अक्रोध आदि।

'अ' निश्चय ही यहां सूचक मात्र है। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, न वस्तु का अभाव अपरिग्रह है। ऐसा हो तो धर्म अभावात्मक हो जाय। 'अ' अभाव का नहीं, भाषा की असमर्थता का द्योतक है। यह जान लें तो धर्म का रूप बदल जाता है। संसार से तरने के साथ स्वयं संसार को तारने की शक्ति बन जाता है। तब वह प्राण-वेग को मुक्त करता है। समस्या से वह बचता नहीं, उसके हृदय में जाता है और वहाँ से उसे परिष्कार देता है।

अपरिग्रह नया धर्म नहीं है। चिन्मय होकर नया वह हो भी कैसे सकता है? वह तो सनातन है। लेकिन जिस अपरिग्रह पर तीर्थङ्कर निर्जन वन में दिगम्बर हो रहे, रंचमात्र आवरण अपने ऊपर नहीं ले सके, उस अपरिग्रह से आज के युग के गाँधी जी का अपरिग्रह नया है। दिगम्बर की जगह अपरिग्रह में यहाँ ट्रस्टी होना है।

गांधी जी का दिया हुआ 'ट्रस्टी' शब्द मानों अवसर की रक्षा करता है। अपरिग्रहवादी की बात भी रह जाती है और परिग्रह वाले की ममता पर भी जैसे आघात नहीं पड़ता। वामपक्ष विचारक इसीलिए उस शब्द की खिल्ली उड़ाता है। दक्षिण पंथ का विवेचक भी उससे सहज अतृप्त रहता है। यह 'ट्रस्टी' (संरक्षक) शब्द दोनों के सन्तोष और असन्तोष का कारण है। इस शब्द की ओट में सारा पूँजीवाद सुरक्षित रखा है, ऐसा साम्यवादी का अभियोग है। उधर ध्येयवादी भी, जो तप में तृप्ति खोजता है, इस शब्द में भोग के प्रवेश के लिए द्वार खुला देखता है।

फिर भी इस शब्द को सहसा हमें फेंकना नहीं है। पूँजी जिसके पास है वह पूँजी का अभिभोक्ता न होकर सिर्फ अभिभावक होगा, यह बात तब तक कैसे मानी जा सकती है जब तक निजी सम्पत्ति का ही कानूनन लोप न हो जाय? और निजी सम्पत्ति का निर्मूलन यानी सम्पत्ति का समाजी-

करण। इस विचार-धारा का मन्तव्य है कि आत्मा की ओर से चलकर बात को व्यक्ति के मन पर छोड़ देना पड़ता है और यहीं सब चौपट हो जाता है। नहीं, उसे व्यवस्था की ओर से लेना और बाकायदा कानून का रूप दे देना होगा। यह साम्यवादी विचार-धारा है, जिस में बात को भावनाश्रित नहीं छोड़ा जाता। उसका कहना है कि ऐसे तो हर अन्याय से पूँजी बटोरकर ट्रस्टी शब्द के सहारे सकुशल बने रहने की गुंजाइश है, या कि आगे बढ़कर फिर दानी, दयालु और उपकारी बनने तक का मायाचार चल सकता है। नहीं, साम्यवाद वैसा अवकाश न देगा। वह व्यवस्था ऐसी चौकस करेगा कि जिस में दान के नाम पर संग्रह न हो सके।

स्पष्ट है कि साम्यवादी की तर्क-शृंखला में कहीं कोई कड़ी ढीली नहीं है। शुद्ध आत्मदृष्टि से तो वह सारी कड़ी तर्कशून्य ही है। कारण, उस दृष्टि में जगत् माया है, मिथ्या है। वस्तु-मात्र 'पर' है, और उसकी प्रतीति छलना है। उस अर्थ में अपरिग्रह पर यह सोचने का जिम्मा ही नहीं कि आत्म से शेष अनात्म का क्या होता है। किन्तु आत्म के प्रति जो अनात्म है, क्या वह परमात्मा के प्रति भी अनात्मीय ही है ? तब तो पर-मात्मा के अतिरिक्त भी दूसरी सत्ता को मान लेना होगा। यदि परमात्मा है ही वह जो अद्वैत है; जिसमें जो है सब है; काल एवं आकाश, जो भेद-बोध में निमित्त है, स्वयं जिसमें होकर हैं; तो मानना होगा कि 'स्व' और 'पर' की भाषा 'स्व-पर' में ऐक्य साधने की दृष्टि से ही है। उसका भी सापेक्ष मूल्य है, नितान्त में भेद नहीं है।

यों देखें तो आत्म की ओर से यदि दृष्टि है, तो दर्शन वस्तु की ओर से है। द्रष्टा और दृश्य का एकीभाव दर्शन है। इस रूप में अपरिग्रह की कृतार्थता वस्तु से अछूते रहने में नहीं है, वस्तु के मध्य खुले रहने में है। यानी वह, जो अपरिग्रह के प्रति 'अ' से आरंभ करके उस 'अ' पर ही समाप्त होता है, मुक्ति साधन नहीं कर सकता। 'अ' पर बल देने से वह बल अपने आप परिग्रह पर भी जा पड़ता है। यह आन्तरिक

अनिवार्यता इतिहास की इस घटना में घटित देखी जा सकती है कि अपरिग्रह पर सब से अधिक आग्रह रखनेवाली जाति, यानी जैन, मानों लगभग निरपवाद भाव से आज वैश्य वर्गी है। आधुनिक जैन का व्यवहार-धर्म संग्रह है, क्योंकि अतिरिक्त बल से उसका आदर्श-धर्म असंग्रह है। जैन नागरिक धनी और अनगारी दिगम्बर (तक) हैं। इस विरोधाभास के मर्म में जाने से ऊपर की बात साफ हो जानी चाहिए।

अपरिग्रह में जब मुख्यता से हम परिग्रह समझे जानेवाले पदार्थ से अपनी आत्मरक्षा खोजते हैं, तब अनजान उसकी पदार्थता को, जड़ता को, हम महत्ता पहना रहे होते हैं। यह सम-भाव के लिए घातक स्थिति है। स्वस्थ चेतना पदार्थ से बचने की नहीं सोच सकती, बल्कि उसकी सृष्टि और उसकी संघटना में लगती है।

इस तरह परिग्रह के विचार को वस्तु के उत्पादन और निर्माण के साथ चलाने की आवश्यकता और उपयोगिता प्रकट हो आती है। सब कुछ मेरा हो यदि यह मेरी वृत्ति है, तो मेरा कुछ न हो यह मेरी साधना की दिशा हो सकती है। पर जगत् की समस्या है कि क्या, कितना, किस-किस का है। अपरिग्रह इस समस्या के निपटारे में यहाँ तक तो अनिवार्य सहायता करता है कि वह मुझे स्वयं में दावेदार होने से बचाकर एक तार के कसाव को कम करता है। अर्थात् वह मुझे मेरी समस्या में उत्तीर्ण करके जगत की समस्या को स्वीकार करने योग्य बना देता है। किन्तु उससे आगे जैसे उसका अ-कार काम नहीं देता, आगे जिसको परिग्रह माना उसी पर-पदार्थ की समीचीन व्यवस्था का प्रश्न आता है। जाहिरा वह पदार्थ में असंलग्न नहीं, संलग्न होने का प्रश्न है। गहरा देखें तो वह प्रश्न भी अपरिग्रह-धर्म का ही रूप है। मेरी अंतरंग-निवृत्ति ही उस प्रकार की प्रवृत्ति में मुझे बल दे सकती है। अन्यथा पदार्थ की ओर से मुँह मोड़कर साधी जाने वाली अपरिग्रही निवृत्ति मुझमें अंतर्भूत प्रवृत्ति की जड़ों को क्षुब्ध और अन्ततः उद्दण्ड ही करने वाली है।

मैं चीज न रखूँ, इसमें चीज कहीं जाती नहीं, चीज की व्यवस्था का सवाल ज्यों--का--त्यों पड़ा ही रहता है। और मैं अगर उससे वंचित हो कर अपने को कृतार्थ और उस चीज की अपेक्षा में अपने को एकान्त बना लेता हूँ, तो उस चीज को लेकर पैदा होने वाली अव्यवस्था को काटने में मैं असमर्थ बनता हूँ। ऐसे नागरिक और सामाजिक दायित्व से मैं च्युत होता हूँ। अब कोई आदमी नहीं जो असामाजिक ठहर पाये। साधु-सन्त बल्कि अधिक ही सामाजिक होते हैं। मेरा परिवार इना-गिना हो, साधु को तो वसुधा कुटुम्ब है। इसलिए अपरिग्रह को पदार्थ की अपेक्षा में समझकर केवल नकार को साधने चलना दायित्व से बचना है।

इसीलिए आध्यात्मिक के प्रति-पक्ष में सामाजिक दृष्टिकोण को जन्म लेना हुआ। सम्पत्ति समाज की मानकर उसे अपनी मानने से मैं सहज उठ जाता हूँ। समाज की है, इसमें यह तो गर्भित ही है कि वह मेरी नहीं है। ऐसे अपरिग्रह समाजवाद के पेट में ही रखा है। अपरिग्रह की संगति समाजवाद से भी आगे है, यह बताने के लिए अपरिग्रह को समाजवाद-वाले प्रश्न का हल करने आगे आना होगा।

समाजवादी दृष्टिकोण लेकर चलनेवाला दर्शन तो विज्ञान भी बन गया। विज्ञान से भी आगे वह राजनेताओं के व्यवसाय का पथ-प्रदर्शक बन गया है। उसने विशुद्ध तर्क-गणित से जमा फैलाकर बता दिया है कि सब कुछ समाज का है, और इस सत्य को इस प्रकार संगठन में लाना होगा। समाज का अनुशासन शासन-संस्था में मूर्त होगा, अर्थात् स्वत्त्व सब राज्य में केन्द्रित होगा। व्यक्ति तब 'मैं' और 'मेरे' से सहज छूट जायगा। व्यक्ति की शक्ति और चेष्टा इस भांति समाज-हित में व्याप्त होकर कृतार्थता प्राप्त करेगी।

"सम्पत्ति ?"

"सम्पत्ति सब राज्य की होगी। स्वयं व्यक्ति राज्य का होगा।"

"राज्य क्या होगा ?"

"वह सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकत्व (डिक्टेटरशिप) होगा।"

"सर्वहारा-वर्ग क्या ?"

"वह वर्ग जिसके पास सम्पत्ति के नाम पर सिर्फ श्रम है। श्रम धन की आत्मा है। वह सम्पत्ति का वास्तविक मूल्य है। इससे राज्य शुद्ध श्रमिक-वर्ग का आधिपत्य होगा। और सम्पत्ति श्रम की धरोहर के रूप में राज्य के हाथ होगी।"

हम देखें कि इस समग्र तर्क-शुद्ध रचना में अपरिग्रह की हानि कहीं नहीं है। और अ-काराग्रही अपरिग्रह इसके समक्ष कदाचित् मौन और निरुत्तर हो जा सकता है।

फिर भी हानि है। कारण, वह सिर्फ नक्शा है। नक्शे की नदी में नहाया कभी नहीं गया। राज्य एक धारणा है, जैसे कि नक्शे की नदी धारणा होती है। धारणा के साथ व्यवहार आसान होता है। समूची गंगा नक्शे में हमारे अँगूठे के नीचे आ सकती है, जब कि मुझ से लाखों जनों को लाखों वर्षों से गंगामाता अपनी गोद में सुलाती चली आ रही है। इससे राज्य का भी यथार्थ-मानव यथार्थ से कुछ भिन्न नहीं हो सकता। नाम बदलने से ही काम नहीं चल जाया करता। मैनेजिंग एजण्ट डायरेक्टर हो जाय, या डायरेक्टिंग कमिश्नर या सुपरवाईज़र, या कमिस्सार—स्थिति में अन्तर तभी आयेगा जब उन नामों से सत्ता और धन के संचय पर बैठा हुआ आदमी लोभी की जगह त्यागी होगा। किताब का कानून उस वक्त ज्यादा मदद नहीं करेगा। आदमी के मन में तृष्णा बैठी होगी तो तंत्र का शब्द उसे व्यर्थ नहीं कर पायेगा। इससे व्यवस्था का प्रश्न यद्यपि गणित का प्रश्न है, किन्तु अन्त में उसका मानव से संबंध है। इससे वह हृदय की, अर्थात् धर्म की, भाषा से अछूता नहीं है।

गांधी जी का शब्द 'ट्रस्टी' इसी जगह हमारी सहायता करता है। धनिक धन के साथ पूरा न्याय करना चाहता है, तो उसे यथार्थ में

अपरिग्रही बनना होगा। धन के प्रति न्याय, अर्थात् उसका भरपूर हितोपयोग, अपरिग्रह में आता है। आत्मा की उपासना का अर्थ धन की अवहेलना नहीं है। धन समाज-शरीर का रक्त है। उसके निरन्तर और सम-प्रवाह पर ध्यान न रखना अहिंसा नहीं, हिंसा है; अपरिग्रह नहीं, मूर्छा है। सोना-चाँदी धातु हो सकते हैं जो सिर्फ बोझ हैं, लेकिन आदमी की शारीरिक और मानसिक और अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति से जुड़े होने के कारण उनके अर्थ का विज्ञान उतना व्यर्थ और मिथ्या नहीं है। आज के दिन यदि अपरिग्रह में सार है तो तभी जब वह उस पर प्रभुता पा सके जिसे कि परिग्रह माना है, उसे आत्मभूत और आत्म-साधक बना सके।

अपरिग्रही ही उस व्यक्ति को होना है जो आज सार्वजनिक धनस्रोतों के मुहाने पर है। आज का वह व्यक्ति अपरिग्रही नहीं होगा तो कल कोई अपरिग्रही उसकी जगह लेगा। कुछ और सम्भव नहीं है। भोग गिरेगा और उत्सर्ग ही उठेगा। सार्वजनिक ट्रस्ट, जबतक ट्रस्टी अपरिग्रही न होंगे, केवल सार्वजनिक त्रास उत्पन्न करेंगे। हुकूमत स्वयं एक सार्वजनिक ट्रस्ट है। फौज और कानून उसे वहाँ नहीं रोक सकते, सिर्फ अपरिग्रह रोक सकता है। आर्थिक जिस की दृष्टि है, अर्थ की व्यवस्था उसे नहीं सौंपी जा सकती। अर्थ में उसे मान होगा, लोभ होगा, और इस तरह वह लोक-मानस में विषमता लाने का कारण हो जायेगा। आज का धनिक वही है, पहले का धनिक वह न था। पहले दृष्टि में धन नहीं, सिर्फ व्यवहार में था; दृष्टि में धर्म था। पहले धनिक समाज-शरीर में उस गाँठ और गिल्टी के मानिन्द न था जो रक्त-विकार को अपने अन्दर रोक कर फूलने लगती है। अर्थ की समुचित व्यवस्था के लिए दृष्टि नैतिक नहीं आर्थिक चाहिए, यह मिथ्या प्रवाद छाया हुआ है। पश्चिम के राज-दर्शन और अर्थ-दर्शन ने यह वहम फैलाया है। उसको अब काटने की जरूरत है और उसके लिए ऐसे नीतिनिष्ठ पुरुषों की जरूरत है जो उसी अनासक्त भाव से धन से व्यवहार करें, जैसे भंगी मलमूत्र से करता है। मलमूत्र के सम्बन्ध में अपरिग्रह नहीं सिखाना होता, बल्कि कउलटे

यह बताना होता है कि खाद तो सोना है, फेंकने के नहीं, संग्रह करने के योग्य है। धन के अपरिग्रह में भी धन की उपयोगिता और धन के समीचीन व्यवहार की शिक्षा गर्भित होनी चाहिए।

अर्थवाद, अर्थ के सम्बन्ध में, आदमी को तृष्णालु और ईर्षालु बनाकर पहले अव्यवस्था उपजाता है। फिर पार्टी-गठन और पार्टीक्रान्ति और अन्त, में राज्यवाद में जा समाहित होनेवाला है। यहाँ हठात् उन अर्थार्थी आँखों इतना रोमांस भर दिया जायगा कि उनका बाकी सब दर्शन, सब स्वप्न में राज्य के प्रति लुप्त हो रहे। अर्थ की तो समस्या है, समाधान सिर्फ नीति में है। समस्या को आर्थिक जानकर समाधान को भी अर्थ में खोजना खुजाने से खाज मिटाने जैसा है।

अपरिग्रह आत्म का अस्त्र है। इसी से उसका उपयोग, उसका प्रभाव, अनात्म के प्रति है। अर्थतंत्र अर्थार्थियों से चलकर उलझन और बन्धन उपजाने वाला है। आत्मार्थी तब क्या ऐसा हो सकता है, जो अर्थतंत्र चलाये? हाँ, हो सकता है; और हो, तभी त्राण है। गांधी जी का कोरा मजाक न था जब वह कहते थे कि मेरी कई दुकानें चल रही हैं। सचमुच दूकान की तरह अपने रचनात्मक संघों की पाई-पाई का वह ध्यान रखते थे। करोड़ों रुपया लोगों का लेकर अपनी दूकानों में लगाने में उन्होंने अध्यात्म की क्षति नहीं देखी। बल्कि इसी में से सत्य-रूप-परमेश्वर की सच्ची उपासना का उन्होंने लाभ अनुभव किया। अपरिग्रह ही उन्हें करोड़ों के फंडों का संचालक बनने दे सका। ऐसे उन्होंने धन को धन्य किया, देने वालों को भी धन्य किया और उन लाखों श्रमिकों के हक को उन तक पहुँचाया जो अपनी सब तपस्या भूलकर मान रहे थे कि वे दरिद्र हैं। अपरिग्रह की लगन गांधी जी में इतनी तीव्र रही कि अपने को मिल सकनेवाली एक पाई से भी वह विमुख नहीं हुए। अपरिग्रह का उनके निकट अर्थ था कि धन शहर से देहात की ओर बह उठे, उसी लाचारी से जिससे बादल का पानी धरती पर बरसता है। धन धरती का है, धरती में पसीना डालने वालों का है।

वह धरती से उठकर जाता है और वापस धरती में उसे पहुँचा देने में कहीं किसी का उपकार नहीं है, केवल सब की कृतार्थता है।

समाज का और धन का विज्ञान आकांक्षा और तृष्णा के नियमों से चले और आत्मा का और नीति का अभ्यास उससे विमुख निवृत्ति और निष्कर्म की रेखा पर चले, तो जीवन के इस समानान्तर विलगाव से कभी कुछ न होगा। ऐसे विस्फोट पास आएगा और युद्ध उभरेगा, क्योंकि नीति और शक्ति तब परस्पर विरुद्ध दिशा में समान बल से खिंचकर एक शून्यावस्था उत्पन्न करेंगी। उस शून्य को भरने के लिए यू-एस-एसवाद और यू-एस-एस-आरवाद अपने-अपने तोहफे लेकर यहाँ आ धमकेंगे। इससे समय है कि समग्र समन्वय की भारतीय संस्कृति में से, जिसके प्रतिष्ठाता गांधी जी थे, हम अपना आदेश प्राप्त करें और उद्योग की योजनाओं को अध्यात्म की योजनाओं से कदम-ब-कदम मिलकर चलाएँ।

: ७ :

स्फुट

: १ :

भारतीय जनतंत्र

भारत ने अंग्रेजों की अधीनता से छुटकारा पाते ही अपने लिए विधान-सभा की योजना की। उस सभा को भारतीय आत्म-सत्ता के संस्थान का रूप स्थिर करके देना था। यह स्वरूप स्थिर हो गया है, और भारत ने २६ जनवरी सन् '५० के दिन से एक जनतंत्र के रूप में दुनिया में अपनी जगह ले ली है। भारत ने स्वाधीनता महात्मा गांधी की राह से, अर्थात् अहिंसक विधि से, प्राप्त की है। इसलिए विश्व में अपनी जगह लेने का अर्थ भारत के लिए विश्व की सेवा में अपना आत्मदान देना ही हो जाता है। उसकी सत्ता, जो न संख्या की ओर से न संस्कृति और संकल्प की ओर से हीन है, किसी के लिए शंका और आतंक का कारण नहीं हो सकती। सब के लिए उसमें अभय और आश्वासन ही है।

स्वतन्त्रता देशों को यों ही नहीं मिल जाया करती है। जाने कितना उसके लिए खून बहाना पड़ता है, और अक्सर वह एक गहरे द्वेष की परम्परा छोड़ जाती है। राष्ट्र कोई जब उदय में आता है, तो उसका राष्ट्रवाद दूसरे राष्ट्र की प्रतिशोध-भावना पर अपनी नींव बाँधता और उसी से अपने को मजबूत करता है। पर महात्मा गांधी, जो भारत देश को ही प्राप्त हुए, अनोखे द्रष्टा थे। उनके नेतृत्व में विश्व के इतिहास में पहली बार एक समूचे महादेश ने अपनी राजनैतिक स्वाधीनता इस तरह प्राप्त की कि परिणाम वैर नहीं हुआ, मेल हुआ। भारत और ब्रिटेन, जो मालिक और गुलाम थे, गुलामी की कड़ी टूटने पर परस्पर खिंचे और

बिगड़े नहीं रहे, बल्कि साथी और मित्र बन गये। इतिहास की यह अद्वितीय घटना है, और इस दृष्टि से भारत निश्चय ही अपने ढंग का अनूठा देश है।

निःसन्देह भारत विभक्त हुआ और विभाजन में क्रूर अमानुषिक घटनाएं घटीं। यह सचमुच भारत के भाल पर धब्बा है, भारतीयता की यह एक हार है। किंतु हार तो टिकनी नहीं है, इसलिए भारतीयता की सफलता के लिए वह एक चुनौती है। भारत आरंभ से, मानो मानव-जाति की ओर से, समन्वय-नीति की प्रयोगशाला होकर रहा है। भारत का सारा इतिहास धर्म की एक प्रयोग-गाथा है। सब कहीं चाहे राजनीति चले, भारत धर्मनीति का क्षेत्र रहा है। इस नाते विभाजन और उससे उत्पन्न हुई कटुता एक वह कलंक है, जिसको भारत की आत्मा धोये बिना नहीं रह सकती। फिर भी वह आपस की बात है, और भारत के अहिंसक 'राष्ट्रयुद्ध' की एक दुर्बलता यद्यपि उससे प्रकट होती है, उस युद्ध की मौलिक सफलता में कोई संदेह नहीं है।

अहिंसा पर राजनीति कहाँ तक चल सकती है, यह अभी प्रयोग और परीक्षण का ही विषय है। महात्मा गांधी का तो दर्शन राष्ट्र से नहीं, अहिंसा से परिभाषा पाता था। यानी राष्ट्र के लिए हिंसा जरूरी पड़ती हो तो भी वह स्वयं अहिंसक रहते, फिर चाहे राष्ट्र-शत्रु ही समझे जाते। सच पूछिए तो एक चुस्त हिंदू राष्ट्रवादी ने राष्ट्र-शत्रु समझकर ही उनकी हत्या की। किन्तु हिंदू शब्द गांधी जी के लिए उससे अधिक पवित्र था। वह अहंता नहीं, उनके लिए आत्म का, सामयिक राष्ट्र नहीं, सनातन संस्कृति का बोधक था। हिन्दू शब्द समग्र धर्म-जीवन का द्योतक है, वह मतवाद-रूप नहीं है। वह देश-धारणा से बँधा नहीं है, इसलिए राज्य या राज-नीति से भी सीधा उसे सरोकार नहीं है। आत्म-नीति, जो मानव-नीति और इसलिए सच्ची जगत् नीति भी है, वह उसके लिए नियम है। वह शाश्वत है, इसलिए वही सामयिक भी है। महात्मा गांधी इसी अर्थ में

हिन्दू थे, और मानना होगा कि सच्चे हिन्दू वही थे। इसी सनातन आदर्श के रूप में वह भारत का भावी निर्माण देखना चाहते थे।

गांधी धार्मिक थे, पर कांग्रेस राष्ट्रीय थी। गांधी का नेतृत्व वह ले सकती थी, उनसे प्राण और शक्ति ले सकती थी। पर धर्म उसका धर्म न था। वह राष्ट्रीय से अधिक नहीं हो सकती थी। राष्ट्रीय होकर चाहे तो अन्तर्राष्ट्रीय भी हो जावे, लेकिन राजनीति से गहरे संस्कृति पर जाना उसका काम न था। अहिंसा उसके लिए श्रद्धा नहीं, उपयोगिता थी।

अंग्रेज गये तो देश की वागडोर उस कांग्रेस के हाथ आई। यानी, शासन का, नियमन का, दंड और पुरस्कार का काम एक दायित्व बनकर उसपर आ गया। उस जिम्मेदारी को देखते हुए अहिंसा-नीति की बात उतने व्यवहार और तत्काल की उसके लिए नहीं रह गयी, ठीक जैसे कि महात्मा गांधी ही तव उसके लिए नित्यप्रति के काम की दृष्टि से उतने अनिवार्य नहीं रह गये, वल्कि चाहे कुछ अड़चन भी वन गये। तभी हुआ कि १५ अगस्त को, जब सब कहीं धूम-धाम थी, खुशियाँ थीं, और रोशनी थी, बापू नोआखली के गाँवों में आप अकेले, पाँव-पाँव-घूम रहे थे। कांग्रेस के लिए खुशी का कारण था कि देश आजाद हुआ था; बापू के लिए शोक का कारण था कि वैर फूटा हुआ था। कांग्रेस और गांधी अभिन्न न थे। एक पर राज्य का काम आया था, दूसरे को सेवा ही सदा का एक काम था।

दुनिया, उसका वह भाग जो अपने को गिनती में लेता है, मानो गहरे संकट में है। संकट का जितना निदान होता है, उतना इलाज होता है; और जितना इलाज होता है, उतना हाल विगड़ा दीखता है। मालूम होता है कि वह वुद्धि जो संकट को पाने और टालने चलती है, वह दृष्टि ही रोगाक्रान्त है। राजनीतिज्ञ, जिनपर संकट को काटने का सीधा बोझ है, राज्यों की भाषा में सोचते हैं और उनमें ही परस्पर संशय है। तब वे प्रयत्न उलटा परिणाम लाते हों, तो क्या अचरज!

राजनीति के क्षेत्र में जनतंत्र का आदर्श सबको मान्य है। हम मानवजाति के प्राणी अपने साथ प्रयोग करते ही आये हैं, और इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि प्रजा से निरपेक्ष होकर राज नहीं चल सकता। अर्थात्, राज्य स्वयं प्रजा का हो तभी चल सकता है। प्रजा का हो, यह तो समझ में आता है; फिर भी राज्य होने के लिए यह आवश्यक है कि कोई उसमें नीचे होने के लिए प्रजा अवश्य हो। अर्थात् राज्य में शासक और शासित ये दो पाट, दो वर्ग, रहने ही वाले हैं। राजनीति का यह प्रयत्न है कि पाट दो रहें, फिर भी विग्रह न हो।

पर विग्रह तो होता ही रहा है। युद्ध इतिहास का स्तर है। एक पर एक युद्धों में से गुजरते हुए हमने राजतंत्र को प्रजातंत्र बनाना आवश्यक मान लिया है। अर्थात् तंत्र तो होगा, और वह अन्त में राज्य के लिए ही होगा, लेकिन प्रजा की ओर से वह बने। प्रजा की ओर से, यानी चुनाव के जरिये प्रजा की अनुमति और उसके प्रतिनिधि लेकर।

इस 'प्रजा की ओर से' के सूत्र को विविध मात्राओं में और विविध रूपों में अमल में लाया गया है। प्रजाजन के अनुकूल राज्य होना है यह यद्यपि आज सबको मान्य है, फिर भी सब देशों की राज्य-पद्धतियाँ अपनी-अपनी हैं और एक-दूसरे से भिन्न हैं। उन भेदों के आज दो मुख्य वर्ग बन गये हैं, एक डिमोक्रेसी दूसरा डिक्टेटरशिप। कहीं राजा है, कहीं प्रेजीडेंट है, कहीं मार्शल है, कहीं कुछ दूसरा नाम है उसका जो शासन के शीर्ष पर है, लेकिन सब तंत्र मुख्यतया इन दो वर्गों के नीचे इकट्ठे हो जाते हैं। दोनों में कहीं भी जनता की, यानी प्रजाजन की अवहेलना है, ऐसा नहीं कह सकते; बल्कि दोनों ओर दावा है कि जनता का हित और सुख ही उनका प्रधान लक्ष्य है। डिक्टेटर यदि है, तो वह जनता के प्रेम में से बनता है। बल्कि वह तो कड़ी है, गारंटी है, जो राज को प्रजा के हित समर्पित रखती है। जनता, यानी अकिंचन वर्ग। सो वह

डिक्टेटरशिप 'प्रालतारियत' की यानी नितांत जनता की है।

वह ठीक हो, पर महात्मा गांधी राज्य के आदमी नहीं थे, क्योंकि हृदय के थे। उन्होंने तंत्र की बात इसलिए लगभग की ही नहीं। उन्होंने राजनीति को 'रामराज्य' जैसा शब्द दिया। 'राम-राज्य' क्या वैज्ञानिक अर्थ में जनतंत्र है? क्या उसमें राजा के लिए अवकाश नहीं है? लेकिन अंत की ओर तो राम नाम की धुन और रामराज्य की टेक गांधीजी में और बढ़ गई। प्रतीत हुआ कि 'राम-राज्य' में तंत्र की दृष्टि से जैसे अपना कुछ अर्थ और आग्रह ही नहीं है, उसका विधान से संबंध ही नहीं है। मानो वह केवल भावना का बना है। राम कौन—जो सब में रम रहा है। ऐसे वह विशुद्ध जनतंत्र है। लेकिन राज्यासन पर कोई आदमी न बैठे, या पैत्रिक नहीं निर्वाचित ही बैठे, या इतने ही वर्ष के लिए बैठे, आदि कुछ भी उसमें विधि-निषेध नहीं है। सिर्फ इतना है कि 'रामराज्य' के साथ यह अपेक्षा, अमोघ और अनिवार्य होकर, आदमी के मन में जड़ गई है कि उसमें अन्याय को स्थान न होगा; न भूख होगी, न गरीबी; सब अपने कर्त्तव्य में तत्पर होंगे और दूसरे के प्रति स्नेहशील; सब भरपूर देंगे और यथावश्यक मात्र लेंगे। यह जिसमें हो, फिर उसका तंत्र और रूप जो हो, वह 'रामराज्य' है। अन्यथा तंत्र जो भी हो, हमें उसे रामराज्य के आदेश की दिशा में बदलते और उठाते ही जाना है। राजनीति के विज्ञान के लिए 'रामराज्य' शब्द पर्याप्त नियत और नियुक्त नहीं है, वह हवाई है, भावुक है। फिर भी वह जनता की भाषा का है और राजनीति को उससे मुक्ति नहीं है। जनता के मन की उस कसौटी पर तंत्र कसे जायेंगे और खरे होने पर रहेंगे, नहीं तो फेंक दिये जायेंगे।

गांधी जी ने एक दृष्टि हमको दी। एक तरह से वह राज्य को खत्म करने की है, दूसरी ओर से वह राज्य को मजबूत और अमोघ बनाने वाली भी समझी जा सकती है। वह यह कि शासक सेवक

हो जाये। राजा सेवक हो और प्रजाजन सेव्य। राजन्यजन तब सेवाधर्मा होंगे, इसलिए वे शेष से अधिक संयमी, अपरिग्रही, संतोषी और तत्पर होंगे। इसी कारण वे प्रजाजनों के लिए सदा अपने से अधिक सुख-सुविधा जुटाकर ही मानेंगे। जनता मालिक बनेगी और राजकर्मी चाकर होंगे। शास्त्र में नहीं, व्यवहार में ऐसा होगा, अर्थात् सेवा-कर्म के अभ्यासी निःस्वार्थ, अहिंसक साधकों पर राजकर्म आयगा जो तब भृत्य-कर्म होगा।

भृत्य-कर्म में जाने के लिए छीना-झपटी भला क्यों होने लगी? वैसा यदि नहीं है, और यदि राजकाज सेवा नहीं प्रभुता है; पद है, वहाँ प्रतिष्ठा है, धन है, सत्ता है, तब हर किसी की आकांक्षा उधर क्यों न दौड़े? अयोग्य की ओर भी अधिक, क्योंकि आकांक्षा अयोग्यता का लक्षण है। तब अनिवार्य है कि एक कुर्सी को अनेक चाहें, और एक को इसी शर्त पर वह मिले कि शेष उसके प्रतिस्पर्द्धी होकर शत्रु बन जायें। और वह एक यदि उस पद को वोटों से पाये, तो यह सुविधा उसे तभी होगी जब लोगों के मनों में वह प्रत्याशित भोगों के सपने जगा दे और उनकी प्राप्ति का भरोसा जमा दे। इसी आवश्यकता में से चुनाव के बड़े-बड़े घोषणापत्र और पार्टी-प्रचार आता है। ऐसे आकांक्षा, स्पर्द्धा और ईर्ष्या-मात्सर्य का एक माया-जाल रच उठता है, जिसमें राज्य जकड़ जाता है।

जनतंत्र लाचार है कि चुनाव से चले। चुनाव में से दल फूटते ही हैं। वे दल अन्त की ओर मुख्य दो रह जानेवाले हैं। एक पदस्थ, दूसरा अपदस्थ, यानी विरोधी। अब यदि कोई अपने बारे में निःशंक है तो वह देश की भलाई की दृष्टि से सोच सकता है कि विरोध का और विरोधी का होना ही जनकल्याण में सबसे बड़ी बाधा है। तब उसका कर्तव्य हो जाता है कि विरोध को, अगर वह हो तो, निर्मूल करदे और फिर इतनी सुदृढ़ व्यवस्था करे, और ऐसा प्रचार करे, कि लोकमत

उसके हाथ एकमत होकर ही जी सके, दूसरे मत की संभावना ही न रहे। इस परिणाम के आने में कहीं कोई तर्क की त्रुटि नहीं रहती है! अतः देखने में भी आता है कि जनक्रांतियाँ सदा डिक्टेटर उपजाती रही हैं। क्यों और कैसे यह होता है, समता और स्वतंत्रता से सम्राट् कैसे निकल आता है, यह समझना मुश्किल नहीं होना चाहिए। आकांक्षा में से चलकर हम विभूति के पूजक हुए बिना रह नहीं सकते हैं। विभूति का भ्रम जो भी हमारे मन में अपनी वाणी से, प्रचार से, या कहे जानेवाले पराक्रम से जगा देता है, हमारी पूजा का पात्र बनकर वही हमारे ऊपर छत्रदंडधारी रूप में विराजकर हमें धन्य करता है। हम देखें कि आकांक्षा के रास्ते संघर्ष, संघर्ष से संख्याबल, उससे हिंसक पराक्रम और विभूति-महिमा, और उस रास्ते से ऐश्वर्यशाली अधिपति सम्राट् का आविर्भाव हो आता है।

जनतंत्र इस तरह यद्यपि आज सर्वमान्य है, पर आज ही के दिन वह सबसे अधिक खतरे में भी है। क्योंकि आज जनमानस में अंत-र्निरीक्षण गहरा है। मोहाकांक्षा अब अपेक्षाकृत कम है, वैज्ञानिक वृत्ति अधिक है। धर्म, भावुकता से निष्कामता, भय से निर्भयता और वैयक्तिकता से समग्रता की ओर फैल रहा है। शब्दों के साथ लगा विभ्रम आज यथार्थ पर परखा जाता है। सपने आदमी के इतने टूटे हैं कि उन्हें पोसते अब वह घबराता है। स्वप्न मात्र की जैसे उसमें अश्रद्धा बस गयी है। श्रद्धा खो गयी है और अश्रद्धा को मानों विधिवत् संगठित कर लिया गया है। अश्रद्धा का एक विशाल विज्ञान ही बन गया है। अश्रद्धा की शक्ति से स्वतन्त्रता स्वच्छंदता बन जाती और इस हद तक जा सकती है कि शिस्त अपने आप में प्रिय हो आये। यह अवस्था है जिसमें सेनावाद और पंक्तिवाद पनपता है। तब बंधन उपजते हैं, जो इस्पात के होने से मोहक होते हैं। और उन इस्पाती बेड़ियों का स्वामी हमारे राष्ट्रीय ऐश्वर्य का प्रताप-प्रतीक बनकर अति-

य आकर्षक हो उठता है। इस खतरे को बचाना है और बाहरी अनु-
शासन से अधिक भीतरी शिस्त, यानी चरित्र, को उन्नत और गठित करने
की ओर ध्यान देना है।

गांधीजी इसलिए डिमोक्रेसी में तांत्रिक की जगह हार्दिक अर्थ
डालना चाहते थे। भारत के राम दशरथ के पुत्र होने के कारण ही
चाहे राजा बने, पार्टी लीडर होने के कारण नहीं, फिर भी एक सामान्य
धोबी की बात को वह अनसुना नहीं कर सके। जनमतसूचक उस एक
व्यक्ति की बात पर सीता-वनवास-जैसे मर्मान्तक आत्मवियोग से उन्होंने
अपने को नहीं बचाया। राम के राज्य की यह डिमोक्रेसी शास्त्रशुद्ध
न भी हो, पर आत्मशुद्ध यदि है तो उसका अभीष्ट परिणाम आ ही जाने
वाला है।

इसलिए राजनीतिक कर्म के बीच गांधी जी ने आध्यात्मिक भाषा
का प्रचलन किया। आदर्श को और सार को तंत्र में, प्रस्ताव में,
अथवा योजना में नहीं, बल्कि चरित्र की पवित्रता और संकल्प की एका-
ग्रता, अर्थात् नैतिकता में देखना बताया।

स्पष्ट ही जनतंत्र का भविष्य अहिंसा के साथ है। लोकमानस में
लौकिक मूल्य के रूप में जहाँ तक अहिंसा की प्रतिष्ठा है ठीक उसी
हद तक जनतंत्र सफल हो सकता है। यदि साधन-शुद्धि का कुछ भी
ध्यान नहीं है और सफलता ही एक साध्य है, तो जनतंत्र इस पद्धति से
स्वयं अपना अंत बुला लेनेवाला है।

भारत गांधी का देश है। वह बुद्ध, महावीर और शंकर की भूमि
है। उसने कबीर और नानक उपजाये हैं। उसने राम और कृष्ण-जैसे
भगवत्-पुरुषोत्तम सिरजे हैं। सम्राट के प्रताप के लिए नहीं ऋषियों
की वाणी और संतों के उत्सर्ग के लिए दुनिया उसे मानती है। जनतंत्र
उसका प्रकृत आदर्श है। उसे सदा साधु मान्य रहा है, जो स्वेच्छा से

स्वयं अकिंचन बना है और दीन दुखी का जिसने नारायण के समान वरण किया है। भारत का आत्म-प्रतिनिधि पुरुष दरिद्रनारायण को ही अपनी आराधना और सेवा देता है। जनसेवा और जनगौरव की निष्ठा को मूर्त करने वाला हमारा भारतीय जनतंत्र मानवता को उसी आदर्श में एकत्रित, जाग्रत और प्रसन्न बनादेगा—क्या यह विश्वास न रखा जाय ?

: २ :

ध्येय नहीं, नित्य कर्तव्य

आपकी 'क्रांति' का पहला नम्बर मिला, जिसके लिए मैं आभारी हूँ। उसके पहले लेख में ये शब्द हैं—"जिसने इसका (क्रांति का) नतीजा जानना चाहा; इसे समझने की कोई कोशिश की, वह फिर कभी इसका नाम न लेगा।"

मैंने क्रांति का नतीजा जानना चाहा है और उसे समझने की कोशिश की है। और यह भी ठीक है कि मेरी राय हुई है कि उसका कभी नाम नहीं लेना चाहिए।

क्रांति से डरना उसे बुलाना है। मैं उसे बुलाना नहीं चाहता। इसलिए उस से डरने की मेरे लिए कोई ज़रूरत नहीं रह जाती।

लेकिन यह सोचने की बात है कि क्रांति करने वालों को क्या उस अपनी क्रांति को बिना समझे बूझे करना होगा? जो बे-समझे की जायगी वह नादानी होगी। तो क्या नादानी को ही क्रांति कहना होगा?

सच यह है कि 'क्रांति' शब्द को सस्ता नहीं बनाना चाहिए। घिसे पैसे की नाईं उसका चलन चलाने से सच्ची क्रांति पास नहीं आती, दूर होती है। मूल्य घटता है। शब्द को लोग ले उड़ते हैं, असलियत छूट जाती है।

और ऐसा हो रहा है। 'इन्किलाब ज़िन्दाबाद' का नारा ही कहयों

के लिए बस दिखाई देता है। मुँह से वह इंक़िलाब इस क़दर ख़र्च होता है कि जीवन में गहरे उतरने के लिए उसको मौका ही नहीं मिलता।

और क्या मतलब क्रांति से? कुछ गड़बड़, कुछ उलट-पलट, धींगाधींगी, और अ की जगह ब का शासक बन जाना—क्या इस तरह का ही कुछ क्रांति है? तो मैं कहता हूँ कि यह अनिष्ट है। वह प्रगति में बाधा है। वह मानव की हार और अव्यवस्था की विजय है।

इतिहास में घटनेवाली क्रांतियों को देखिए। क्या किसी ने कहीं स्वर्ग का उतार पाया? क्रांति जब तक ध्येय और मिशन रही, दूर रही, तब तक उसमें शक्ति रही। तब तक उसमें से आदर्श की प्रेरणा प्राप्त की जा सकी। उसके घटित घटना होने पर देखा गया कि मंजिल अभी आगे है, और क्रांति प्रत्यक्ष-समक्ष होकर भ्रम भर रह गई है।

इसलिए क्रांति शब्द सह्य है, इसके आगे उपादेय भी हो सकता है, यदि वह कवि-भाषा में लिखा-पढ़ा और लिया जाता है। अन्यथा तो वह शब्द हमें दुस्सह बन जाना चाहिए, यह भ्रम खतरनाक है कि उस शब्द में कोई वैज्ञानिक तथ्य भी हो सकता है।

आशय यह नहीं कि हमें प्रचलित (मानसिक) मूल्यों में किसी मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है। आशय यह है कि इस प्रकार का मूल्यांतरीकरण ही क्रांति की वास्तविकता है। उससे अलग और भिन्न कोई क्रांति कहीं नहीं है।

इससे क्रांति का आरम्भ अगर कहीं है तो अपने-अपने जीवन से है। अपनी निगाह को हमें बदल लेना है।

और मानव-जीवन की दृष्टि से कहें तो एक क्रांति है, जिसकी सदा से आवश्यकता थी, है, और रहेगी। वही स्थायी क्रांति। और वह यह

कि हम शक्तिस्पर्द्धी न हों, सेवा-भावी बनें। शासन-स्पृहा असामाजिक है, सेवा व्यक्तित्व की सामाजिकता (यथार्थ समाजवादिता) का प्रमाण है।

यह नहीं तो बढ़िया-से-बढ़िया समझी जाने वाली क्रांति पास आकर छल साबित हो रहेगी।

इससे जरूरी है कि हम क्रांति का रोमांस न खोजें। रोमांस विस्फोटक होता है। वह जिसको लुभाता है उसी को खाता है। आवश्यक है कि हम अपने जीवन के हर दिन और दिन की हर घड़ी क्रांति की यथार्थता पर आरूढ़ होते हुए चलें। क्रांति हमारे लिए नित्य कर्त्तव्य हो, हमसे अलग कोई दूर का ध्येय नहीं।

: ३ :

उपवास और लोकतन्त्र

गांधी जी उपवास पर हैं। नेता-सम्मेलन की माँग सामने आ चुकी है। वायसराय का जवाब भी सामने आ गया है। सरकार को पूरा विश्वास है कि वह न्याय पर है। उसका विश्वास इसलिए सकारण है कि गांधी जी के मित्र उनके पास पहुँच सकते हैं और चिकित्सा की भी पूरी व्यवस्था है। संसार उससे जान सकेगा कि सरकार गांधी जी के व्यक्तित्व के प्रति सहृदय है। पर न्याय निर्मम होता है और यह निर्ममता सरकार को झेलनी पड़ रही है, जबकि गांधी जी को छोड़ने में वह अपने को असमर्थ पा रही है। नेता-सम्मेलन को मिले इनकार को नेताओं का अपमान नहीं मानना चाहिये। उसकी कठिनाई भारी है, उसको हलका नहीं समझना चाहिये। यह तय है कि लिनलिथगो व्यक्ति रूप में गांधी जी के दुःख दर्द में शरीक रहना चाहते हैं। साथ ही यह भी साफ है कि गांधी जी, अपने साथियों का विरोध उठाकर भी, युद्ध प्रयत्नों में विघ्न-बाधा न डालने की नीति को अपनाये रहे हैं।

इस पर भी संकट सिर पर है। मानों सब लाचार हैं। गांधी जी उपवास के कर्त्ता से अधिक उसके भोक्ता हैं। उनकी ओर से वह व्यथा की पुकार है। इस बार तो उपवास सीधे किसी खास प्रयोजन से भी जुड़ा हुआ नहीं दीखता। दूसरी ओर वायसराय भी लाचार हैं। वह इस आत्म-हत्या को कैसे शुभ समझें? राजनीतिक पैतरेबाजी नहीं, तो यह उनके लिए और क्या चीज हो सकती है? व्यक्ति की स्वच्छन्दता की रक्षा

करके सरकार भला कैसे चल सकती है ? इससे लिनलिथगो भी अपने बंदी-मित्र की रिहाई का हुक्म निकालने में असमर्थ हैं।

सरकार की राय में गांधी जी का उपवास अनुचित दबाव है, राजनीतिक ठगी है। तो क्या वह ऐसा नैतिक अपराध नहीं है, जिसे न्यायालय अपने हाथ में ले ? आत्म-हत्या पाप है। जेल में भूख-हड़ताल गुनाह है। उसके लिए सजाएँ भी मिला करती हैं। न्याय के नियम-पालन में व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठना होता है। तब क्या बात है कि गाँधी जी को न केवल इन अपराधों के लिए अदालत में नहीं लाया जाता; बल्कि विशिष्ट व्यक्ति के तौर पर उनको विशेष सुविधायें दी जाती हैं ?

इसके दो परिणाम निकल सकते हैं : या तो वायसराय और उनके प्रतिनिधि व्यक्तिगत भावनाओं से प्रभावित होकर चलते हैं और अपने कर्त्तव्य-पालन में यथावश्यक निर्भय नहीं हैं। नहीं तो दूसरा परिणाम यह है कि जो आरोप बाहर से गांधी जी पर लगाये जाते हैं, भीतर से सरकार ही उन्हें पूरी तरह नहीं मानती। बुद्धि जब एक बात कहती है, तब शायद उनका हृदय ही उन्हें बता रहा होता है कि गांधी जी का उपवास शायद ठगी, हथकण्डा, मौके से लाभ उठाना नहीं है। शायद गांधी जी के शब्द जो कहते हैं, असल बात भी वही है।

गाँधी जी का जीवन खुली किताब है। आरम्भ से वह जीवन सार्वजनिक है। उनके अन्दर-बाहर का सब कुछ सार्वजनिक सम्पत्ति है। दुनिया उसे देखती और परखती रही है। इसलिए मतभेद और मत-प्रचार के बावजूद गांधी जी को गलत समझना या समझाना आज मुश्किल काम हो गया है। गांधी जी की आत्मा का स्पर्श जितना आज दुनिया पर फैला है और भीतर गया है, वैसा शायद किसी दूसरे जीवित व्यक्ति का नहीं। उस छाप में एक बात सामान्य है। वह यह कि गांधी जी अपनी बात के खरे हैं। उनके शब्दों में वही है, जो उनके मन में है। यह बात इतनी अमिट होकर लोगों के अन्तःकरण पर छप गई है कि उनकी 'शा में सन्देह करना बहुत साहस का ही काम हो सकता है।

गांधी जी की ब्रिटेन के साथ जब भी बात चली है, उसमें दो टेक साफ उभार में दीखती रही हैं : एक यह कि मैं ब्रिटेन का मित्र हूँ और दूसरी यह कि सत्य एवं अहिंसा के लिए मेरा जीवन है। कोई अवसर नहीं हुआ जब अमली तौर पर गांधीजी ने इसका प्रमाण नहीं दिया। गुप्तता और षड्यन्त्र का कभी उन्होंने सहारा नहीं लिया। हिंसा के मुँह में सदा अपने को झोंकने की तत्परता दिखाई। पचपन वर्ष के ऐसे खुले सार्वजनिक जीवन की नींव पर उन्होंने वायसराय को लिखा कि हिंसा से मुझे दुःख है, मैं और मेरी सलाह हिंसा के पक्ष में न थी, न अब है और न होगी। अपने दुःख को मैं कहां ले जाऊँ ? आपके पास आता हूँ, तो हमारे बीच में अविश्वास का सागर फैला मालूम होता है। दुःख मेरा बढ़ता जाता है। अब तो प्रभु के चरणों में ही अपना रोना रोने का उपाय मेरे लिए रह गया दीखता है।

वायसराय ने कहा कि तुम्हारी बात तो मैं तब सुनूँ जब कि मेरे पास प्रमाण न हों। सबूत मजबूत है और तुम्हारे ज्ञान में, अगर इशारे पर नहीं, काँग्रेस ने हिंसा का जाल रचा था। मेरी सरकार की ओर से गिरफ़्तारियाँ हुईं, उसके बाद की तो कथा ही न पूछो। पर हिंसा तो काँग्रेस के इरादे में पहले ही आ चुकी थी।

गांधी जी ने कहा कि ऐसा है, तो मुझे बताओ, मैं प्रायश्चित करूँगा। हर हालत में दुःख तो मुझे बेहद है और उपवास में ही मुझे सान्त्वना मिलेगी।

तब से उपवास शुरू है और उसकी गहरी प्रतिक्रिया देखने में आती है। बेशक उपवास गांधी जी और उनके प्रभु के बीच अनबन और प्रार्थना का विषय है। अपने प्रभु से ही उनका दावा है और उन्हीं के प्रति निवेदन है। इस दृष्टि से बेशक सरकार को चाहिये कि उस पर विचार न करे और जिसको अपना कर्त्तव्य माने, उस पर कायम रहे। पर जीवन तो विभक्त नहीं है और न व्यक्ति तथा समाज दो हैं। आज

करके सरकार भला कैसे चल सकती है ? इससे लिनलिथगो भी अपने बंदी-मित्र की रिहाई का हुक्म निकालने में असमर्थ हैं।

सरकार की राय में गांधी जी का उपवास अनुचित दबाव है, राजनीतिक ठगी है। तो क्या वह ऐसा नैतिक अपराध नहीं है, जिसे न्यायालय अपने हाथ में ले ? आत्म-हत्या पाप है। जेल में भूख-हड़ताल गुनाह है। उसके लिए सजाएँ भी मिला करती हैं। न्याय के नियम-पालन में व्यक्तिगत भावनाओं से ऊपर उठना होता है। तब क्या बात है कि गाँधी जी को न केवल इन अपराधों के लिए अदालत में नहीं लाया जाता; बल्कि विशिष्ट व्यक्ति के तौर पर उनको विशेष सुविधायें दी जाती हैं ?

इसके दो परिणाम निकल सकते हैं : या तो वायसराय और उनके प्रतिनिधि व्यक्तिगत भावनाओं से प्रभावित होकर चलते हैं और अपने कर्त्तव्य-पालन में यथावश्यक निर्भय नहीं हैं। नहीं तो दूसरा परिणाम यह है कि जो आरोप बाहर से गांधी जी पर लगाये जाते हैं, भीतर से सरकार ही उन्हें पूरी तरह नहीं मानती। बुद्धि जब एक बात कहती है, तब शायद उनका हृदय ही उन्हें बता रहा होता है कि गांधी जी का उपवास शायद ठगी, हथकण्डा, मौके से लाभ उठाना नहीं है। शायद गांधी जी के शब्द जो कहते हैं, असल बात भी वही है।

गाँधी जी का जीवन खुली किताब है। आरम्भ से वह जीवन सार्वजनिक हैं। उनके अन्दर-बाहर का सब कुछ सार्वजनिक सम्पत्ति है। दुनिया उसे देखती और परखती रही है। इसलिए मतभेद और मत-प्रचार के बावजूद गांधी जी को गलत समझना या समझाना आज मुश्किल काम हो गया है। गांधी जी की आत्मा का स्पर्श जितना आज दुनिया पर फैला है और भीतर गया है, वैसा शायद किसी दूसरे जीवित व्यक्ति का नहीं। उस छाप में एक बात सामान्य है। वह यह कि गाँधी जी अपनी बात के खरे हैं। उनके शब्दों में वही है, जो उनके मन में है। यह बात इतनी अमिट होकर लोगों के अन्तःकरण पर छप गई है कि उनकी शा में सन्देह करना बहुत साहस का ही काम हो सकता है।

गांधी जी की ब्रिटेन के साथ जब भी बात चली है, उसमें दो टेक साफ उभार में दीखती रही हैं : एक यह कि मैं ब्रिटेन का मित्र हूँ और दूसरी यह कि सत्य एवं अहिंसा के लिए मेरा जीवन है। कोई अवसर नहीं हुआ जब अमली तौर पर गांधीजी ने इसका प्रमाण नहीं दिया। गुप्तता और षड्यन्त्र का कभी उन्होंने सहारा नहीं लिया। हिंसा के मुँह में सदा अपने को झोंकने की तत्परता दिखाई। पचपन वर्ष के ऐसे खुले सार्वजनिक जीवन की नींव पर उन्होंने वायसराय को लिखा कि हिंसा से मुझे दुःख है, मैं और मेरी सलाह हिंसा के पक्ष में न थी, न अब है और न होगी। अपने दुःख को मैं कहां ले जाऊँ ? आपके पास आता हूँ, तो हमारे बीच में अविश्वास का सागर फैला मालूम होता है। दुःख मेरा बढ़ता जाता है। अब तो प्रभु के चरणों में ही अपना रोना रोने का उपाय मेरे लिए रह गया दीखता है।

वायसराय ने कहा कि तुम्हारी बात तो मैं तब सुनूँ जब कि मेरे पास प्रमाण न हों। सबूत मजबूत है और तुम्हारे ज्ञान में, अगर इशारे पर नहीं, कांग्रेस ने हिंसा का जाल रचा था। मेरी सरकार की ओर से गिरफ्तारियाँ हुईं, उसके बाद की तो कथा ही न पूछो। पर हिंसा तो काँग्रेस के इरादे में पहले ही आ चुकी थी।

गांधी जी ने कहा कि ऐसा है, तो मुझे बताओ, मैं प्रायश्चित करूँगा। हर हालत में दुःख तो मुझे बेहद है और उपवास में ही मुझे सान्त्वना मिलेगी।

तब से उपवास शुरू है और उसकी गहरी प्रतिक्रिया देखने में आती है। बेशक उपवास गांधी जी और उनके प्रभु के बीच अनबन और प्रार्थना का विषय है। अपने प्रभु से ही उनका दावा है और उन्हीं के प्रति निवेदन है। इस दृष्टि से बेशक सरकार को चाहिये कि उस पर विचार न करे और जिसको अपना कर्त्तव्य माने, उस पर कायम रहे। पर जीवन तो विभक्त नहीं है और न व्यक्ति तथा समाज दो हैं। आज

१९४३ में तो इस अलहदगी की बात और भी नहीं की जा सकती। राष्ट्र तक एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, सब गहरी व्यथा में एक दूसरे में समाये हैं। न गाँधी जी वह हैं जिनका प्रभु इस जगत् से बाहर हो। नर में उन्होंने नारायण को देखा है। उपवास भी उसी प्रभु के प्रति आत्म-निवेदन है, जो जन-जन के अन्तर्यामी है। इसी से उपवास गाँधी जी का प्रश्न जितना है, उससे कहीं अधिक वह जगत् का प्रश्न बन गया है। गांधी जी, या कोई, इच्छा करके भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व से उस को नीचे नहीं ला सकता। हिन्दुस्तान आज दिन ब्रिटेन की सम्पति ही नहीं रह गया है। इस लड़ाई में हिन्दुतान गहरा मोर्चा है। उसकी स्थिति में हेर-फेर युद्ध के नक्शे को बदल सकता है। ब्रिटेन में अमरीका की दिलचस्पी है और जिसमें उन दोनों की दिलचस्पी है, वह बात चीन और रूस के भाग्य से सीधी सम्बन्ध रखती है। इस तरह हिन्दुस्तान हिन्दुस्तानियों का हो, या है,—यह सवाल अपेक्षाकृत पीछे पड़ गया है। लड़ाई जीती जाय, यही सवाल इतना पहला बन गया है कि भारत की और सभी राष्ट्रीय बातों और माँगों को उसी एक अपेक्षा में देखना जरूरी हो गया है। इसी से आज सब ओर लाचारी है। गाँधी जी को अपने लिए उपवास और सरकार को उनके लिये जेल ही उपाय मालूम होता है।

बेशक राष्ट्रीयता के दायरे में संकट का समाधान नहीं मिलेगा। पर प्रश्न है कि युद्ध द्वारा मित्र राष्ट्र क्या चाहते हैं? क्या वे न्याय की प्रतिष्ठा नहीं चाहते हैं? क्या अतलान्तिक चार्टर के पीछे की मनोभावना को हम झूठ कहें? क्या मित्र-राष्ट्रों के राष्ट्रनायकों की बातों के बारे में हम न मानें कि वे गहरे विश्वास और ईमानदारी के साथ कही गयी हैं? यदि यह सच है, तो क्या सचमुच माना जाता है कि न्याय और साम्य के आधार पर होनेवाले नव-निर्माण के लिए गांधी को अपनी बात न कहने देना जरूरी है? अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज शक्ति के हाथ निर्णय है। हमारे पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ ऐसा नहीं है, जिसमें दम हो और न्यायनिष्ठा हो। तब हारने पर जर्मनी के लोगों को मानने से कैसे रोका जा सकेगा,

या इतिहास को ही इस प्रतिपादन से कैसे बचाया जा सकेगा, कि शस्त्रोत्पादन की गति मित्रराष्ट्रों के मुकाबले धीमी पड़ जाने से ही उसकी हार हुई। विजय न्याय की होनी है तो क्या वह मन द्वारा ही नहीं होगी ? लोकतंत्रों की शक्ति क्या हार्दिक लोकमत का बल ही नहीं है ? क्या 'लोकतन्त्र' शब्द में ही गर्भित नहीं है कि शक्ति और न्याय का अधिष्ठान लोक सामान्य में है ? यदि ऐसा है, तो नागरिक मर्यादा की रक्षा करते हुए वाक्-स्वातंत्र्य किसी भी न्याय्य भावी निर्माण के लिए क्या पहली शर्त नहीं ठहरती ?

आगे का किसी को पता नहीं। अपनी पद्धति ईश्वर ही जानता है। पर हम अपनी सफ़ाई से आज शुरू कर सकते हैं। इस आत्म-मंथन का राष्ट्रनायकों में प्रारम्भ हो, तो उपवास भी लाभप्रद बन सकता है। सच यह है कि आज भी सरकार के शब्द और व्यवहार में मेल नहीं है। शब्द कठोर हैं और गांधी जी को न छोड़ सकने की लाचारी को हम समझ सकें, तो बाकी सब दृष्टियों से सरकार का व्यवहार मुलायम है। इसी में सद्भाव के बीज देखे जा सकते हैं। उन्हीं को उपवास की व्यथा का सिंचन मिले, तो आज भी ब्रिटेन और भारत में राष्ट्रीय सद्भाव लहलहा सकता है। यदि गांधी जी नहीं, तो उस सद्भाव के बीज को अपनी आत्मा से सींचनेवाला दूसरा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा। गांधी जी के अभाव में फिर क्या रह जायगा, जो अविश्वास और कटुता की लहरों को अपने ऊपर ले और भीतर झेलकर प्रीति में बदल दे। गाँधी जी आज वह हृदय हैं, जो राष्ट्र भावना के रक्त में से मैल को साफ़ करके फिर शुद्ध रक्त को राष्ट्र की नाड़ियों में बहने को देते रहते हैं। कम-अधिक पिछली आधी सदी का इतिहास बताता है कि हिंसा की शक्तियाँ यदि खुला अनर्थ नहीं कर पायीं हैं और निरन्तर विधायक रूप में उनका परिणमन होता रहा है, तो वह एक व्यक्ति गांधी के कारण।

विश्वबन्धुत्व के स्वप्न का नहीं, योजना का समय अब आ रहा है। क्या सचमुच गांधी जी को खोकर वह जल्दी लाया जा सकता है ?

★

१६४३ में तो इस अलहदगी की बात और भी नहीं की जा सकती। राष्ट्र तक एक-दूसरे से अलग नहीं हैं, सब गहरी व्यथा में एक दूसरे में समाये हैं। न गाँधी जी वह हैं जिनका प्रभु इस जगत् से बाहर हो। नर में उन्होंने नारायण को देखा है। उपवास भी उसी प्रभु के प्रति आत्म-निवेदन है, जो जन-जन के अन्तर्यामी है। इसी से उपवास गाँधी जी का प्रश्न जितना है, उससे कहीं अधिक वह जगत् का प्रश्न बन गया है। गांधी जी, या कोई, इच्छा करके भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व से उस को नीचे नहीं ला सकता। हिन्दुस्तान आज दिन ब्रिटेन की सम्पति ही नहीं रह गया है। इस लड़ाई में हिन्दुतान गहरा मोर्चा है। उसकी स्थिति में हेर-फेर युद्ध के नक्शे को बदल सकता है। ब्रिटेन में अमरीका की दिल-चस्पी है और जिसमें उन दोनों की दिलचस्पी है, वह बात चीन और रूस के भाग्य से सीधी सम्बन्ध रखती है। इस तरह हिन्दुस्तान हिन्दुस्ता-नियों का हो, या है,—यह सवाल अपेक्षाकृत पीछे पड़ गया है। लड़ाई जीती जाय, यही सवाल इतना पहला बन गया है कि भारत की और सभी राष्ट्रीय बातों और माँगों को उसी एक अपेक्षा में देखना जरूरी हो गया है। इसी से आज सब ओर लाचारी है। गाँधी जी को अपने लिए उपवास और सरकार को उनके लिये जेल ही उपाय मालूम होता है।

बेशक राष्ट्रीयता के दायरे में संकट का समाधान नहीं मिलेगा। पर प्रश्न है कि युद्ध द्वारा मित्र राष्ट्र क्या चाहते हैं? क्या वे न्याय की प्रतिष्ठा नहीं चाहते हैं? क्या अतलान्तिक चार्टर के पीछे की मनोभावना को हम झूठ कहें? क्या मित्र-राष्ट्रों के राष्ट्रनायकों की बातों के बारे में हम न मानें कि वे गहरे विश्वास और ईमानदारी के साथ कही गयी हैं? यदि यह सच है, तो क्या सचमुच माना जाता है कि न्याय और साम्य के आधार पर होनेवाले नव-निर्माण के लिए गांधी को अपनी बात न कहने देना जरूरी है? अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आज शक्ति के हाथ निर्णय है। हमारे पास कोई अन्तर्राष्ट्रीय संघ ऐसा नहीं है, जिसमें दम हो और न्यायनिष्ठा हो। तब हारने पर जर्मनी के लोगों को मानने से कैसे रोका जा सकेगा,

या इतिहास को ही इस प्रतिपादन से कैसे बचाया जा सकेगा, कि शस्त्रोत्पादन की गति मित्रराष्ट्रों के मुकाबले धीमी पड़ जाने से ही उसकी हार हुई। विजय न्याय की होनी है तो क्या वह मन द्वारा ही नहीं होगी? लोकतंत्रों की शक्ति क्या हार्दिक लोकमत का बल ही नहीं है? क्या 'लोकतन्त्र' शब्द में ही गर्भित नहीं है कि शक्ति और न्याय का अधिष्ठान लोक सामान्य में है? यदि ऐसा है, तो नागरिक मर्यादा की रक्षा करते हुए वाक्-स्वातंत्र्य किसी भी न्याय्य भावी निर्माण के लिए क्या पहली शर्त नहीं ठहरती?

आगे का किसी को पता नहीं। अपनी पद्धति ईश्वर ही जानता है। पर हम अपनी सफाई से आज शुरू कर सकते हैं। इस आत्म-मंथन का राष्ट्रनायकों में प्रारम्भ हो, तो उपवास भी लाभप्रद बन सकता है। सच यह है कि आज भी सरकार के शब्द और व्यवहार में मेल नहीं है। शब्द कठोर हैं और गांधी जी को न छोड़ सकने की लाचारी को हम समझ सकें, तो बाकी सब दृष्टियों से सरकार का व्यवहार मुलायम है। इसी में सद्भाव के बीज देखे जा सकते हैं। उन्हीं को उपवास की व्यथा का सिंचन मिले, तो आज भी ब्रिटेन और भारत में राष्ट्रीय सद्भाव लहलहा सकता है। यदि गांधी जी नहीं, तो उस सद्भाव के बीज को अपनी आत्मा से सींचनेवाला दूसरा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा। गांधी जी के अभाव में फिर क्या रह जायगा, जो अविश्वास और कटुता की लहरों को अपने ऊपर ले और भीतर झेलकर प्रीति में बदल दे। गाँधी जी आज वह हृदय हैं, जो राष्ट्र भावना के रक्त में से मैल को साफ करके फिर शुद्ध रक्त को राष्ट्र की नाड़ियों में बहने को देते रहते हैं। कम-अधिक पिछली आधी सदी का इतिहास बताता है कि हिंसा की शक्तियाँ यदि खुला अनर्थ नहीं कर पायी हैं और निरन्तर विधायक रूप में उनका परिणमन होता रहा है, तो वह एक व्यक्ति गांधी के कारण।

विश्वबन्धुत्व के स्वप्न का नहीं, योजना का समय अब आ रहा है। क्या सचमुच गांधी जी को खोकर वह जल्दी लाया जा सकता है?

★

निरातंकवाद

हिंसा-अहिंसा की चर्चा अब पहले जितनी सस्ती नहीं है, यह अच्छा ही है। यह नहीं कि वह प्रश्न आज कम महत्वपूर्ण है। प्रश्न का महत्व तो दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है। संकट जितना घोर पड़ रहा है, अहिंसा उतनी ही अनिवार्य हो रही है। तय है कि उसके बिना त्राण नहीं। उसके सिवा जगत के लिए दूसरी गति नहीं। साम्यवाद (कम्यूनिज्म) में से मोक्ष आयगा, यह सपना टूट चुका है। उस 'वाद' के नीचे बुद्धि का प्रमाद दीख आया है। पूंजीवाद, जो मनुष्य को पूरी तरह राज्य के नियंत्रण में करने की जगह उसकी वृत्तियों को बहुत कुछ आजाद रहने देने के कारण पनपा था, व्याधियों की सृष्टि ही कर सका है। व्याधियों का इलाज उस पद्धति में से नहीं निकलने वाला है। पूंजीवाद जनतंत्र के नाम पर जनवाद की दुहाई देता है; साम्यवाद अपनी तरह के जनवाद की मार्फत अधिनायकाधीन तंत्र का शिकंजा जमा चलता है। इन दोनों वादों में से मनुष्य को ढारस नहीं मिल रहा, डर मिल रहा है। दोनों ही सामान्य मनुष्य को आतंकवादी जान पड़ते हैं। संख्या के और दल-बल के जोर से वे अपनी गति चलाते देखे जाते हैं।

दुनिया के अखाड़े में छूटे हुए वाद ये दो ही हैं। शेष शायद धार्मिक हैं, कार्मिक नहीं हैं। यानी, शक्ति की भूमिका पर वे नगण्य हैं। गणनीय जो दो हैं वे दोनों आतंक पर चढ़कर ऊंचे उठ और फैल रहे हैं।

निश्चय ही उन दोनों में से किसी के हाथ दुनिया का भविष्य नहीं हो सकता। आतंक में से कोई छोटा भी निर्माण नहीं हुआ है, मानव जाति के भविष्य का निर्माण तो बड़ी बात है।

अतः चाहिए एक मौलिक निरातंकवाद। ऐसा वाद आदर्श और धर्म के क्षेत्र में तो बहुधा मिलता है। लेकिन वह बेकाम है। शक्ति जिसमें नहीं उसका आतंक हो भी तो क्या? इससे उसके निरातंक होने में कोई लाभ भी नहीं है। निरातंक की घोषणा शक्ति में से आनी चाहिए। जिससे भय हो सकता है वही वास्तव में अभय दे सकता है।

अभय देने वाला भी शक्ति का एक प्रकार है, इसके उदाहरण गांधी हो गये हैं। गांधी जी की अधीनता में भारतीय राष्ट्रीयता ने जब अंग्रेज से लड़ाई छेड़ी तो अंग्रेज को भय सता आया था। मगर गांधी ने सदा उसे अभय दिया। अंग्रेज दुश्मन हो सकता था, क्योंकि वह भूल से अपने अंदर की इंसानियत का दुश्मन बन बैठा था। लेकिन दुश्मन है इसलिए और भी मेरे जीते जी उसका बाल बांका नहीं हो सकता—यह कौल गांधी का रहा। चौरीचौरा में विद्वेष ने जो तनिक उठकर इक्का-दुक्का अंग्रेज का रक्त लिया तो उस पर गांधी ने अपने सारे आंदोलन की ही लगाम खींच दी और उसके लिए प्रायश्चित्त किया।

यानी जैसे-जैसे फौजें, उनका खर्च, उनके लिए शस्त्रास्त्र की तैयारी और इन सब कारवाइयों का विश्वास बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे अहिंसा को पाने और पहचानने की दुर्निवारता भी बढ़ती जाती है। अहिंसा चलती नीति के तौर पर नहीं, बुनियादी मूल्य के तौर पर। देश के, राज्य के, अपने और अपने कुशल-क्षेम के लिए अहिंसा नहीं; बल्कि अहिंसा के लिए देश और राज्य, अहिंसा के लिए हम, हमारा स्वास्थ्य, जीवन और हमारी मृत्यु।

यह अमोघता अहिंसा को मिलाने वाली है। फिर भी अहिंसा की चर्चा का कम होना शुभ ही है। कारण, चर्चा उड़ती अधिक है, करती

कम है। मानो अहिंसा सिद्धान्तसूत्रों का बुना हुआ कोई खिलौना हो जिससे खेलकर मन बहला लिया जाय। या गोरखधन्धा हो जिसके सहारे फुरसत कट जाय। जैसे वह आग न हो जो हमें जलाकर राख कर दे, या तो फिर तपा कर कुन्दन ही करदे।

अभी एक जैनी भाई ने आपत्ति की कि अहिंसा की बात वह नहीं कर सकता है जो मांस खाता है।

मैं उस अहिंसा को नहीं जानता जो शाकाहारियों तक सिमटी है। ऐसी अहिंसा तो सिमटती जाकर एक दिन सिफर हो जायगी। केवल परम धर्म के रूप में अहिंसा को मैं देख पाता हूं। धर्म परम वह जो सब कहीं है, जिससे छुटकारा किसी को भी नहीं। अबतक के इतिहास की तमाम प्रगति को वही धर्म धारण करता है। आगे का विकास भी उसीमें से बनेगा। हम उससे अनजान रह सकते हैं; पर जब भी हम जानेंगे उसी को जानेंगे। यानी एक न एक दिन हमें उसे पहचानना ही है। तभी हमारी आंखें खुली कही जायंगी।

आज भी मैं नहीं जानता कैसे माना जा सकता है कि कोई सिर्फ मारता है। हर कोई अपने जीने के लिए दूसरे को मारता दीखता है। शेर मारता है तो भूख से या डर से। वह अपने को रखना और बचाना चाहता है। कसाई मांस की दुकान अपना कुनबा पालने के लिए करता है। शिकारी शिकार के समय जिन्दगी का, यानी जोखम उठाने का, स्वाद पा रहा होता है। वह स्वाद शिकार का आनन्द है, न कि प्राणी की जान लेना। हिटलर ने जर्मनी को जिन्दा रखने और करने की कोशिश में युद्ध छेड़ा। जापान के लिए भी आत्म-रक्षा का सवाल आ बना था। कोरिया का उत्तर दक्षिण पर अपने बचाव के लिए ही चढ़ दौड़ा। उत्तर पर अब दक्षिण की ओर से जो चढ़ाई है वह भी कोरिया की आत्मरक्षा में। रूस कभी यदि युद्ध में पड़ेगा तो अपने बचाव के खातिर। अणुबम चलेगा तो तभी जब अपनी जान पर आ बनती दीखेगी। वह बम पहले भी काम आया है। लेकिन कौन कह सकता है कि लड़ाई को उसने जल्दी खत्म

नहीं किया, या कि उसका प्रयोग तब नहीं हुआ जब कि अमरीका को अपने बचाव का दूसरा उपाय सूझना बन्द हो गया था ?

यह झूठ है कि कोई पहले मारता है। हर कोई पहले बचता और बचाता है। सदा पहले अपने को चाहा जाता है, दूसरा हमेशा दूसरे नम्बर पर आता है। यानी दुनिया में ऐसा कोई नहीं है, जो मारने के लिए जीता हो। हर कोई अपने जीने की राह में दूसरे को मारता है।

दुनिया में सब हिंसा बचाव की हिंसा है। आक्रमण की हिंसा में गहरे जाकर देखें तो पता चलेगा कि वहां भी अपनापन ही मुख्य है, दूसरे को सताना मुख्य नहीं है। स्वत्वभाव की रक्षा या प्रतिष्ठा की कल्पना में से ही पर-हत्या की, यानी आक्रमण की, तैयारी आती है।

इसलिए प्रश्न यह है ही नहीं कि मारना अच्छा है या बुरा ? कोई नहीं है जो मारने को अच्छा कहता हो। इस रूप में हिंसा-अहिंसा के प्रश्न को लेना ही गलत है।

अर्थात्, प्रश्न यह है कि अपने जीने के लिए भी दूसरे को मारना क्या 'अच्छा' हो सकता है ?

इसके उत्तर में भी दुविधा की गुञ्जायश नहीं है। अपने जीने के लिए भी मारना 'अच्छा' तो नहीं कहा जा सकता।

तब क्या वह आवश्यक है ? उपयोगी है ?

बाहर की ओर से उसकी आवश्यकता और उपयोगिता कभी सिद्ध नहीं हुई है। हत्या से कभी बदला पूरा नहीं हुआ है और युद्ध सब युद्ध की निरर्थकता को ही साबित करने वाले बने हैं।

फिर भी आवश्यक है। कारण, हिंसा बिना जीवन चलता जो नहीं है। सांस लेने तक में घात है। यानी, वह आवश्यकता असमर्थता की है, अश्रद्धा की है। दूसरे शब्दों में, कमजोर ही हिंसक होता है।

इसमें से सिद्धान्त निकला कि हिंसा सह्य है, अहिंसा साध्य। हिंसा कितनी भी अनिवार्य हो, नियम सदा अहिंसा है। अहिंसा ही प्रबल है, हिंसा निर्बलता है। हिंसा सदा डर में से है, अहिंसा ही निडर है। निडरता की

नीति का आरम्भ मनुष्य जाति से पहले नहीं है। इससे जंगल का कानून हिंसा और समाज का नियम अहिंसा है।

अमुक हद से आगे अहिंसा अशक्य बनती और हिंसा अपरिहार्य रहती हो तो यह एक बात है। विकास-क्रम में यह स्थिति तो सदा ही रहने वाली है। पर तत्व-दर्शन से हिंसा का समर्थन निकाल कर बाकायदा उसकी तैयारी में लग जाना बिल्कुल दूसरी बात है।

यह दूसरे प्रकार की तोर-तैयारी के साथ की जाने वाली हिंसा मानवता के लिए लज्जा की चीज होनी चाहिए। पर वह उलटे गौरव की बात बनी हुई है—यह हमारी आज की मानव सभ्यता की विडम्बना है। हमारे ज्ञान-विज्ञान और संस्कृति-सभ्यता पर यह तीखा प्रश्न है। हमारी सारी विचार-पद्धति की ही यह एक आलोचना है।

यह कोरा वहम है कि मारने से जीने के मान में कुछ लाभ हो सकता है। आंखो से, अनुमान से या कल्पना से दीखने वाला ऐसा लाभ मिथ्या दर्शन और प्रमत्त दृष्टि की सृष्टि है। वह निरी मरीचिका है। निश्चय ही वह प्रतीत होने वाला लाभ प्रतीति से बाहर पड़कर कोरा शून्य निकल आने वाला है।

अब एक उससे बिलकुल उलटी जीवन-नीति है। वह अहिंसा की है। उसमें अपने बचाव की बात सोचने की ज़गह ही नहीं है। उसमें अपने को देने की तत्परता है। उसे आत्मिक कहो, नैतिक कहो, या कुछ कहो। उसमें जीने के लिए मारने के धोखे को जगह नहीं है। उसमें असत् के सामने डट कर स्वयं मर तक जाने की तैयारी की बात है। निश्चय इसमें गहरी निर्भयता और ऊंचे पराक्रम की आवश्यकता है। स्पष्ट ही इस नीति में अधिक सम्भावना है। भविष्य नहीं खड़ा हो सकता उस पर जो मूल में तृष्णार्त और परिणाम में व्यर्थ है। मजबूती के साथ उस भविष्य की बुनियाद को बांधना होगा उस अहिंसक नीति पर कि जिसकी जड़ श्रद्धा में है और परिणाम जिसका अमोघ और चिरन्तन है।

★

इसके मुक़ाबले दूसरी तरफ़ आधी से ज्यादा दुनिया में धन का दिवाला है और नाज का अकाल है। मुल्क हैं जो साहूकार हैं और अनाज से भरे-पूरे हैं। पर यही मौक़ा क्या व्यवसाय के लिए भी अचूक नहीं है ?—वह व्यवसाय जो सहायता को धर्म समझता है, साथ ही सौदे को अधर्म नहीं समझता !

दुनिया की और देश की ऐसी हालत की झुलस के बीचों-बीच गाँधी जी बैठे हैं। अहिंसा उनका धर्म है, दर्शन है, नीति है, सब कुछ है। लेकिन यह अहिंसा उस दुनिया के लिए है, जो हिंसा से काम लेती आई है। जिसका ईमान अब भी हिंसा में है, जो धर्म और कर्त्तव्य की राह से हिंसा में पहुँचती है, जो बहादुरी और पराक्रम उसी में देखती है, जो समझती है कि अहिंसा सिर्फ जीवन की चुनौती से बचना और भागना है। स्थिति इतनी विषम है कि अहिंसा कुछ वैसा ही हिकारत और मजाक का शब्द बन गया है जैसे कभी 'नात्सी' और 'फासिस्ट' शब्द बन गये थे !

वह सब ठीक, लेकिन गाँधी तो गाँधी ही हैं। इतना ही नहीं कि वह डिगेंगे नहीं, डिगे नहीं हैं; बल्कि यह भी कि किन्हीं भी परिस्थितियों में वह अपने को अनुपयुक्त न होने देंगे, न कभी हारेंगे।

आज परीक्षा है। उससे जैसे सारी राजनीति को आगे राह मिलेगी। कसौटी पर मानो यह प्रश्न है कि हकूमत को क्या यह अधिकार है कि वह जनता पर अपने मन का या मत का सांचा डाले ? या कि राज्य का धर्म है कि जनता को अपने विविध मत, जाति, विधि और वर्ग के भेद के साथ ज्यों-का-त्यों स्वीकार करे ? शासन प्रजानुसारी होगा कि राज्यानुकूल ? यह प्रश्न भविष्य के लिए अत्यन्त गम्भीर है। उसको इस रूप में रखा जा सकता है कि क्या राज्य (स्टेट) या सत्ता के ऊपर कुछ अंकुश है, या नहीं है ? है, तो क्या वह अंकुश स्वयं वह प्रजा ही नहीं है, जिसका प्रबंध और शासन का दायित्व वह राज्य लेता है ? पाकिस्तान और भारत के बीच राष्ट्रद्वैत का सिद्धांत जो कसौटी पर चढ़ा हुआ है उससे मानो आगे के

लिए हमें यह निर्णय भी प्राप्त हो जायगा कि क्या कोई स्टेट (Theocratic) मतवादी हो सकती है ? साथ ही इस प्रश्न का भी निबटारा हो जायगा कि मत और विचार की एकता अनिवार्य (Totalitarian) होकर किसी राज्य के लिए क्या वैध और जायज़ ठहराई जा सकती है ?

आज तो मानो तंत्र के और जन के बीच लड़ाई है। तंत्र के लिए जन को रहना होगा और झोंका जायगा ? या जन के लिए तंत्र को बनना होगा, नहीं तो मिटना होगा ? इसका निपटारा होना है।

गांधी जी किसी सरकार के प्रतिनिधि नहीं हैं। वह तनिक भी सरकारी नहीं हैं। फ़ौज नहीं, पुलिस नहीं—सत्ता का कोई चिन्ह नहीं। वह निरीह जन के प्रतिनिधि हैं, उसी के प्रतीक हैं। सच में तो इस या उस, कांग्रेसी या पाकिस्तानी, या हिन्दू या अंग्रेज़ी हकूमत की प्रतिष्ठा से उनको वास्ता नहीं है। वह तो सब सरकारों में, और ज़रूरत होने पर उन सरकारों के विरोध और प्रतिरोध में, जन की और श्रम की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यह उनका काम शांति का समझा जाय या क्रांति का समझा जाय, एक क्षण के लिए भी नहीं रुकता है। और यह काम वह राम का काम समझ कर करते हैं। यानी वह निरा राष्ट्रीय नहीं है, ऐहिक और सामयिक नहीं है; बल्कि मानवीय, आध्यात्मिक और चिरंतन है।

★

: २ :

संयुक्त मानव

आस्तिक के लिए अवतार के होने में विश्वास करना सहज है। वह मानता है कि यहाँ ईश्वर का चाहा होता है, इससे कर्तृत्व सब उसी का है। आदमी तो साधन भर है, भगवान् के आदेश का पालन उसका काम है। उस अर्थ में हम सभी उसके भेजे यहाँ हैं। जो यहां अपने मन-बुद्धि-कर्म को पूरी तरह उसे सौंपकर स्वयं शून्य बने, उसके लिए अवतार से दूसरा क्या विशेषण आस्तिक के पास हो ?

गांधी ऐसे ही पुरुष थे। प्रतीक की भाषा में नहीं, विज्ञान की भाषा में उन्हें अवतार कहना होता है। उनकी साधना महान् अथवा गुणवान आदि बनने की नहीं थी। वह निर्गुण, अकिंचन और एकदम शून्य होने के प्रयत्न में रहे। इस कोशिश में अणुभर भी उन्होंने अपने को नहीं बचाया। साधना के इस रूप को ऐहिक बुद्धि से समझना असम्भव है। भक्ति ही उस मर्म को पा सकती है। ऐसी भीगी-भक्ति में अपने को लीन करने की सतत चेष्टा करने वाला पुरुष अनायास फिर कैसे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनिवार्य और अदम्य बन उठा, यह किसी भी और तरह समझ में नहीं आ सकता। गांधी उस बुद्धि के लिए सदा पहेली रहेंगे, जो जगत् को जगदाधार के बिना समझती है। अन्यथा गांधी द्वैत से त्रस्त जगत् के त्राण का एक समन्वित समाधान है।

गाँधीजी का काम ईश्वर का काम था। यानी आत्म-शुद्धि का काम था। जीते रहे तबतक उसमें एक बाधा थी, वह बाधा थी शरीर। शरीर रहते वह पूरी तरह शून्य कैसे बनते ? उनका संदेश तब तक

अधूरा था। कैसे जीना, यह तो वह बता सके; पर मरना कैसे, यह भी तो उन्हें बताना था। जीने से मरने तक की पूरीजीवन-नीति का चित्र उन्हें इस दुनिया को दे जाना था। यह बाधा इस तीस जनवरी को उनसे दूर हो गई। उनका काम भी तब एक संपूर्णता को आ गया। जीवन यज्ञ है और मृत्यु को भी यज्ञ के रूप में ही आना है। मृत्यु जीवन के अनुरूप ही एक बलिदान हो। तमाम जीवन ही बलि है। अर्घ्य की भाँति वह पवित्र हो और कृतार्थ भाव से उसको होम दिया जाय, यही है सच्ची जीवन-पद्धति। गांधी-जीवन और गांधी-मृत्यु उसी की सचित्र व्याख्या है।

जीते वक्त अवसर था कि हिन्दुस्तान उन्हें अपना नेता कहे; देवदास पिता कहे और कुछ लोग अपने को उनके पास और दूसरे बहुतेरे अपने को उनसे दूर मानें, कुछ अपना उनपर अधिकार मा ें, दूसरे अपने को वंचित मानें, कुछ सौभाग्यशाली बनें कि वे गाँधीजी के नजदीक हुए, तो कुछ और खुद को मन्दभागी मानें कि वे गाँधीजी के पास तक न पहुँच पाए। इस तरह दूर-पास, अपने-पराये के दायरों से उनकी मुक्ति न थी। पर वह तो एक के होकर सबके बनना चाहते थे। दुनिया के न रह जायँ इस कीमत पर उन्हें हिन्द का या हिन्दू का नहीं रहना था। विभेद में से अभेद उन्हें पा लेना था। लेकिन उस अभेद में जीनेवाले को विभेद घेरता ही था। इसका उपाय यही था कि अन्तिम बाधा देह गिरे और शून्य में मिलकर वह एक ही साथ सबको समान भाव से सुलभ बन जाय। अब हिन्दू, कांग्रेसी या हिन्दुस्तानी इत्यादि कोई विशेषण उन्हें छू और पा नहीं सकता। किसी के गर्व को उनका सहारा नहीं हो सकता, न किसी के लिए उनसे निराशा का बहाना। गांधी जी आज केवल प्रकाश और आदर्श के रूप में सामने हैं और वह उन्हीं के हैं जो उन्हें अपने अन्दर लेने को तत्पर हैं।

इस अखण्डता से अलग गांधी जी के महत्त्व को समझने की मेरी इच्छा नहीं है। कर्म में गांधी विविध हैं और बुद्धि-भेद के लिए मौका

छोड़ते हैं। सत्य ही ईश्वर, प्राप्त रूप में वही अहिंसा—इस दो शब्द की परिभाषा वाली अनन्य निष्ठा से आगे चलकर उनका अनंत लीला-मय जीवन हमको प्राप्त होता है। वह चमत्कृत कर देता है। उस जीवन का अनुकरण नहीं हो सकता। वह गाँधी के साथ इतना विशिष्ट है कि इतिहास में किसी भी भाँति दोहराया नहीं जा सकता। लेकिन जो सर्व सामान्य है, सब काल और सब भूमि के लिए है, सबके लिए सहज और सुलभ है, वह है उनकी सत्यनिष्ठा और अहिंसक तत्परता।

हर आदमी की अपनी परिस्थिति और अपनी भूमिका है। धर्मनिष्ठा का प्रयोग भी वहाँ जो होगा दूसरी किसी परिस्थिति अथवा व्यक्ति के लिए उपयुक्त न ठहरेगा। इस तरह एकमेव ईश्वर-निष्ठा से इस ब्रह्माण्ड के अनन्तानन्त व्यापार चल सकते हैं और उन सबके विभिन्न स्वरों से एक ऐसे समवेत संगीत का स्वर झंकृत हो सकता है कि सूर्य-ग्रह-नक्षत्र-तारा मंडल सब मुग्ध हो जाय। इसके विपरीत व्यक्ति की निजता से, उनकी अपनी-अपनी स्वार्थ-भावना से, जगत् का कर्म-चक्र चलता हो तब संघर्ष और संघात का ताण्डव मच उठे; हर दस-बीस साल बाद महासंहार की लीला अनिवार्य हो उठे; लोग डरते और डराते हुए जीयें और इस डर के तले अपने को दलों में जुटाकर दूसरे का द्वेष और वैर पोसें—तो इसमें अचरज क्या!

गांधी को उसी मनोलोक का, सतयुग का या भागवद्भूमि का वासी कहना होगा जो कोलाहल में संगीत जगाता है, बुराई में से भलाई उपजाता है, जड़ को चेतन करता है और संघर्ष में से सहयोग जुटाता है।

तो क्या कभी सचमुच रामराज्य होगा? क्या ऐसा कभी होगा कि राजा वही हो जो सबका चाकर हो और प्रजा का हर आदमी अनुभव करे कि वह मालिक और राजा दास है? कि औसत आदमी इतना स्वस्थ और समर्थ हो कि दूसरे के स्नेह में अपने को समाने की ही सोचे, उससे अपना स्वार्थ साधने की तनिक भी न सोचे? कि, संक्षेप में, राजा और राज्य

हो ही नहीं, सब श्रमी हों और स्नेही हों, और इस तरह से सब एक-दूसरे के प्रेरक और स्वावलम्बी हों ?

वह समय आयेगा कि नहीं आयेगा, पर गाँधी तो जैसे उसी में जिया। जैसे वह अपना काल और अपना लोक साथ लेकर धरती पर आया। स्वप्न ही उसने यथार्थ किया। अपनी महापराक्रमशील श्रद्धा से जिस यथार्थ को उसने छुआ, वही उसके स्वप्न की सत्यता और शोभा से उज्ज्वल और मोहक बन आया।

अणु-शक्ति का यह युग है। यानी पदार्थ में की गूढ़ शक्ति का हमने उद्‌घाटन कर लिया है। उस पदार्थ को इस अतिशयता से उत्पन्न करना हम सीख गये हैं कि उस अतिशयता के जोर से मनुष्य की सारी चिन्ता को हमने पदार्थ विषयक बना डाला है। विज्ञान ने हमें मशीन दी, मशीन ने अवकाश दिया, और अवकाश ने हमारी आकांक्षा और कल्पना को उत्तेजना दी। परिणाम में शास्त्रों का शास्त्र बना राजनीति-शास्त्र, और देवों का देवाधिदेव स्टेट, और मनुष्य की सारी बुद्धि इस शास्त्र और इस नवीन देवता की अर्चा में झुक गई।

इस नवाविष्कार के नव प्रमत्त युग में, जब मनुष्य के पास बुद्धि खूब हो गई है, तब मालूम हुआ है कि ईश्वर नहीं रह गया है। श्रद्धा अंधी ही तो है जो आस्तिक होती है। वह तत्त्व को खोलती नहीं, ढँकती है। अतः अपने मानव-गर्व को हाथ में लेकर सब तहों को तर्क से एक-एक करके चीरकर और छीलकर, हमें अन्दर के तत्त्व को पा लेना और प्रतिष्ठित कर देना है। ऐसे ही व्यवस्था आयेगी, प्रचुरता आयेगी और सुख आयेगा !

जब सभ्यता इस दिशा में सरपट सदियों से चली आ रही थी, तब गांधी एक बड़े प्रश्न चिन्ह की तरह आ प्रकटा। उस सरपट चाल में गांधी के कारण एकाएक स्तब्धता आ गई और अब यद्यपि पैरों की गति मानवता को उसी तरफ लिए जा रही है, फिर भी मन में उसके खलबली है और मानवता जैसे ठगी और ठिठकी-सी उधर चल रही है।

विश्व का राज-करण गड़-गड़ाता हुआ, यद्यपि लड़-खड़ाता हुआ, अभी तक शस्त्रीकरण और अणु बमों के निर्माण में से अपनी राह बूझ रहा है। निश्चय शस्त्रास्त्र के मुँह में युद्ध है। लेकिन राज-नेताओं के और उनके राजकरण के अंतर में, जहाँ मानव-सामान्य का हृदय निवास करता है उस बहुसंख्य जनता में, गहरा संशय घर कर गया है। जान पड़ता है उस सभ्यता, यानी राजनीतिक सभ्यता, की यह आखिरी चमक है और उसे अब सदा को बुझ रहना है। एक नये युग का सूत्रपात होनेवाला है और गाँधी का बलिदान उसी का बीजारोपण है। उसका मर्त्य जीवन यदि समाप्त हुआ है तो इसीलिए कि मानवता के आगामी विकास में वह अमर हो उठे। गाँधी से एक काल का अवसान और दूसरे कल्प का उदयारम्भ होता है। उसको कहें : सर्वोदय कल्प।

मानव-व्यापार में अब तक एक असिद्धि देखने में आती थी। जैसे वह सूत्र हाथ न आता था, जो विभक्त मानव को संयुक्त कर दे। व्यक्ति के प्रकट कार्य-कलाप में और उसी की अव्यक्त आकांक्षा में विग्रह और विरोध रहता था। हर व्यक्ति अपने अन्दर मानसिक द्वन्द्व लिए चलता था। समूह रूप में वही विग्रह धन और जन का, शासक-शासित का, पूंजी-श्रम का, यानी दल, राष्ट्र अथवा श्रेणी-विग्रह का रूप लेता था। इस विग्रह-विरोध को खतम करने के लिए जो उत्कट और अनिवार्य प्रयत्न हुए, देखा गया कि वे इस या उस मत (यानी व्यक्ति) की अधिनायकता (Ideological, i.e, Dictatorial Totalitarianism) में निष्पन्न होते हैं। फिर एक का नाम कम्युनिज्म है और दूसरे का नाम फासिज्म या नाजीज्म, यह भाषा की ही बात है। अन्तर्विरोधों को हठात् बाहर से मिटाने के इन कृत्रिम प्रयत्नों से हालत सुधरी नहीं, समस्या और विषम ही हो आई, अभीष्ट और दूर ही जाता दिखाई दिया। सहसा प्रतीत होता था कि व्यक्ति जो व्यक्ति का शोषण करता है, और समूह-समूह का, सो सबका एक-सा भला चाहने और करने की नीति पर खड़ी की जानेवाली संस्था, यानी स्टेट, सब साधनों को कब्जे में

करके और विज्ञान के सब आविष्कारों की मदद से, सभी व्यक्तियों और वर्गों के ऊपर होकर, जरूर स्वर्ग धरती पर उतार ला सकेगी। पर वैसा न हुआ और स्टेट स्वयं आदमी के रक्षण से अधिक आदमी का भक्षण कर निकली।

हिसाब तो साफ़ और सीधा था। पर परिणाम में उलझनें बढ़ आईं। पहले विलासी और अहंकारी लोग थे और वे हाकिम बने हुए थे; सोचा कि व्यवस्था-बुद्धिवाले बौद्धिक जन हकूमत के मुँह पर होंगे, तब स्थापित स्वार्थों से पैदाहोने वाली दिक्कतें रह न जायेंगी, सारे जीवन का राष्ट्रीयकरण होगा, और इस तरह समस्याएँ काफूर हो जायेंगी!

वह हिसाब सही उतरा नहीं है। जिन मशीनों को धड़ाधड़ मानव के लिए भोग्य और उपभोग्य सामग्री पैदा करना था, उन्हें अस्त्र-शस्त्र बनाने में लगना पड़ा, जान पहले बचे, तब तो और सामान बनाने की सोचेंगे! ऐसे जब भोग की प्रचुरता सामने थी तभी अपनी रक्षा का सवाल घिर आया। उन्नति करते जाने में हम उससे दुगुनी जो दुश्मनी पैदा करते जाते हैं, उसका पता न रहता था। लेकिन ऐन वक्त पर वह चीज सामने आ गई।

परिणाम यह है कि धन जितना बढ़ा है, दीनता भी उतनी ही बढ़ी है। उन्नति उतनी ही हुई है जितना वैर और हथियार बढ़े हैं। निश्चय ही हम दैन्य और वैर बढ़ाने के लिए उधर नहीं चले थे। क्या पिछली दो लड़ाइयाँ इसीलिए नहीं लड़ी गई थीं कि लड़ाई का अन्त होगा और सुख चैन का रास्ता खुलेगा? युद्ध में हजारों-लाखों का मारना ऐसा ही तो नहीं है, जैसा कसाईखाने में जानवरों का जिबह करना। नहीं, उसमें विशेषता है। लोग तब सिर्फ मारते नहीं हैं, बल्कि अपने लेखे पुण्य का काम करते हैं। मानों सिर्फ कर्तव्य की राह की बाधा को वे हटाते हैं। यानी एक आदर्श महत् भावना के सहारे ही युद्ध लड़ा जाता है। इस तरह एक बड़ा साहित्य और एक लम्बी परम्परा बन गई है जो युद्ध की हिंसा

को चित्ताकर्षक बनाती है। वहाँ मारने को वीरता और मारते हुए मरने को अमरता कहा जाता है। ऐसे महत् गर्व के भाव से लोग सामने वाले को दुश्मन कहकर एक-दूसरे का गला काटने का काम करते रहते हैं।

ज़रूर उस हिसाब में चूक है। जरूर वहाँ कुछ छद्म और छल है, जहाँ एक-दूसरे की हत्या धर्म बन जाती है। वह छल कहाँ है, पकड़ में न आता था। धार्मिक जन थे और धर्मशास्त्र थे, पर वे तो सिद्धान्त की दुनिया के लिए थे। काम-काज की और मेरे-तेरे की दुनिया में वे बेकार साबित होते थे। सन्त इस तरह स्वतन्त्र था कि वन में या कुटिया में सन्त बना रहे और शास्त्रों का भी अवसर था कि स्वर्गिक सिद्धान्तों की अर्वाचीन व्याख्या से वे भरे-पूरे रहें। जैसे असल जगत् उनसे अछूता था और उसके अलग नियम थे।

गाँधी ऐसे समय सिद्धान्त में से नहीं, ठेठ व्यवहार में से आविर्भूत हुआ। वह बैरिस्टर था और मामले-मुक़दमे निपटाता था। उसकी व्यवहार की अनोखी सफलता ही गतानुगतिता को चुनौती बनी। उसने बताया कि साधन नहीं है भिन्न साध्य से, और एकता लाने के लिए विग्रह की या सुरक्षा लाने के लिए हिंसा की राह नहीं चलना होगा। कल जो हम चाहते हैं, आज उसी के बीज हमें बोने होंगे। एक अनेक से अलग नहीं है, इसलिए समाज के सुधार या परिवर्तन के लिए अपने सुधार-परिवर्तन से शुरू करना होगा। दूसरा वही है जो मैं हूँ, इसलिए अपनी इज्जत के लिए दूसरे की इज्जत करनी होगी। अपने मत के लिए दूसरे के मत की रक्षा करनी होगी। परिवर्तन आयेगा तो बाहर से नहीं, सब के अन्दर से वह आयेगा। इसलिए असल परिवर्तन हृदय में और हृदय का होना है। और वह किसी संख्या के, शस्त्र के या मत के बल से नहीं होगा, आत्मा के बल से होगा; यानी कष्ट-सहन और क्षमा की शक्ति से होगा।

बातें ये नई न थीं। प्राचीनता जितनी पवित्र और सुन्दर थीं। सिद्धान्त के समान वे ध्रुव थीं। लेकिन गाँधी ने अपने रक्त से उन्हें

अँगारे की तरह लाल बनाया। धड़कते दिल की तरह वे हरेक में जा बैठीं। उनकी सचाई की साख सब के अन्दर से आप ही जग आई। परिणाम यह कि सीधे-सादे हाड़-माँस के लोग गाँधी के स्पर्श से ऐसी ऊँचाई तक उठ आये कि पीछे स्वयं उनको ही विश्वास न होता था। एक समूचे देश ने गाँधी के जादू के नीचे शान्त रहकर एक जबरदस्त साम्राज्य को जीता और आज़ादी पाई। साबित हुआ कि आदमी में कितनी भी दुर्बलता हो, बर्बरता भी हो, लेकिन गहराई में उसके देवत्व भी पड़ा हुआ है।

परम मूल्यों और ध्रुव सिद्धान्तों का गाँधी के हाथों यह जीवित पुरस्कार, और संघर्ष की राजनीति में धर्म की नीति का यह सफल प्रयोग, बीसवीं सदी की दुनिया के लिए अनोखा है। उसने एक बार उस खाई को पाट दिया जो धर्म और कर्म को अलग रखे हुए थी। व्यवहार ही अध्यात्म का क्षेत्र बना और राजनीतिक शास्त्र में राम-राज्य के आदर्श की प्रतिष्ठा हुई। भारत-जैसे महादेश की सक्रिय राष्ट्रनीति को चलाते हुए भी उन्होंने रामराज्य की टेक रखी। रामराज्य, राजशाही या लोकशाही आदि कुछ भी नहीं है। वह तन्त्र बद्ध नहीं है। उस राज्य के अर्थ को यहाँ तक खींचा जा सकता है कि वह राज्य-जैसा रहे ही नहीं।

इस तरह गाँधी राज-कारण को चलते हुए भी संगठित और केन्द्रित सत्ता, यानी स्टेट, को विकेन्द्रित भी करते गये। सत्ता की अपेक्षा व्यक्ति को उन्होंने अधिक ही महत्व दिया और कहा कि हुकूमत की सफलता इसमें है कि वह रहे ही नहीं। उस जीवन-क्रम को उन्होंने घटित करके बताया, जहाँ आत्यन्तिक व्यवस्था रहती है, फिर भी अलग से कोई व्यवस्थापक आवश्यक नहीं होता। आदर्श समाज स्वयं अपने भीतर से नियमित होगा, बाहरी नियामक उसके लिये अनावश्यक हो रहेगा।

गाँधी जी संक्षेप में उस जीवन-नीति के मूर्त उदाहरण हैं, जिस पर

व्यक्ति और समाज का आगामी निर्माण होगा। उस नीति के कुछ ये सूत्र बन सकते हैं :—

(१) आवश्यक है कि व्यक्ति का बाह्यकर्म उसके अन्तःकरण से टूटा हुआ न हो। प्रेरणा उत्तरोत्तर व्यक्ति को अपने अन्तरतम से प्राप्त करनी चाहिए। व्यक्ति के अन्तरतम में ईश्वर का निवास है। इसलिए जो वहाँ से अपना आदेश और नियम प्राप्त करता है वह सतत कर्मी होकर सर्वथा निर्लिप्त बनता है और इस तरह उसका स्वल्प-कर्म अतुल फल देता है।

(२) इन्द्रियों को बुद्धि में, बुद्धि को मन में, मन को आत्मा में युक्त करके जो विराजता है, वह जगत् को प्राप्त करता है।

(३) सत्य ही एक है, इसलिए अपने से शेष के प्रति व्यक्ति का सम्बन्ध अहिंसा का ही हो सकता है। ऐसे ही सत्य का साक्षात्कार सम्भव है।

(४) तत्पर अहिंसा यानी सक्रिय सेवा बिना सिद्धि नहीं। भक्ति उसी सकर्मक रूप में उपलब्धि बनती है।

(५) मनुष्य जैसे भोजन बिना नहीं जी सकता, वैसे ही श्रम बिना उसे जीने का हक नहीं आता। श्रम से वह भोजन-वसन ले। यह श्रम सेवामय और यज्ञार्थ ही हो सकता है। ऐसा न करके जो लेता है, वह चोरी करता है।

(६) मानव-सम्बन्ध अहिंसा पर बनेंगे तो उनके बीच श्रम का और श्रम के फल का आदान-प्रदान जहाँ तक हो सीधा और सुलभ होगा। उपज और खपत के बीच विनिमय के माध्यम के तौर पर श्रेणी को और सिक्के को आने की कम-से-कम आवश्यकता होनी चाहिए।

(७) समाज की रीढ़ है उत्पादक श्रमिक। पदार्थ का सच्चा मालिक भी वही है। शेष उसके बाद आते हैं। इस तरह व्यवस्थापक

और हाकिम बोझ हैं, जिनको शनैः-शनः हटना और स्वयं श्रमिक बनना है।

(८) प्रकट हिंसा अन्दर के द्वेष और वैर आदि का परिणाम है। व्यक्तियों, श्रेणियों और समूहों में विग्रह और प्रतिस्पर्धा का सम्बन्ध भ्रान्त है। उस आधार पर प्राप्त किया गया कोई परिवर्तन शुभ और स्थायी नहीं हो सकता।

(९) अनीति और अधर्म से युद्ध ठानना ही जीवन की प्रगति है। अनीति से नैतिक होकर और अधर्म से धार्मिक होकर ही सामना किया जा सकता। उसका उपाय है, आपसी विचार-विनिमय, कष्ट-सहन और फिर आवश्यक होने पर असहयोग और सत्याग्रह।

(१०) दूसरे को कष्ट देकर उसे बदला नहीं जा सकता। कष्ट सह कर ही उसमें हृदय परिवर्तन लाया जा सकता है। क्योंकि अन्त में वह मुझसे भिन्न नहीं है, इससे मेरी सच्ची व्यथा उसे छुए बिना न रहेगी। फिर भी वह काम राम का है और अपनी व्यथा में से मैं अपनी शान्ति पाता हूँ, यही मेरे निकट उपलब्धि है। उपवास इसी आत्म-पीड़न की धर्म-नीति का एक रूप है।

(११) भाषा, भूगोल, रीति-नीति, आचार-व्यवहार आदि से हमारे बीच अन्तर पड़े हुए हैं, उनको मान देकर भी हमें अविचलित श्रद्धा रखनी चाहिए कि सब हम एक ही कुटम्ब के हैं और सब अपनी अपनी भाषा और धर्मों के द्वारा एक ही भगवान् को पूजते हैं। जीना-मरना भगवान् की इच्छा से होता है; इससे मृत्यु को हिसाब में लाकर सीधे से टेढ़े हम नहीं जा सकते। मृत्यु तो मित्र बनकर आती है और उसे हँसते हुए भेंटना है।

(१२) झंझटें ज्यादातर नासमझी से होती हैं। इससे धीरज और दूसरे में विश्वास नहीं खोना है। विश्वास रखने से व्यक्ति विश्वस-नीय बनता है। और ऐसे कोई ठगाया भी जाय तो हानि नहीं है।

संयुक्त व्यक्तित्व का साधन-सूत्र सदियों से खोजा जा रहा है। भारत में जिसे योग-साधना कहें, वह यही व्यक्तित्व का एकीकरण है। मानस-शास्त्री आभास पाते रहे हैं कि व्यक्तित्व अगर अपने में पूरी तरह गठ जाय तो उसमें से कितनी न विराट् शक्ति प्रस्फुटित होनी चाहिए। अणु के अन्तर्भेदन से जो शक्ति आज प्राप्त कर ली गई है, वैज्ञानिकों को कई पीढ़ियों से उसका अनुमान था। विभक्त अणु (Split Atom) की संयुक्त-मानव की तुलना में बिसात ही क्या है? मेरा मानना है कि इस सम्पूर्ण एकीकरण (Integration) का ब्योरेवार विज्ञान शोधक को गाँधीजी के जीवन-प्रयोग से प्राप्त हो जायगा। उनकी वाणी और लेखनी में उसकी टीका भी पूरी मिल जाती है। सत्य का यह समग्र और वैज्ञानिक प्रयोग एक ऐसा चमत्कारपूर्ण आविष्कार है कि उसके प्रकाश और परिणाम में सहस्राब्दियों तक अनेकानेक शास्त्र, साहित्य, और संयोजनाओं को स्वरूप मिला करेगा और मानव मानवोत्तम बनने की राह पाता रहेगा।

: ३ :

गाँधी जी का अखंड योग

गाँधी जी के बारे में बहुत लिखा गया है। उनका काम हर तरफ़ फैला है, और उसके अनगिनती पहलू हैं। उनके दान को शब्दों में बाँधना ऐतिहासिक के लिये आसान नहीं होगा। कोई क्षेत्र नहीं जिसमें उनका असर समाया न हो। उनका प्रकाश दूर तक और हर कोने में पहुँचा है। उनकी छाप समय पर गहरी है और हिन्दुस्तान के तो इस चौथाई सदी का इतिहास उन्हीं की साँस से बना है।

लेकिन उनके बाहरी काम और असर के जरिये गांधी जी की असलियत तक पहुँचने में कठिनाई भी हो सकती है। धूप में सूरज को देखने से आँखों में चकाचौंध समा जाती है। तब सूरज ठीक-ठीक नज़र नहीं आता। उसी की रोशनी की झलझलाहट हमें उससे परे रखती है। इसलिए अक्सर लोग, धूप पाकर जिनका सूरज से मनोरथ समाप्त नहीं होता और जो उससे आगे भी सूरज की सचाई पाना चाहते हैं, उपाय करते हैं जिससे सूरज और उनके बीच की धूप उन्हें आँखों न लगे। ऐसे ही मुझे प्रतीत होता है कि गांधी जी की असलियत को पाने के लिए उजागर राजनीति में से न देखना, या उससे असंलग्न होकर देखना, ज़्यादा ठीक होगा। उनके आन्दोलनों अथवा उनकी संस्थाओं में से उन्हें देखना धुएँ में से आग या कलेवर में से आत्मा को देखने के समान हो सकता है।

हमारी भाषा स्वार्थ की है। भाषा का प्रयोग है कि अमुक ने हमें

प्रकाश का दान दिया। कृतज्ञता से यह कहना ठीक ही है। पर सत्य में हम जानते हैं कि प्रकाश जो देता कहा जाता है, खुद में तो वह जलता ही है। प्रकाश को वह नहीं जानता, जलने को ही जानता है। प्रकाश इस स्वयं जलने का ऐसा प्रतिफल है कि जिसमें अपने आप में कोई अभीष्टता नहीं है, केवल एक अनिवार्यता है।

गाँधी जी के जमाने में रहकर हमारे लिए सम्भव नहीं है कि हम उनके प्रति कृतज्ञता की भाषा से बच सकें। उन्होंने हमको हमारी मनुष्यता की सुधि दी है। हमारी आँखें खोली हैं। उस हिन्दुस्तान में हम रहते हैं जिसकी रगों में उन्हीं के जगाये प्राण दौड़ रहे हैं। इससे अभिनन्दन और अनुगमन द्वारा हम गांधी को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं।

लेकिन अगर हम कृतज्ञता के भाव से ऊपर जा सकें और गांधी जी की महिमा में न रहकर उनकी सत्यता में उतर सकें तो हमें स्तब्ध रह जाना होगा। तब शायद भय से हमारा मन रुक जायगा। 'नेता' मान कर उनके प्रति जय-जयकार का गुञ्जार तब हमसे कदाचित न फूटेगा। बल्कि हमारा हृदय एक गम्भीर अनुकम्पा और अज्ञात भीषिका से भर आयेगा। हमारी आँखें तब भीग आयेंगी और लगेगा कि हमारी नीचे की धरती शून्य हो गई है और एक अतल में हम खोये जा रहे हैं।

गाँधी जी का बाहरी रूप मोहक है। लेकिन उनकी भीतर की यथार्थता थर्रा देने वाली हो सकती है। वहाँ एक ऐसा महा शून्य है कि जिसकी थाह नहीं और विरले को उसमें झाँकने की हिम्मत हो सकती है।

व्यक्ति जो करता है वह उसी का रूप है जो वह है। होना ही करना है। कर्म का मूल भाव में है। इससे उसकी पहिचान भी वहीं है। यानी आदमी के महत्त्व की परख इसमें नहीं है कि वह क्या करता है, बल्कि वह तो इसमें है कि वह क्या है।

इसी भाँति गांधी जी की यथार्थता राजनीति में नहीं धर्म में देखनी होगी। राजनीति कर्म-गत है, धर्म भाव-रूप। इससे धर्म-प्राण होकर ही राजनीति सत्य है अन्यथा वह मिथ्या है। धर्म से विहीन कर्म वन्धन की सृष्टि करता है। वैसे कर्म के मूल में 'अकर्म' नहीं रहता, अहंकार रहता है। गांधी जी का कर्म स्वभाव-सहज है। यहां तक कि उसका कर्तृत्व भी गांधी जी पर नहीं है। बड़े-से बड़ा काम इसीसे उनकी नींद को अटका नहीं पाता है।

इस प्रकार गांधी जी का कर्म गांधी जी का माप नहीं है। इस जगह वह सब देशों और इतिहासों के राजपुरुषों से अलग हैं। राजकीय महापुरुषों का कर्म विराट किन्तु व्यक्तित्व स्वल्प होता है। मानो उस कर्म की विराटता के पीछे मन-प्राण की क्षुद्रता छिपी रहती है। किया जानेवाला काम देश-देशान्तर-व्यापी, किन्तु करनेवाला मन अहम्-सीमित होता है। धार्मिक पुरुषों की बात इससे न्यारी है। कर्म ऐसे व्यक्ति के पास शून्यवत् है और भाव पर उसके कोई निजता की सीमा नहीं रह जाती। इससे ऐसे व्यक्ति का स्वल्प कर्म कालान्तर में बृहत् फल उत्पन्न करनेवाला हो जाया करता है।

गांधी जी की दूसरे अधिकांश प्रसिद्ध कर्मण्य पुरुषों से इस जगह पृथकता है। छोटे काम या बड़े काम जैसी संज्ञा उनके पास नहीं है। काम कोई भी छोटा नहीं है, इसीसे न कोई बड़ा है। असल में आन्तरिकता से पृथक् बाहरी काम जैसी वस्तु ही उनके पास नहीं है। यह उनकी विशेषता संसार के कार्मिक पुरुषों से उन्हें अलग करके इतिहास के आप्त और मुक्त पुरुषों की पंक्ति में रख देती है।

गांधी जी की सम्पूर्ण सत्यता की झलक के लिए उनके रचनात्मक कार्यक्रम के अध्ययन से अधिक उनकी निष्ठा के मनन की ओर झुकना होगा। क्या वह यज्ञज्वाला है जिसमें कि उनका क्षण-क्षण जलता और उजलता हुआ बीतता है? क्या व्यथा है जो उन्हें धारण रखती है?

अचूक और हर दिन प्रातः-सन्ध्या प्रार्थना के रूप में उस व्यक्ति में से उच्छ्वसित होनेवाली वेदना क्या है? वह राम-नाम की रटन प्रकृत में क्या है जो इधर पैंतीस वर्षों से दिन-रात के किसी पल उनमें नहीं थम पाई? मेरा आग्रह है कि इसी अज्ञात और अज्ञेय महारहस्य में गाँधी जी के व्यक्तित्व की सचाई निहित है।

राज-कर्म में तो वह विरोधाभास के पुञ्ज हैं। जगत् के प्रति असंख्य उनके पहलू हैं। उस ओर से वह एक पहेली हैं, प्रश्न हैं, अचरज हैं। वहाँ वह एक ऐसी विचित्रता हैं, जिसे एक-सी उपयुक्तता के साथ विक्षिप्त और अलौकिक कहा जा सकता है। बुरे-से-बुरे और अच्छे-से-अच्छे विशेषण को उनसे लौटना नहीं होता, सब विशेषण उन पर ठहर सकते हैं—वह एक ऐसी विशिष्टता है। किसी के निकट वह धूर्त तो दूसरे के निकट वे महात्मा हैं। पर वह निर्विशिष्ट क्या है जहाँ सब विशेषण छूट रहते हैं और निपट निजता ही उनकी बच रहती है?

मेरी प्रतीति है कि उनके व्यक्तित्व की सत्यता वहाँ नहीं जहाँ नाना-विधि कर्म में वह विभक्त हैं। बल्कि उस जगह है जहाँ वह अपनी निष्ठा में संयुक्त और अखण्ड हैं। राजनीति में गाँधी जी समय की भाँति चंचल और प्रवाही हैं। बहुत उनके रूप हैं और अपने ही वाक्यों से वह बँधे हुए नहीं हैं। वहाँ वह माया के समान रपटीले हैं। पर कहीं अवश्य वह अविचल और ध्रुव हैं, और वहीं उनके व्यक्तित्व के तिलिस्म की कुंजी भी है।

धर्म और राजकरण प्रकटतः दो हैं। एक है नित्य सिद्धान्त, दूसरा है सामयिक व्यवहार। एक की परिभाषा काल से अछूती है, दूसरे की की भाषा पल-पल बदलती हुई काल-गति से बनती है। पहले धर्म की राह पर सन्त सुनसान की ओर गया है, और दूसरे की सिद्धि में सरदार को घमासान में बढ़ना हुआ है। सन्त और सरदार के आदर्शों में विरोध रहा है। एक का सत्य दूसरे के लिए मिथ्या हो रहा है। धर्म-विश्वासी

ने जगत् को माया कहकर उसपर आँख मूँदी है और तलवार के अभ्यासी ने ईश्वर की ओर पीठ देकर जगत् को वस में किया है।

इन दो राहों के राहियों को समझने में हमें दिक्कत नहीं होती। उन दोनों का द्वैत जैसे दोनों को स्पष्ट करता है। पर गाँधी जी के व्यक्तित्व में इतना निपट अद्वैत है, ब्रह्म और जगत में इतना ऐक्य है, कि द्वैत से प्रकाश पानेवाली बुद्धि गांधी के आकलन में असमर्थ हो रहेगी। श्रद्धा-संयुक्त बुद्धि, जो अज्ञेय को क्षोभ में इन्कार नहीं कृतार्थता में स्वीकार करती है, ऐसी बुद्धि के योग से ही गांधी की समन्वित सत्यता को हृदयंगम किया जा सकेगा।

गाँधी जी को कर्म के क्षेत्र में ही सम्भवतः सबसे अधिक अनुयायी मिले हैं। धर्माचार्यों की पंक्ति में गाँधी नहीं हैं। निस्संदेह कर्म से निवृत्ति को उनसे प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती। इस कारण नहीं कि धर्म से अधिक कर्म पर उनका जोर है, बल्कि इसलिए कि धर्म की साधना उनके निकट कर्म-हीनता में नहीं सतत् कर्म-मयता में ही है।

आध्यात्मिक अकर्म की सिद्धि उनके लिए लौकिक सेवा कर्म में ही है। इससे वह लोक (कर्म) प्रवर्त्तक से अलग कोई धर्म-प्रवर्त्तक नहीं हैं। पर सामान्य अर्थ में लोक नेता भी वह नहीं हैं। लोक-कर्मी उनसे परेशान ही अधिक हैं। उद्योगीकरण का उनसे विरोध ही हुआ है, और शक्ति-स्फीत कर्म के उफान को उन्होंने सदा ठंडे छींटे दिये हैं। स्पष्ट है कि लोक-कर्म के माध्यम से उनके जीवन के अविकल सत्य को प्राप्त करने में भूल हो सकती है।

मेरे मत से उनकी साधना अखंड योग की है। स्वार्थोपयोगी से अधिक सत्यशोधी दृष्टि से यदि देखेंगे तो उनके राजनेतृत्व के पार उनके आत्मयोग-साधन पर ही हमारी निगाह ठहरेगी। उनका योग शास्त्रीय नहीं, साहजिक है, ऐकान्तिक नहीं, अखण्ड है। जीवन के परिपूर्ण ऐक्य

का वह प्रतीक है। उनकी साधना में जगत् और ब्रह्म का अन्तिम द्वन्द्व भी लय को प्राप्त होता है।

उस योग का सार है कि अपने में अखंड और युक्त बनो। मन, वचन और कर्म में अन्तर न रहने दो। विचार, उच्चार और आचार एक और अभिन्न होवें। इस अभ्यास में उत्तरोत्तर मनुष्य-मात्र प्राणि-मात्र के साथ एकता की साधना होगी। इसी में उस परमात्मा के साथ योग का लाभ होगा जो सब में व्याप्त है। इसी में से व्यक्ति, देश और जगत् की मुक्ति सिद्ध होगी। इसमें कर्म ह्रस्व नहीं होगा, उस पर से व्यक्ति की निजता की सीमा उठ जायगी। तब स्थूल-कर्म पूजा के समान पवित्र और व्यक्ति-कर्म प्रकृत (परमात्म) कर्म के समान मुक्त, गंभीर और विराट् होता जायगा।

: ४ :

गांधी-नीति

कहा गया कि गांधीवाद पर कुछ लिखकर दूं। मेरे लेखे गांधीवा शब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद अवश्य है। वाद का लक्ष है कि वह प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करे और इस तरह अपने क प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गाँध को वाद द्वारा ग्रहण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई सूत्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। वैसा रेखाब मन्तव्य वाद होता है। गांधी अपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप देखते हैं। सत्य के साक्षात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गय है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीक्षण है। परीक्ष फल आँकने का काम इतिहास का होगा, जबकि उनका जीवन जिया ज चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कह है, रखने के लिए अन्तर (Perspective) कहां है!

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपुष्ट हो रहा है वह केवल बौद्धिक नहीं है। इसलिए वह केवल बुद्धिग्राह्य भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इस लिहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, अथवा अन्य क्षेत्रों में वह एक सा व्यापक है। वह चिन्मय है, वादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतर संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर क़ायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं हैं। वह सहज और स्वभाव-रूप है। उसमें प्रतिभा की आभा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उस निर्गुण अद्वैत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की घूप-जैसा धौला और साफ़ हो आयगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुंजी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं है। वहाँ सब दो एक हैं।

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।" समूचे और बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबको मानकर किन्तु किसी में न फँसकर, गांधी ने सत्य की शरण को गह लिया। सत्य ही ईश्वर और ईश्वर ही सत्य। इसके अतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई और भाषा नहीं है न सत्य की ही कोई और परिभाषा है। इस दृष्टि से गांधी की आस्था का आधार अविश्वासी को एकदम अगम है। पर वह आस्था अटूट, अजेय और अचूक इसी कारण है। देखा जाय तो वह अति सुगम भी इसी कारण है।

कहाँ से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका विना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानों वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रति-शत आस्तिकता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते हैं होता है—क्योंकि जो होनेवाला है उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

बौद्धिक रूप से ग्रहण की जानेवाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को तोड़कर समझने की कोशिश करने से समझ में नहीं आ सकती। इस भाँति वह

एकदम विरोधाभास से भरी, वक्रताओं से वक्र और प्रपंचों से क्लिष्ट मालूम होगी। जैसे मानों उसमें कोई रीढ़ ही नहीं है। वह नीति मानो अवसरवादी (Opportunist) की नीति है। मानों वह घाघपन है। पर मुझे तो ऐसा मालूम होता है कि यह घाघपन, यह कार्यकौशल, अनायास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने अपने जीवन के समूचे जोर से एक और अकेले लक्ष्य को पकड़ लिया है। और वह लक्ष्य क्योंकि एकदम निर्गुण, निराकार, अज्ञेय और अनन्त है; इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता, खोलता ही है। उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वांगीण है। इसलिए सहजभाव से उनका व्यवहार भी आदर्श से उज्ज्वल और ग्रंथिहीन हो गया है। उसमें द्विविधा ही नहीं है। दुनिया में चलना भी मानों उनके लिए अध्यात्म का ध्यान है। नर की सेवा नारायण की पूजा है। कर्मसुकौशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध; यहाँ तक कि द्वित्व ही नहीं रह गया है। सृष्टि स्रष्टामय है और विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यों कहिए कि सृष्टि में स्रष्टा, नर में नारायण, पदार्थमात्र में सत्य देखने की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति, उनकी समाजनीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हुई, स्थूल कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई और घोर घमासान में प्रेम और शान्ति के आनन्द को अक्षुराण रखना बताया गया।

सत्य ही है। भेदमात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। परन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अहंकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने को अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चरितार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह भित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता है तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है।

समूचा राजनैतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देश सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना बदलना भी आ जाता हैं।

पर वह कैसे ?

सत्य की आस्था प्राप्त कर उस ओर चलने का प्रयत्न करते ही अभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है—अहिंसा। उसे सत्य का ही साक्षात् पहलू कहिए। जैसे रात को चाँद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है वह अहिंसा है। वह भाग अगर उजला है तो किसी अपर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशोद्गम (सत्य) स्वयं हमारे लिए कुछ अज्ञात और प्रार्थनीय ही है। और जो उसका पहलू आचरणीय रूप में सम्मुख है वही अहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक। लेकिन यहाँ इस संसार में तो मुझ जैसे कोटि-कोटि आदमी दीखते हैं। उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं। ईश्वर में आस्था रखूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? उन अनेकों में भी कोई मुझे अपना मानता है, कोई पराया गिनता है। कोई सगा है, दूसरा द्वेषी है। और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए ज़हर है, कुछ अन्य औषध है। इस विषमता से भरे संसार के प्रति ऐक्य विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है।

आस्तिक अगर ऐसे विकट अवसर पर संशय से घिरकर आस्तिकता को छोड़ नही बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, अहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसीका, नाश नहीं चाह सकता, किसी की बुराई नहीं चाह सकता, किसी को झूठा नहीं कह सकता, घमंड नहीं कर सकता, आदि कर्तव्य एकाएक ही आस्तिक के ऊपर आ जाते हैं।

लेकिन कर्तव्य कुछ आजाय—तर्क सुझायगा कि—सचाई भी तो हम देखें। आँख सब ओर से तो मूँदी नहीं जा सकती। वह आंख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुतों को असुविधा नहीं होती, बहुतों का नाश नहीं होता? अहार बिना क्या मैं जी सकता हूँ? लेकिन अहार क्या हिंसा नहीं है? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना सम्भव नहीं बनता दीखता। जीवन युद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है और विग्रह है।

तब कहे, कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर आकर ईश-निष्ठा टूटकर ही रहेगी। ऐसे समय पागल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी आँखें खुली हैं और कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यक्ष जीवन में से, और इतिहास द्वारा परोक्ष जीवन में से, साफ़-साफ़ सार तत्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें बल की ही विजय है, और बल जिस पद्धति से विजयी होता है उसका नाम है हिंसा। जो मजबूत है वह निर्बल को दबाता आया है, और इसी तरह विकास घटित होता आया है।

मेरे ख्याल में श्रद्धा के अभाव में तर्क की और बुद्धि की सचाई और चुनौती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। आज जिस उलझन को सुलझाना है और जिस उलझन को सुलझाने का सवाल हर देश में, हर काल में, कर्मक्षेत्र में प्रवेश करनेवाले योद्धा के सामने आयगा, वह यही है कि इस कुरु क्षेत्र में मैं क्या करूँ? किसको छोड़ूँ, किसको लूँ? बुराई को कैसे पछाड़ूं? बुराई क्या है? क्या बुराई अमुक अथवा अमुक नामधारी है? या बुराई वह है जो कि दुःख देती है?

इतिहास के आदि से दो नीति और दो पद्धति चलती चली आई हैं। एक वह जो अपने में नहीं, बुराई को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उनके नाश के लिए चल उठती है। दूसरी, जो स्वयं अपने को भी देखती

है और बुरे को नहीं उसमें विकार के कारण आगई हुई बुराई को दूर करना चाहती और विकार का निदान अपने में वह खोजती है। आस्तिक की पद्धति यह दूसरी ही हो सकती है। आस्तिकता के बिना बहुत मुश्किल है कि पहली नीति को मानने और उसके वश में हो जाने से व्यक्ति बच सके।

गाँधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संघर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संघर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त असंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट बढ़ाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोड़ना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाये, पर वह अपने पीछे शत्रुता के बीज छोड़ जाता है और इस तरह शत्रुओं की संख्या गुणानुगुणित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रुता से होगा। बुराई से लड़ना कब रुक सकता है? जो बुराई को मान बैठता है, वह भलाई का कैसा सेवक है? इससे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक क्षण भी उस युद्ध में आँख झपकने का अवकाश नहीं। किन्तु पल-भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन और मौत का, प्रकाश-अन्धकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह खाँड़े की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुई —

(१) ध्येय—सत्य।

क्योंकि ध्येय कुछ और नहीं हो सकता। जिसमें द्विधा है, दुई है, जिससे कोई अलग भी है, वह ध्येय कैसा? जो एक है, वह सम्पूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, आदि-अन्त है, अनादि-अनन्त है। प्रगाढ़ आस्था से ग्रहण करो तो वही ईश्वर।

(२) धर्म—अहिंसा।

क्योंकि उस ध्येय को मानने से जो व्यवहार-धर्म प्राप्त हो आता है उसीका अंगीकरण है : अहिंसा।

अहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक (possitive) तत्त्व को स्वीकार की परिभाषा में कहना नहीं हो पाता, नकार की ही परिभाषा हाथ रह जाती है। उसको कोई निश्चित संज्ञा ठीक खोल नहीं पाती। हिंसा का अभाव अहिंसा नहीं है, वह तो उसका रूप-भर है। उस अहिंसा का प्राण प्रेम है। प्रेम से और जीवन्त (पाज़िटिव) शक्ति क्या है ? फिर भी आत्मगत और व्यक्तिगत प्रेम में अन्तर बाँधना कठिन हो जाता, और 'प्रेम' शब्द में निषेध की शक्ति भी कम रहती ; इसीसे प्रेम न कह कर कहा गया 'अहिंसा'। वह अहिंसा निष्क्रिय (passive) पदार्थ नहीं है, वह तेजस्वी और सक्रिय तत्त्व है।

अहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा ग्रहण की जानेवाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त अहिंसा में भीग रहना चाहिए। और सत्य है ही ध्येय। कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों—सत्य-अहिंसा—के सहारे साधारण भाषा में लोक-कर्म के सम्बन्ध में सीधा कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, अहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया, लेकिन अब करना क्या होगा ? तो उसके लिए है :—

(३) कर्म—सत्याग्रह।

'सत्याग्रह' मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की ओर बढ़ते रहना है। इसीमें गति (उन्नति, प्रगति, विकास आदि) की आवश्यकता समा जाती है। इसीमें कर्तव्य (Doing) आ जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य को अखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आग्रह हो ? जहाँ आग्रह है वहाँ, इसलिए, असत्य है।

यह शंका अत्यन्त संगत है। और इसीका निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—सविनय। जहाँ विनय-भाव नहीं है, वहाँ सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। वहाँ उस 'घोष' का व्यवहार है तो जान अथवा अजान में छल है। व्यक्ति सदा ही अपूर्ण है। जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका कुछ भेद भी है। फिर भी जो समष्टिगत सत्य की झाँकी व्यक्ति के अन्तःकरण में प्राप्त होकर जाग उठी है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसीके प्रति समर्पित हो जानी चाहिए। उस डटी रहनेवाली निष्ठा को कहा गया आग्रह, किन्तु उस आग्रह में सत्याग्रही अविनयी नहीं हो सकता, और उस आग्रह का कष्ट और दण्ड अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से अतिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुंचने देता। यानी सत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तल में भी वहाँ अविनय-भाव नहीं हो सकता। कानून (सरकारी और लौकिक) तक की अवज्ञा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जबकि सत्य की निष्ठा के कारण हो और वह अवज्ञा सर्वथा विनम्र और भद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मूल सिद्धान्त हुए। यों तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, अहिंसा सामाजिक और सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कर्म की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे में कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों को लेकर पैदा होता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सीमित प्रतीत होता हो, लेकिन वहीं व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसकी पूर्ति में से मानों वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। 'स्वधर्मो निधनं श्रेयः, परधर्मो भयावहः'।

इस भाँति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं और तरह-तरह के स्वर्ग-चित्र

(Utopias) तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। सुखोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है और परिणाम में स्वार्थ-जन्य स्पर्धा और आपाधापी भी कम होती है। सब को दबा देने और सबसे आगे बढ़े हुए दीखने की ओर मन उतना नहीं लपकता और परिणामतः व्यक्ति विक्षोभ और विषमता पैदा करने में नहीं लग जाता। महत्वाकांक्षा (Ambition) की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानों अपना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पड़ता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर केवल भाव से अन्धी गति में भाग रहा हो।

मुझे तो मालूम होता है कि हमारी सामाजिक और राजनैतिक उलझनों की जड़ में मुख्यता से यही आपा-धापी और बढ़ाबढ़ी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह आन्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि की बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective Conditions) के साथ गाँधी-नीति क्या करना चाहती है? उसमें क्या सुधार हो, और कैसे हो? समाज का संगठन क्या हो? आवश्यकता और आविष्कार का, उद्यम-आराम का, विज्ञान-कला का, शासन का और न्याय का परस्पर सम्पर्क और विभाजन क्या हो? श्रम और पूँजी कैसे निबटें? आदि-आदि।

तो प्रश्नकर्ता को पहले तो यह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न आज अभी हल हो जायेंगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक बवंडर से अपने को घेर रहने और क्षुब्ध होने की आवश्यकता नहीं है। फिर उनका हल काग़ज़ पर और बुद्धि में ही हो जानेवाला नहीं है। सब सवालों का हल बतानेवाली मोटी किताब

मुझे उन सवालों से छुटकारा नहीं दे देगी। इसलिए विचार-धाराओं (Ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न है उनमें तो अपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः-शनैः निबटते जायेंगे। नहीं तो किनारे पर बैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी और अन्त में ज्ञात होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फ़रेब (Illusion) था, और ज़रा बोझ पड़ते ही वह तो उड़ गया और हमें कोरा-का-कोरा वहीं-का-वहीं छोड़ गया। अर्थात् उन प्रश्नों पर बहसा-बहसी और लिखा-पढ़ी की अपने-आप में जरूरत नहीं है। उनमें जुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को बौद्धिक कहकर केवल बुद्धिक्रीड़ा से उसे खोलने की आशा न करो। ऐसे वह उलझेगी ही। समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-बल के साथ उससे जूझो। इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है, वह है स्वदेशी।

स्वदेशी द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शर्त के तौर पर माँगी जाती है। उस शर्त का अर्थ है कि हमारे काम से लोगों को लाभ पहुंचे। आदान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे, और पड़ोसी-पन पनपे। Neighbourliness (पास-पड़ोसपन) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहाँ मैं रहता हूँ। इस भाँति सब से पहले मेरा घर और मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र और विश्व तक पहुँच सकता है। भूगोल के नक़शे का देश अन्तिम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर-प्रान्त को इन्कार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी ओर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशी में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ोसी से ढूढूँ

नहीं और अधिकाधिक हममें हितैक्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी आत्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी अथवा अन्य वस्तुवादी समाजनीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसीकी इकाई को भूल जाती है। उनमें योजनाओं की विशदता रहती है, पर मूल में Neighbourliness के तत्त्व पर जोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची है जो पड़ौसी-प्रेम से आरम्भ होती है। इस तत्त्व को ध्यान में रक्खें तो बड़े पैमाने पर चलनेवाला यांत्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल-कारखाने हुए वहाँ जन-पद दो भागों में बँटने लगता है। वे दोनों एक-दूसरे को ग़रज की भावना से पकड़ते और अविश्वास से देखते हैं। वे परस्पर सह्य बने रहने के लिए एक-दूसरे की आँख बचाते और मिथ्याचार करते हैं। पूँजी-मालिक मजूरों की झोंपड़ियों को यथाशक्ति अपने से दूर रखता है और अपनी कोठी पर चौकीदारों का दल बैठाता है कि खुद दुष्प्राप्य और सुरक्षित बना रहे। उधर मजदूरों की आँखों में मालिक और मालिक का बँगला काँटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत और मलिन मानवीय सम्बन्ध तभी असम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनर्रचना पड़ोसपन (Neighbourliness) के सिद्धान्त के आधार पर होगी। वह आधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक (Materialistic) नीतियाँ अंततः यहीं पहुँचती हैं कि व्यक्ति स्वार्थ के आधार पर चलता और चल सकता है।

स्वदेशी सिद्धान्त में से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव-सम्बन्धों के अस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, और खपत के लिए मध्यम वर्ग के बढ़ने और फूलने की गुञ्जाइश कम रहेगी। मानव-श्रम का मूल्य बढ़ेगा और अनुत्पादक

चातुर्य का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी और ग्राहक सब आसपास में मिले-जुले रहने के कारण समाज में वैषम्य विषम न होगा और शोषणवृत्ति को गर्व-स्फीत होने का अवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भाँति चरखा, ग्रामोद्योग, मादक-द्रव्य-निषेध, और हरिजन (दलित) सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए अन्तः-शुद्धि और सामाजिक उपयोगिता दोनों अन्तों को मिलाने वाली गांधीनीति के स्वदेशी सिद्धान्त में से स्वयमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-संचय और ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति और अवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct Action) द्वारा राजनैतिक विधान में परिवर्तन लाने और उसे लोक-कल्याण की ओर मोड़ने की बात विशेष दुस्साध्य नहीं रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्भ राष्ट्र-भावना से नहीं होता। इसलिए उसका अन्त भी राष्ट्र-भावना पर नहीं है। राष्ट्र-भावना मध्य में आजाय तो भले ही आजाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के अर्थ में लेने पर गड़बड़ उपस्थित हो सकती है। इससे 'देशी पूँजी-वाद' को बढ़ावा मिलता है। और उस राह तो एक दिन State capitalism में उतर आना होगा। उसके अर्थ होंगे, एकतंत्रीय शासन। यांत्रिक-उद्योगाश्रित समाजवाद का यही परिणाम आनेवाला है। यानी ऐसा समाजवाद एकतंत्रवाद (फ़ासिज़्म आदि) को बुलाकर ही रहेगा। गांधी नीति का स्वदेशी सिद्धान्त अतः हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है।

संक्षेप में गांधीनीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्म सर्वात्म का ही खंड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामंजस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन व्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जाये उतना अपनी और संसार की बंधन-मुक्ति में योगदान करता

है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। आवश्यक है, पर वह पहलू भर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर अपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी और शांति-लक्षी होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिचित ही है। फिर भी श्रद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी श्रद्धा का धीमा-धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफी है। वह चले, फिर अगला सूझा ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक कदम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अंग है। साधन साध्य से भिन्न कहाँ हो सकता है। इससे जिसे लम्बा चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, बस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कर्म धर्म से बाहर नहीं है। सब में धर्म की श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को ग्रहण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा, अन्यथा नहीं। सब के मन में एक ज्योति है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लौ में जीवन को लगाये चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा, ठीक होगा। राह का अन्त न नाप, राही, तुझे तो चलना है।

*

: ५ :

गांधी और विश्व-व्यवस्था

गांधी जेल में हैं, और एक वर्ष के ऊपर से उनकी कोई सीधी आवाज़ हमें नहीं मिली। कल एक बन्धु वर्तमान महापुरुषों को गिना रहे थे। गांधी को उनमें प्रथम रखने में उन्हें कठिनाई थी। जगद्-व्यवस्था में उनका कोई प्रकट दान नहीं दीखता। शेष नाम, जो उनकी गणना में आये, आज के युद्ध से सीधा सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों के थे।

उन भाई की कठिनाई आज के आलोचक की कठिनाई है। शासन के और युद्ध के मैदान से गांधी अलग हैं और बन्द हैं। विश्व का भाग्य तय हो रहा है, देशों की सीमाएँ बन-मिट रही हैं और भावी व्यवस्था की दागबेल डाली जा रही है। यह सब गांधी को बिना लेखे में लिये हो रहा है। इससे क्यों न कहा जाय कि कर्म के धरातल पर गांधी अनिवार्य नहीं है?

प्रकटतः यह सच है। युद्ध में दो ही पक्ष हैं। तीसरा कोई पक्ष नहीं है और यह युद्ध समूची मानवता का है। विश्व का भाग्य पलड़े में है और सभ्यता के अगले क़दम का निर्णय होना है। ऐसे समय जो किनारे पर है और इतिहास के मध्य में नहीं है, उसे विश्व-विचार की दृष्टि से शून्यवत् ही समझना चाहिए। शत्रु भी विचारणीय है, मित्र भी विचारणीय है; पर जो यह है न वह, ऐसा व्यक्ति हिसाब में आने-योग्य नहीं ठहरता।

किन्तु युद्ध में असल में दो पक्ष नहीं हैं। युद्ध त्रिभुजात्मक है। तीसरी

भुजा मुखर नहीं है; किन्तु वही शेष दो की आधारमूल है। शायद वह भुजा नहीं है, भूमि है। उस भूमि पर रह कर ही दो लड़ते हैं।

कहा जाता है कि लड़ाई में जर्मनी, जापान और इटली एक ओर हैं; ब्रिटेन, अमरीका, रूस, चीन आदि दूसरी ओर। भाव होता है कि वे देश लड़ रहे हैं। पर युद्ध-घोषणा उन देशों की सरकारों ने की है। देश के नाम पर वहाँ की सरकार को ही बोलने का हक़ है, यह ठीक है। लेकिन यह भी विदित हो कि एक देश की सरकार और उस देश की जनता, यानी शासक और शासित, राजा और प्रजा, पूरी तरह एक नहीं होते हैं। अनुशासन और कानून में वे एक हों ; हृदय में और यथार्थ में दोनों अभिन्न नहीं होते। इसी से सरकारें बदला करती हैं, विद्रोही शासक हो जाते हैं और शासक दण्डित हुआ करते हैं।

यह पक्ष अधिकांश अव्यक्त रहता है। यह असंगठित और गर्भित रहता है। उसके ऊपर से दलवर्ग ही मुखर हुआ करते हैं। जब यह मूल पक्ष किसी गहरी व्यथा से उभार पाता है तब विस्फोट फूटता है और साम्राज्य ध्वस्त हो जाते हैं।

ऊपर शासकों की लड़ाई है। उनको बल निस्सन्देह नीचे जन-सामान्य में से पहुँचता है। प्रजा ही लड़ती और लहू बहाती है। परिणाम में एक शासक गिरता, दूसरा उठता है। रक्त बहाकर शासकों में परिवर्तन लाया जाता है। परिवर्तन से शान्ति आती है; फिर उस शान्ति के ऊपर होकर शासन चलता है, शासकों में फिर स्पर्द्धा होती और फिर युद्ध होता है ! और फिर प्रजा कष्ट सहने को आगे आती है !!

सरकारें सब जनता के बल से पुष्ट हैं। क्या आज का लोकतन्त्र, या अधिनायकतन्त्र, या क्या फिर पुराना छत्रतन्त्र—सबका अधिष्ठान जनता है। जन वहाँ से आते हैं, धन वहाँ से आता है और अन्न वहीं से आता है। बड़े युद्ध उन्हीं के बल पर और उन्हीं की छाती पर लड़े जाते हैं।

इस भाँति प्रत्येक युद्ध में दीखने में दो भुजाएँ आती हैं। पर उन दोनों को तीसरी का सहारा है। वह तीसरी भुजा जो स्थायी है धरती में बिछ कर रहती है। श्रम उसका धन है, पर वह मूक है और सहना उसका काम है।

गांधी ? इस युद्ध में वह तीसरी भुजा है। उसका जेल में होना प्रमाण है कि वह भुजा सजग है।

इस समय विश्व की राजनीति राष्ट्रीय नहीं रह गई है। गांधी को भी राष्ट्रीय समझना भूल होगी। कांग्रेस राष्ट्रीय हो, गांधी मानवीय है। अन्तर्राष्ट्रीय शब्द फिर कूट राष्ट्रवादी नीतियों के चक्र का द्योतक है। गांधी के साथ वह भी नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय चालों के पार उसका शुद्ध मानवी पक्ष है।

देशों के लोग वह मानते हैं जो उन देशों की सरकारों ने उन्हें मानना बताया है। वे अपने हित को दूसरे के विरोध में देखते हैं; क्योंकि उन्हें ऐसा देखने की शिक्षा दी गई है। उन्हें अपनी रक्षा की चिन्ता है, दूसरे के आक्रमण का भय है, अपने स्वत्वों का लोभ है, विस्तार की आकांक्षा है—क्योंकि यह सब उनमें भरा गया है।

पर क्या उन्हीं देशों में लोग नहीं हैं जो जानते हैं कि श्रम से धन उत्पन्न होता है, और लड़ाई में समय और सब कुछ बर्बाद होता है ? क्या अन्दर ही अन्दर लड़ने वाले तक नहीं जानते कि दुनिया हम सब की है, और परमात्मा एक है, और मिल बाँटकर हमें रहना चाहिए ?

लेकिन वैर चेता दिया गया है और लोगों को अपनी ही भीतर की बात सुनने का अवसर नहीं है। प्रकृत मानव के प्रतिनिधि होकर उसकी अन्तस्थ आशा-आकांक्षाओं को वाणी देने वाले लोग हैं भी तो प्रचार के कोलाहल में वे अनसुन रहते हैं, या फिर उन्हें बलात् चुपकर दिया जाता है।